व्रात्य-दर्शन

समणी मंगलप्रज्ञा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्रात्य दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्रात्य दर्शन

(जैनदर्शन - निबन्धावली)

समणी मंगलप्रज्ञा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

© आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)

चि. दिनेशकुमार के शुभ विवाह के अवसर पर शाह शान्तिलालजी एवं
श्रीमती पिस्तादेवी संकलेचा निवासी असाढ़ा (राजस्थान) एवं
प्रवासी सूरत (गुजरात) के सौजन्य से प्रकाशित

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी / प्रबन्धक : आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)
मूल्य : सत्तर रुपये / प्रथम संस्करण : २००० / मुद्रक : पवन प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

VRATYA DARSHAN by Samani Mangalprajna Rs. 70.00

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशीर्वचन

प्रस्तुत पुस्तक में प्रकीर्ण लेखों का संग्रह है। समय-समय पर विभिन्न विषयों पर लिखे गए लेख विषय की विविधता से जुड़े हुए हैं, यह स्वाभाविक है। समणी मंगलप्रज्ञा ने दर्शन के क्षेत्र में कुछ विशेषताएं अर्जित की हैं, इसलिए प्रस्तुत पुस्तक को दर्शन की पुस्तक कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। दर्शन के साथ क्रिया योग आदि विषय संलग्न हैं। योग का संबंध अध्यात्म से है। अध्यात्म का भी अपना दर्शन है। दर्शन को संकुचित परिभाषा में बांधना उचित नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक दर्शन के विद्यार्थी तथा दर्शन के जिज्ञासु के लिए उपयोगी होगी।

कर्णपुरा (राजस्थान)
३ जनवरी २०००

आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मंगल संदेश

सरस्वती की आराधना एक महान् तपःसाधना है। वह पठन, मनन, लेखन आदि विभिन्न रूपों में की जा सकती है। समणी मंगलप्रज्ञाजी एक प्रतिभा संपन्न समणी हैं। उन्होंने दर्शन के अध्ययन में अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है। उसकी एक निष्पत्ति है प्रस्तुत पुस्तक—व्रात्य-दर्शन। लेखिका की बौद्धिक क्षमता के द्वारा महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थों का निर्माण भविष्य में भी शृंखलाबद्ध रूप में होता रहे। मंगलकामना।

डाबड़ी
२५ दिसंबर १९९९

युवाचार्य महाश्रमण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मंगल भावना

भारत में दो संस्कृतियां पल्लवित हुईं—श्रमण संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति। श्रमण संस्कृति की दो धाराएं हैं—जैन और बौद्ध। जैन संस्कृति व्रात्यों की संस्कृति है। व्रात्य शब्द का मूल है व्रत। व्रत का सम्बन्ध अन्तर्मुखता या अनासक्ति के साथ है। यह जैन संस्कृति का अध्यात्म पक्ष है। उसका दार्शनिक पक्ष भी काफी गंभीर और महत्त्वपूर्ण है।

'व्रात्य दर्शन' समणी मंगलप्रज्ञाजी द्वारा लिखित निबन्धों का संकलन है। जैन विश्व भारती, मान्य विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग में व्याख्याता के पद पर कार्यरत समणी मंगलप्रज्ञाजी ने दर्शन का गहरा अध्ययन किया है। इसीलिए वे नय, निक्षेप, अनेकान्त, कर्म आदि दार्शनिक विषयों को अपनी लेखनी का विषय बना पाई हैं। उनके कुछ लेख तुलनात्मक हैं, कुछ विवेचनात्मक हैं और कुछ शोध प्रधान हैं। प्रस्तुत संकलन आम पाठक के बुद्धिगम्य हो पाए या नहीं, प्रबुद्धवर्ग के लिए काफी उपयोगी हो सकता है।

परम पूज्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की पावन प्रेरणा और मंगल मार्गदर्शन में तेरापंथ धर्मसंघ के साधु-साध्वियां एवं समण-समणियां अध्यात्मयात्रा के साथ साहित्य यात्रा में भी निरन्तर गतिशील हैं। समणी मंगलप्रज्ञाजी अपने विषय के गंभीर बोध और सुन्दर प्रस्तुति की दिशा में कुछ और नई खिड़कियां खोले, यही मंगलभावना है।

जैन विश्व भारती
लाडनूं
११/१२/१९९९

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्ररोचना

अध्यात्म-विकास के लिए व्रतों का स्वीकरण जैन-परम्परा का मान्य सिद्धान्त रहा है। जैन साधना पद्धति के दो मुख्य घटक तत्व हैं—संवर और निर्जरा। संवर की साधना के द्वारा आते हुए कर्मो के प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया जाता है तथा निर्जरा की साधना से पूर्व संचित कर्ममल विनष्ट हो जाता है। साधक संबर एवं निर्जरा के पथ पर आरूढ़ होकर अपने परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जैन साधना पद्धति में निर्जरा से भी अधिक महत्ता संवर की साधना को प्राप्त है। निर्जरा तो प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव के भी होती है किंतु संवर पंचम गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। व्रत स्वीकार किये बिना संवर घटित नहीं हो सकता। सम्यक्-दृष्टि जीव भी यदि त्याग-प्रत्याख्यान नहीं करता है तो उसके संवर नहीं होता। व्रत स्वीकार किये विना वह अध्यात्म के अग्रिम सोपानों का आरोहण नहीं कर सकता। आचार्य हेमचन्द्र ने संसार और मोक्ष के हेतु को प्रस्तुत करते हुए कहा है—

आश्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हतीदृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ॥

उन्होंने संवर को ही मोक्ष का कारण माना है। संवर की साधना व्रतों के स्वीकरण से ही प्रारम्भ होती है। तत्वार्थसूत्र में संवर की साधना के उपायों का उल्लेख करते हुए कहा गया—

'स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः'

गुप्ति, समिति, दशधर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय एवं चारित्र की आराधना संवर के साधन हैं। श्रमण संस्कृति में व्रतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है अतः इसे 'व्रात्य संस्कृति' कहा जा सकता है। जो व्रतों का पालन करता है, वह व्रात्य होता है। आचार्यश्री तुलसी ने 'श्रावक संबोध' में व्रत का सम्बन्ध श्रमण संस्कृति से जोड़ा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'व्रतों की विश्रुत विधा यह श्रमण-संस्कृति से चली,
अविच्छिन्न परम्परा अध्यात्म ढांचे में ढली।
साधना आराधना हित शरच्चन्द्र-समुज्ज्वला,
चली ज्यों चलती रहे, जिनधर्म की अविकल कला ॥'

'व्रात्य' शब्द का प्रयोग वेद में अनेकशः हुआ है। अथर्ववेद की शौनक शाखा की संहिता के १५वें काण्ड का नाम ही 'व्रात्यकाण्ड' है। आचार्य सायण ने व्रात्य को विद्वत्तम, महाधिकार, पुण्यशील और विश्व-सम्मान्य कहा है—

'कञ्चिद् विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्व-सम्मान्यं
कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम्।
(अथर्ववेद १५/१/१ संस्कृत भूमिका)

सामान्यतः व्रात्य उस मनुष्य को कहा जाता है जिसका जन्म तो द्विजकुल में हुआ हो किंतु उसका उपनयनादि संस्कार नहीं हुआ हो, ऐसा मनुष्य वैदिक कृत्यों के लिए अनधिकारी माना जाता है। सायण ने व्रात्य की प्रशंसा में लिखा है—'यदि कोई व्रात्य विद्वान् और तपस्वी है, उससे ब्राह्मण भले ही द्वेष करे परन्तु वह सर्वपूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा।

श्री बलदेव उपाध्याय ने व्रात्य का अर्थ ब्रह्म किया है। 'आचार-विचार से रहित तथा नियम की श्रृंखला में बद्ध न होने वाले व्यक्ति का द्योतक होने के कारण व्रात्य शब्द का लाक्षणिक अर्थ हुआ—ब्रह्म, जो जगत् के नियमों की श्रृंखला में न बद्ध है और न जो कार्यकारण की भावना से ओतप्रोत है।' 'व्रात्यो वा इदम् अग्र आसीत्' पैप्लाद शाखा के इस वाक्य से स्पष्ट है कि जगत् के आदि में व्रात्य ही केवल विद्यमान था। फलतः 'व्रात्य' शब्द से ब्रह्म का ही यहां संकेत है। श्री सम्पूर्णानंदजी ने 'व्रात्य' का अर्थ परमात्मा किया है। सायण जैसे प्राचीन भाष्यकार से लेकर श्री बलदेव उपाध्याय तक कि आधुनिक वैदिक विद्वानों ने व्रात्य को विशिष्ट सम्मानजनक स्थान दिया है। व्रात्य को ब्रह्म अथवा परमात्मस्वरूप माना है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार अथर्ववेद के व्रात्य-काण्ड का सम्बन्ध किसी ब्राह्मणेतर परम्परा से है। व्रात्यकाण्ड में प्रतिपादित सूत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि व्रात्य का सम्बन्ध किसी देहधारी व्यक्ति से है। व्रात्य काण्ड में वर्णित कुछ सूत्रों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

'यदि किसी के घर ऐसा विद्वान् व्रात्य अतिथि आ जाए तो स्वयं उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामने जाकर कहे, व्रात्य! आप कहां रहते हैं? व्रात्य (यह) जल (ग्रहण कीजिए।) व्रात्य (मेरे घर के लोग आपको भोजन आदि से) तृप्त करें। जैसा आपको प्रिय हो, जैसी आपकी इच्छा हो, जैसी आपकी अभिलाषा हो, वैसा ही हो अर्थात् हम वैसा ही करें।'

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीः
व्रात्योदक व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते
प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु
व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति

अथर्ववेद १५/२/११/१, २

'जिसके घर में विद्वान व्रात्य एक रात अतिथि रहे, वह पृथ्वी में जितने पुण्य-लोक हैं उन सबको वश में कर लेता है।'

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति
ये पृथिव्यां पुण्या लोकास्तानेव तेनावरुन्द्धे

अथर्ववेद १५/२/१३/१, २

व्रात्यकाण्ड में प्रतिपादित सूत्रों की विषय वस्तु से भगवान् ऋषभ के जीवनवृत की तुलना होती है। वे दीक्षित होने के बाद एक वर्ष तक तपस्या में स्थिर रहे थे। एक वर्ष तक भोजन न करने पर भी शरीर में पुष्टि और दीप्ति को धारण किये हुए थे। मुनिचर्या को धारण करने वाले भगवान जहां-जहां जाते थे, वहां के लोग प्रसन्न होकर और बड़े संभ्रम के साथ आकर उन्हें प्रणाम करते थे। उनमें से कितने ही लोग कहने लगते थे—हे देव! प्रसन्न होइये और कहिये कि क्या काम है? भगवान ऋषभ अन्त में अपुनरावृत्ति स्थान को प्राप्त हुये, जहां जाने के पश्चात् कोई लौट कर नहीं आता।

इन सब समानताओं के आधार पर यह बहुत सम्भव है कि व्रात्यकाण्ड में भगवान ऋषभ का जीवन रूपक की भाषा में चित्रित है। ऋषभ के प्रति कुछ वैदिक ऋषि श्रद्धावान् थे और वे उन्हें देवाधिदेव के रूप में मान्य करते थे। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह अभिमत निश्चित रूप से मननीय है, जो व्रात्य के सम्बन्ध में एक नयी अवधारणा प्रस्तुत कर रहा है।

संस्कृत-व्याकरण के नियमानुसार व्रात एवं व्रत इन दो शब्दों से व्रात्य शब्द

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की सिद्धि होती है। 'व्रातात् (समूहात्) च्युतः' इस विग्रह में 'दिगादिभ्यो यत्' (पाणिनी अष्टाध्यायी ४/३/५४) से 'यत्' प्रत्यय तथा 'यस्येति च' (पा. अ. ६/४/१४८) से त में स्थित 'अ' का लोप होने से 'व्रात्य' शब्द निष्पन्न होता है। व्रात शब्द से निष्पन्न 'व्रात्य' का अर्थ होता है—समूह से च्युत व्यक्ति। व्रात्य की इस व्युत्पत्ति से इसका अर्थ मुनि हो जाता है। मुनि गृहस्थ जीवन का त्याग कर देता है। एक प्रकार से वह सांसारिक समूह से च्युत हो जाता है अतः गृहत्यागी संत 'व्रात्य' है। जैन परम्परा में मुनि धर्म को उत्कृष्टता प्राप्त है। जैन संस्कृति को श्रमण संस्कृति कहा जाता है। भगवान महावीर के लिए आगमों में स्थान-स्थान पर श्रमण विशेषण प्रयुक्त हुआ है। श्रमण शब्द जैसे मुनि का वाचक है वैसे ही व्रात्य भी मुनि का वाचक हो जाता है अतः जैन दर्शन को व्रात्य दर्शन कहा जा सकता है।

व्रत शब्द से भाव एवं कर्म अर्थ में 'व्रात्य' शब्द निष्पन्न होता है। 'व्रतस्य भावः कर्म वा' इस विग्रह में 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' (पा. अ. ५/१/१२४) से 'ष्यञ्' प्रत्यय, यस्येति च' (पा. अ. ७/२/१/६) से पूर्व अकार की वृद्धि होने से 'व्रात्य' शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है—व्रत का भाव या व्रत का कर्म। जिसका तात्पर्य है—जो व्रतों की अनुपालना करता है वह व्रात्य है। जैन संस्कृति का व्रत के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध है। जैन संस्कृति अर्थात् व्रात्य संस्कृति। जैन दर्शन अर्थात् व्रात्यदर्शन। व्रात एवं व्रत दोनों ही शब्दों से निष्पन्न व्रात्य शब्द जैन विचारधारा का संवाहक है।

प्रस्तुत 'व्रात्य दर्शन' नामक पुस्तक में जैनदर्शन से सम्बन्धित कुछ लेखों का संग्रह किया गया है। इन निबन्धों का लेखन राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों आदि विभिन्न प्रसंगों पर किया गया था। 'आर्हती दृष्टि' नामक पुस्तक में निबद्ध लेखों की तरह ही इस 'व्रात्य दर्शन' पुस्तक में भी जैनदर्शन से सम्बन्धित विविध विषयों के कतिपय लेखों का समाकलन हुआ है। विषय से सम्बन्धित होने के कारण अंग्रेजी भाषा में लिखित चार लेखों को भी प्रस्तुत पुस्तक में संयोजित किया गया है। स्वयं की ज्ञानाराधना के लिए निबद्ध प्रस्तुत निबन्ध, किसी की भी ज्ञानाराधना के हेतु बने, इसी में मेरे श्रम की सार्थकता है।

परम श्रद्धास्पद पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी की दिव्य सन्निधि के प्रति मैं श्रद्धाप्रणत हूं। उस अलौकिक व्यक्तित्व से आलोक रश्मियां प्राप्त होती रहती हैं।

परम श्रद्धास्पद युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ की वात्सल्यमयी अनुशासना एवं प्रेरक मार्गदर्शन मेरे जीवन में ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना के अलभ्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवसर प्रदान करता रहा है और करता रहे, यही आशीर्वाद चाहती हूं।

श्रद्धेय युवाचार्यश्री महाश्रमणजी की प्रेरक मौन-मुखर प्रेरणा मुझे सदैव अध्यात्म पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रोत्साहित करती रही है।

श्रद्धेया साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी का समय-समय पर प्राप्त वात्सल्ययुक्त प्रेरणा पाथेय मेरे लेखन को प्रोत्साहित करने में श्रेयोभागी बना है। मैं इस अध्यात्म चतुष्टयी के प्रति अपनी अनन्त-अनन्त श्रद्धा के सुमन समर्पित कर रही हूं।

साध्वी अणिमाश्रीजी द्वारा प्राप्त प्रेरणा मुझे सदैव विकास के मार्ग पर अग्रसर करती रही है। इन लेखों की प्रतिलिपि करने में समणी सुधाप्रज्ञाजी का स्मरणीय सहयोग प्राप्त हुआ।

समणी नियोजिकाजी एवं समणीवृन्द द्वारा प्राप्त सहयोग के लिए हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं।

भारतीय विद्या के अग्रणी, विश्रुत विद्वान्, प्रो. दयानन्द भार्गव का प्रस्तुत पुस्तक में संकलित लेखों के निरीक्षण, परीक्षण एवं संशोधन में अमूल्य योगदान रहा है, मैं उनकी हृदय से आभारी हूं।

प्रस्तुत कार्य के संपादन में जिनका भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहकार प्राप्त हुआ है उन सभी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं। मैं निरन्तर शील और श्रुत के निर्झर में अभिस्नात होती रहूं, इसी मंगलकामना के साथ

जैन विश्व भारती — **समणी मंगलप्रज्ञा**

लाडनूं

१३/१२/१९९९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रम

१.	केवलज्ञान : कतिपय विमर्शनीय बिन्दु	१-१५
२.	बहुश्रुतपूजा : एक परिशीलन	१६-२१
३.	अनेकान्त, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी	२२-३८
४.	जैन दर्शन में नय की अवधारणा	३९-४६
५.	निर्विकल्प एवं सविकल्प बोध	४७-५१
६.	अर्थनीति और अनेकान्त	५२-५९
७.	निक्षेप का उद्भव, विकास और स्वरूप	६०-७४
८.	विभिन्न दर्शनों में कर्म : एक तुलनात्मक विमर्श	७५-८५
९.	आचार मीमांसा और कर्म	८६-९२
१०.	मनोविज्ञान और कर्म	९३-९८
११.	शरीरविज्ञान और कर्म	९९-१०५
१२.	जैन, बौद्ध, योग एवं वेदान्त के कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक विमर्श	१०६-११७
१३.	जैन, बौद्ध एवं वेदान्त दर्शन के अनुसार सत् की अवधारणा	११८-१३२
१४.	तत्त्व संरक्षण का साधन : वाद	१३३-१३५
१५.	अनुमान में प्रयुक्त उदाहरण की अयथार्थता	१३६-१३८
१६.	शास्त्रार्थ में जय-पराजय की व्यवस्था के नियम	१३९-१४२
१७.	जात्युत्तर एवं उसका समाधान	१४३-१५९
१८.	कारकसाकल्य का प्रामाण्य विमर्श	१६०-१६२
१९.	पातञ्जलयोगदर्शन में क्रियायोग की अवधारणा	१६३-१७४
२०.	मंत्र विचारणा	१७५-१७९
२१.	जैन आगमों की व्याख्या को आचार्य महाप्रज्ञ का योगदान	१८०-१८८
२२.	जैन परम्परा में आर्य की अवधारणा	१८९-१९९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३. जैन परम्परा में मान्य पांच शरीर : एक विश्लेषण २००-२१७
२४. Embodiment of peace and Love २१८-२२१
२५. Ecological Survival : Global Survival २२२-२२६
२६. A Princely way to world peace २२७-२३२
२७. Contribution of Acarya Umasvati to
The Concept of Existence. २३३-२४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. केवलज्ञान : कतिपय विमर्शनीय बिन्दु

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञान का अधिकरण नहीं है किंतु वह स्वयं ज्ञान-स्वरूप है—'जे आया से विण्णाया'[1] आत्मा स्वभाव से ही ज्ञान स्वरूप है। सर्वज्ञता आत्मा का स्वभाव है।[2] इसीलिए कहा जाता है कि चेतन आत्मा का जो निरावरण स्वरूप है, वही केवलज्ञान है।[3] आत्मा का यह ज्ञान-स्वभाव संसारी अवस्था में कर्म के आवरण से आवृत रहता है फलस्वरूप चेतना-शक्ति को पूर्ण एवं स्वतंत्र रूप में कार्य करने में बाधा उपस्थित होती रहती है। आवरण की सघनता एवं विरलता के कारण बद्ध-आत्मा में ज्ञान का तारतम्य बना रहता है। यह स्पष्ट है कि आवरण कितना ही सघन क्यों न हो किंतु वह आत्मा की ज्ञान शक्ति को सर्वथा नष्ट नहीं कर सकता। मेघ-समूह सूर्य को कितना ही आच्छादित क्यों न करे, किंतु दिन-रात का विभेद तो बना ही रहता है। वैसे ही अक्षर का अनन्तवां भाग सब जीवों में नित्य उद्घाटित रहता है। यदि वह आवृत हो जाए तो जीव अजीवत्व को प्राप्त हो जाता है।[4] जैन परम्परा में सर्वज्ञता की अवधारणा प्रारम्भ से ही रही है। धर्म-दर्शन का आधार आप्त-पुरुषों की वाणी है। ईश्वर के दूत पैगम्बर की वाणी होने से कुरान को प्रामाणिक माना जाता है। बाइबिल ईश्वर के पुत्र की वाणी हो से प्रामाणिक है किंतु जैन दर्शन में ईश्वर, ईश्वर दूत अथवा ईश्वर पुत्र के अस्तित्व की अवधारणा नहीं है। जैन के समक्ष यह प्रश्न तो उपस्थित था ही कि वह अपने धर्म ग्रंथों का प्रामाण्य किस आधार पर मानता है। जैन ने इस प्रश्न का समाधान सर्वज्ञता के आधार पर किया। राग-द्वेष से मुक्त तथा परिपूर्ण ज्ञान से युक्त आप्त के वचन प्रमाण है।

जैन धर्म के सर्वाधिक प्राचीन माने जाने वाले आचारांग सूत्र में भी सर्वज्ञता की अवधारणा का स्पष्ट उल्लेख है। 'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।'[5] 'सव्वं जाणइ' सर्वज्ञता का द्योतक है। समवायांग सूत्र में महावीर के लिए सर्वज्ञ शब्द

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रयोग हुआ है।[६] इसी प्रकार उत्तराध्ययन, भगवती, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, कषाय-पाहुड़ आदि ग्रंथों से लेकर अब तक के साहित्य में सर्वज्ञता का विमर्श होता रहा है।

सर्वज्ञता की तार्किकता

आगम युग में सर्वज्ञता का वर्णन केवलज्ञान के रूप में होता रहा। केवलज्ञान की सिद्धि में वहां तर्क का सहारा नहीं लिया गया और यह उचित भी था क्योंकि स्वभाव कभी तर्क का विषय नहीं बन सकता। स्वभावोऽतर्कगोचरः। आगमकार को इस बात का अनुभव था कि आत्मा के उस केवल ज्ञानमय विशुद्ध स्वरूप को शब्द, तर्क एवं बुद्धि का विषय नहीं बनाया जा सकता अतः आचारांग स्पष्ट उद्घोषणा करता है—'सव्वे सरा णियट्टंति, तक्का जत्थ ण विज्जइ, मई तत्थ ण गाहिया।'[७]

दार्शनिक युग में सर्वज्ञता को भी तर्क के क्षेत्र में लाया गया। उसके पक्ष-विपक्ष में अनेक तर्क उपस्थित किये गये। यहां उस दार्शनिक विमर्श का आलोड़न सम्भव नहीं है, किंतु एक तर्क जो जैन-परम्परा में सर्वज्ञता के सम्बन्ध में प्रचलित रहा है उसका विमर्श यहां किया जा रहा है।

जैन विचार-धारा के अनुसार एक वस्तु संसार की अन्य समस्त वस्तुओं से किसी-न-किसी रूप में जुड़ी हुई है। अन्य वस्तुओं से जो वस्तु का सम्बन्ध है, वह उस वस्तु के पर्याय हैं। एक वस्तु को पूर्णतया जानने का अर्थ—इन सारे सम्बन्धों को जानना। इसका तात्पर्य यह है कि जो एक वस्तु को समग्रता से जानता है, वह सम्पूर्ण वस्तुओं को भी समग्रता से जानता है। यदि ये सारे सम्बन्ध वास्तविक है तथा इन सबको जाना जा सकता है तो सर्वज्ञता की तार्किक सिद्धि हो जाती है। 'आचारांग' में कहा गया—

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ॥[८]

आचारांग चूर्णिकार ने इसी तथ्य को विश्लेषित करते हुए कहा कि एक परमाणु का ज्ञान भी समस्त वस्तुओं के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है।[९] द्रव्य की त्रैकालिक पर्यायों को जानने वाले व्यक्ति का ज्ञान इतना विकसित होता है कि उसमें सब द्रव्यों को जानने की क्षमता होती है। जिसमें सब द्रव्यों को जानने की क्षमता होती है, वही वास्तव में एक द्रव्य को जान सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवलज्ञान की परिभाषा

जो ज्ञान सर्वद्रव्य, सर्वक्षेत्र, सर्वकाल और सर्वभाव को जानता देखता है, वह केवलज्ञान है।[10] जो सब द्रव्यों, उनके परिणामों को जानता है, अनंत, शाश्वत, अप्रतिपाति और एक प्रकार का है, वह केवलज्ञान है।[11] आचार्य कुन्द-कुन्द ने निश्चय एवं व्यवहार नय के आधार पर केवलज्ञान को परिभाषित किया है। उनके अनुसार केवली भगवान व्यवहार नय से सब कुछ जानते हैं तथा निश्चय नय से वे मात्र अपनी आत्मा को जानते हैं।[12] केवलज्ञान का सर्वज्ञायकत्व स्वभाव सभी जैन चिंतको को मान्य रहा है। शब्दान्तर से वे इसी भाव को अपने-अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत करते हैं। तत्त्वार्थभाष्य में केवलज्ञान के स्वरूप का विस्तृत विवेचन हुआ है। केवलज्ञान सब भावों का ग्राहक, सम्पूर्ण लोक और आलोक को जानने वाला है। इससे अतिशायी अन्य कोई ज्ञान नहीं है। ऐसा कोई ज्ञेय नहीं है जो केवलज्ञान का विषय न हो।[13]

केवलज्ञान के भेद

नंदी सूत्र ३३/१ में केवलज्ञान को एक प्रकार का कहा है। उसके भेद नहीं होते किंतु उसी नंदी सूत्र के सूत्र २६ से ४२ तक के सूत्रों में भवस्थ केवलज्ञान एवं सिद्धकेवलज्ञान ये दो मुख्य भेद करके उनके भेद, प्रभेदों का उल्लेख किया है। इन दोनों वक्तव्यों पर चिंतन करने से ज्ञात होता है कि इनमें विरोध नहीं है। केवलज्ञान एक प्रकार का होता है इसका तात्पर्य है कि वह सब जीवों के एक जैसा होता है उसके स्वरूप में कोई भेद नहीं है तथा वह अनेक प्रकार का है यह वक्तव्य केवलज्ञान के धारक की अपेक्षा से है। यदि केवलज्ञान संसार में स्थित पुरुष के है तो वह भवस्थ केवलज्ञान कहलाता है तथा मुक्त जीव के होता है तब सिद्ध केवलज्ञान कहलाता है, ऐसे ही अन्य भेद भी हो जाते हैं।

नंदी में प्राप्त भवस्थ केवलज्ञान एवं सिद्ध केवलज्ञान ये केवलज्ञान के दो भेद सापेक्ष है।[14] मीमांसक दर्शन का अभिमत है कि मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता और वैशेषिक मत का अभ्युपगम है कि मुक्त जीव में ज्ञान नहीं होता। ये दोनों अभिमत जैन दर्शन को स्वीकार्य नहीं है। भवस्थ केवलज्ञान इस स्वीकृति का सूचक है कि मनुष्य सर्वज्ञ हो सकता है। सिद्ध केवलज्ञान इस स्वीकृति का सूचक है कि मुक्त आत्मा में केवलज्ञान विद्यमान रहता है। शरीर की प्रवृत्ति और केवलज्ञान में कोई विरोध नहीं है, इस तथ्य की सूचना सयोगी भवस्थ केवलज्ञान से प्राप्त होती है।[15]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राग-द्वेष एवं मोह का नाश हुए बिना केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, यह सर्वविदित तथ्य है। कुछ दार्शनिक इन राग आदि को कर्मजन्य न मानकर शरीरगत वैषम्य एवं बाह्य परिस्थिति से उद्भूत मानते हैं, अतः उनका अभिमत है कि सशरीर अवस्था में राग आदि नष्ट नहीं हो सकते तथा उनके नष्ट हुये बिना सर्वज्ञता प्राप्त नहीं हो सकती। आचार्य यशोविजयजी ने ज्ञानबिन्दु में ऐसे तीन मतों का उल्लेख कर उनका निरसन किया है।

बृहस्पति दर्शन के अनुयायी राग आदि को कर्म निमित्तक नहीं मानते हैं, उनका मन्तव्य है कि राग का हेतु कफ, द्वेष का हेतु पित्त एवं मोह का हेतु वाता है। वे शरीर में सदैव विद्यमान रहते है अतः वीतरागतापूर्वक होने वाली सर्वज्ञता सशरीर अवस्था में संभव ही नहीं है। एक दूसरा मत राग को शुक्रोपचयहेतुक मानता है। तीसरे मत के अनुसार शरीर में पृथ्वी एवं जल तत्त्व की वृद्धि से राग पैदा होता है। तेज और वायु तत्त्व की वृद्धि से द्वेष पैदा होता है तथा जल और वायु की वृद्धि से मोह पैदा होते हैं। वे कर्मकृत नहीं है। उपाध्यायजी ने इन तीनों मतो का निरसन किया है तथा राग-द्वेष को कर्मकृत ही माना है। नंदी में आगत केवलज्ञान का सयोगी केवली भेद इसी अवधारणा को पुष्ट करता है कि शरीर अवस्था में कर्मकृत राग, द्वेष आदि नष्ट हो जाते हैं क्योंकि वे कफ आदि दोष जन्य नहीं है। राग एवं द्वेष कर्म के कारण है। जब कर्मों का नाश हो जाता है तब वे भी समाप्त हो जाते हैं इनके समाप्त होने से जीव, वीतराग एवं सर्वज्ञ बन जाता है।

मनुष्य की सर्वज्ञता

सर्वज्ञता दर्शन जगत् का बहुचर्चित एवं विमर्शनीय बिन्दु रहा है। मनुष्य की सर्वज्ञता की अवधारणा पश्चिम के दर्शन में नहीं है वहां मात्र ईश्वर को सर्वज्ञ (Omni-science) कहा जाता है। भारतीय दर्शन में सामान्यरूप से यह सिद्धान्त यौगिक सिद्धि अथवा मोक्ष से जुड़ा हुआ है। योग के द्वारा सर्वज्ञता प्राप्त होती है। दो प्रकार के योगी होते हैं—१. युक्त योगी, २. युञ्जान योगी। युक्त योगी को निरन्तर एवं एक साथ सब वस्तुओं का ज्ञान होता रहता है जबकि युञ्जान योगी को सब वस्तुओं का ज्ञान करने के लिए एकाग्रता का सहारा लेना पड़ता है, बिना उपयोग लगाये वह वस्तुओं का ज्ञान नहीं कर सकता। योगदर्शन में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उल्लेख प्राप्त है, जो एक साथ सारे विषयों को जानती है, जैन दर्शन में इस अवस्था को सर्वज्ञता/केवलज्ञान कहा जाता है। धर्ममेघ समाधि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति का कारण बनती है। जैन के अनुसार शुक्लध्यान केवलज्ञान का कारण बनता है।

अर्हत्, बुद्ध, जीवनमुक्त को भारतीय दर्शन में सर्वज्ञ अर्थात् पूर्णज्ञानी माना गया है। मुक्तावस्था आत्मा की सर्वोत्कृष्ट पूर्णता है। उस अवस्था में आत्मा में किसी भी वस्तु की न्यूनता नहीं रहती, ज्ञान भी परिपूर्ण हो जाता है। अतः उस अवस्था में सर्वज्ञता की भारतीय दर्शन में स्वाभाविक स्वीकृति है। सर्वज्ञता एवं मुक्ति मूल्यपरक सिद्धान्त है। भारतीय दर्शन मूल्य आधारित दर्शन है। सर्वज्ञता एवं मुक्ति मनुष्य का उद्देश्य है। साधना के पथ पर चलकर मनुष्य अपने सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है।

केवलज्ञान के उत्पादक कारण

मीमांसा दर्शन को छोड़कर प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने सर्वज्ञता स्वीकार की है। अपनी परम्परा में मान्य सम्पूर्ण तत्त्वों का साक्षात्कार करने वाले को ही विभिन्न परम्परायें सर्वज्ञ मानती है। इन दार्शनिक परम्पराओं में सर्वज्ञ के उत्पादक कारणों का वैविध्य है। केवलज्ञान के उत्पादक कारण अनेक हैं, जैसे—भावना, अदृष्ट, विशिष्ट शब्द एवं आवरणक्षय। इन कारणों में विभिन्न दार्शनिकों ने किसी कारण को केवलज्ञान की उत्पत्ति में मुख्य एवं अन्य को गौण बताकर उसके पृथक्-पृथक् कारण उपस्थित किये हैं। उदाहरणार्थ—सांख्य-योग और बौद्ध केवलज्ञान के जनक के रूप में भावना का प्रतिपादन करते हैं। न्याय एवं वैशेषिक दर्शन योगज अदृष्ट को केवलज्ञान का जनक मानते हैं। वेदान्त दर्शन के अनुसार 'तत्वमसि' जैसे महावाक्य केवलज्ञान के जनक है। जैन दर्शन ज्ञान के आवरण रूप कर्म के क्षय होने से ही केवलज्ञान की उत्पत्ति मानता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने केवलज्ञान के जनक के रूप में कर्मक्षय को ही कारण माना है, अन्य भावना आदि पक्षों का उन्होंने निरास किया है।

वस्तुतः सर्वज्ञ की उत्पत्ति में अव्यवहित कारण कर्मक्षय ही है। भावना जो शुक्लध्यान का ही नामान्तर है, वह केवलज्ञान की उत्पत्ति में सहायक अवश्य बनती है किंतु वह व्यवहित कारण है। भावना से कर्मक्षय होता है तथा कर्मक्षय से केवलज्ञान प्राप्त होता है। अतः भावना कर्मक्षय में कारण होने की अपेक्षा से सर्वज्ञता की उत्पत्ति में अप्रधान कारण ही है। इसी प्रकार अदृष्ट, विशिष्ट शब्द आदि केवलज्ञान की उत्पत्ति में सहकारी कारण बन सकते हैं किंतु उसके साक्षात कारण नहीं है। साक्षात कारण तो कर्मक्षय ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वज्ञता की उत्पत्ति का क्रम सब दर्शनों में समान ही है। इसका अवबोध निम्न तालिका के माध्यम से प्राप्त हो जाता है[16]—

जैन	बौद्ध	सांख्य-योग	न्याय-वैशेषिक	वेदान्त
१. सम्यक्दर्शन	१. सम्यग्दृष्टि	१. विवेकख्याति	१. सम्यग्ज्ञान	१. सम्यग्दर्शन
२. क्षपक श्रेणी द्वारा रागादि कषायों के ह्रास का प्रारम्भ	२. रागआदि क्लेशों के ह्रास का प्रारम्भ	२. प्रसंख्यान-सम्प्रज्ञात समाधि का प्रारम्भ	२. रागआदि के ह्रास का प्रारम्भ	२. रागआदि के ह्रास का प्रारम्भ
३. शुक्लध्यान के बल से राग आदि दोष का आत्यन्तिक क्षय	३. भावना के बल से क्लेशा-वरण का आत्यन्तिक क्षय	३. असम्प्रज्ञात-धर्ममेघ समाधि के द्वारा राग आदि क्लेश कर्म की आत्यन्तिक निवृत्ति	३. असम्प्रज्ञात धर्ममेघ समाधि के द्वारा राग आदि क्लेश कर्म की आत्यन्तिक निवृत्ति	३. भावना निदिध्यासन के बल से क्लेशों का क्षय
४. ज्ञानावरण के सर्वथा नाश द्वारा सर्वज्ञत्व की प्राप्ति	४. भावना के प्रकर्ष से ज्ञेयावरण के सर्वथा नाश से सर्वज्ञत्व की प्राप्ति	४. प्रकाशावरण के नाश द्वारा सर्वज्ञत्व की प्राप्ति	४. समाधि-जन्य धर्म द्वारा सर्वज्ञत्व की प्राप्ति	४. ब्रह्म साक्षात्कार के द्वारा अज्ञान आदि का विलय

सर्वज्ञता एवं वीतरागता

सर्वज्ञता जैन दर्शन का लक्ष्य नहीं है। वीतरागता की प्राप्ति ही उसमें मुख्य है। वीतरागता के बिना ज्ञान वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकता। जब तक मोह रहेगा ज्ञान व्यक्तिनिष्ठ बना रहेगा। यदि वीतरागता रहित सर्वज्ञता की परिकल्पना की जाये तो दो सर्वज्ञों का ज्ञान एक जैसा नहीं हो सकता। मोह के अभाव के बिना निष्पक्षता नहीं आ सकती अतः सर्वज्ञता से पूर्व वीतरागता अनिवार्य है। जैन दर्शन का प्रारम्भ बिन्दु मुमुक्षा है और उसका साध्य वीतरागता है। सर्वज्ञता प्रासंगिक रूप में वहां फलित होती है। वेदान्त दर्शन के अनुसार जिज्ञासा साधना का प्रारम्भ बिन्दु है 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' और सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति साध्य है। उनका मंतव्य है कि जब ज्ञान पूर्ण होगा तो दोष का अभाव हो ही जायेगा। यद्यपि दोनों का निष्कर्ष एक जैसा है। एक का मानना है वीतरागता से ज्ञान तथा दूसरे का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिमत है ज्ञान से वीतरागता होगी।

जैन दर्शन के अनुसार सर्वज्ञता के लिए वीतरागता अनिवार्य है। सम्पूर्ण क्लेशावरण के दूर होने पर ही सम्पूर्ण ज्ञेयावरण दूर हो सकता है। जैन परम्परा में क्लेशावरण अर्थात् मोह के नाश हो जाने पर ज्ञानावरण दर्शनावरण एवं अन्तराय कर्म को अनिवार्यतः नष्ट होना पड़ेगा। मोह कर्म के अभाव में वे नहीं रह सकते। अन्य भारतीय परम्पराओं में क्लेशावरण के दूर हो जाने पर ज्ञेयावरण का नाश होना आवश्यक नहीं है। किंतु जैन परम्परा में क्लेशावरण के नाश के बाद ज्ञेयावरण का नाश अनिवार्य है।

केवलज्ञान अकेला होता है

आत्मा चेतना स्वभाव है। संसारी अवस्था में उस पर कर्म का आवरण रहता है जो चेतना-शक्ति को पूर्ण रूप से कार्य करने में रोकता है। यह आवरण पूर्णज्ञान का प्रतिबन्धक होने से केवलज्ञानावरण कहलाता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने केवलज्ञानावरण को पूर्ण ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान का प्रतिबन्धक माना है किंतु इसके साथ ही उसे अपूर्ण ज्ञानों का जनक भी स्वीकार किया है।

जैन परम्परा में मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्यव ये चार अपूर्ण ज्ञान माने गये हैं तथा उनके मतिज्ञानावरण आदि चार पृथक् आवरण भी माने जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में एक जिज्ञासा स्वतः ही उपस्थित होती है कि केवलज्ञानावरण को अपूर्ण ज्ञानों का जनक कैसे माना जा सकता है? उपाध्याय यशोविजयजी ने इसका समाधान शास्त्र सम्मत कहकर दिया है। जैन परम्परा में ज्ञान के सम्बन्ध में एक पक्ष यह भी रहा है कि जैसे केवलज्ञानावरण के हट जाने पर केवलज्ञान प्रकट होता है वैसे ही मतिज्ञानावरण आदि के हट जाने से मति आदि ज्ञान भी उत्पन्न होते हैं अतः केवली में केवलज्ञान के साथ अन्य मति आदि ज्ञान भी रहते है किंतु वे केवलज्ञान से अभिभूत हो जाने के कारण उस अवस्था में कार्यकारी नहीं होते हैं जैसे सूर्य के उदित होने पर तारासमूह अस्तित्व में रहते हुये भी निष्प्रभावी बन जाता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने इस मन्तव्य का यौक्तिक निराकरण किया है। उन्होंने अपनी युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहा कि अपूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञानावरण का ही कार्य है। उन अपूर्ण ज्ञानों में भी परस्पर वैविध्य एवं तारतम्य रहता है वह मतिज्ञानावरण आदि के क्षयोपशम से होता है किंतु अपूर्ण ज्ञानावस्था केवलज्ञानावरण के कारण ही होती है अतः जब केवली के केवलज्ञानावरण का विनाश हो जाता है तब उसमें केवलज्ञानावरण जन्य मति आदि अपूर्ण ज्ञान भी नहीं हो सकते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं।[१७] उपाध्यायजी का यह वक्तव्य आगमानुकूल है। आगम में केवलज्ञान को एक कहा गया है अर्थात् केवलज्ञान अकेला ही होता है उसके साथ अन्य क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं हो सकते। यही तथ्य तत्वार्थसूत्र में उल्लिखित है।[१८] केवल का अर्थ एक या असहाय होता है।[१९] ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान के अवान्तर भेद समाप्त हो जाने से ज्ञान एक हो जाता है।

श्रीमद् जयाचार्य ने इस अवधारणा को चांदी की चौकी के उदाहरण से स्पष्ट किया है। जैसे कोई चांदी की चौकी धूल से ढकी हुई है। उसके किनारों से धूल हटने लगी। एक कोना दिखा हमने एक चीज मान ली वैसे ही अन्य कोने दृग्गोचर होने पर चार पृथक् चीजे मानने लगे। जब चौकी के मध्य की धूल भी हट गयी तब वे चारों चीजे जिन्हें हम अलग मान रहे थे उसी में समा गयी। ठीक वैसे ही केवलज्ञान ढका रहता है तब तक उसके अल्प विकसित छोरों को भिन्न-भिन्न ज्ञान माना जाता है। जब ज्ञानावरण का सर्वथा विलय हो जाता है तब केवलज्ञान होता है और अन्य अपूर्ण ज्ञान उसमें ही विलीन हो जाते हैं। फिर आत्मा में सब द्रव्य और द्रव्यगत सब परिवर्तनों का साक्षात् करनेवाला एक ही ज्ञान रहता है जो केवलज्ञान कहलाता है। केवलज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर अन्य मति आदि क्षायोपशमिकज्ञान का अस्तित्व ही नहीं रहता है क्योंकि उसके जनक केवलज्ञानावरण का अभाव हो जाने से उसके जन्य मति आदि ज्ञान का भी अभाव हो जाता है।

आचार्य यशोविजयजी ने केवलज्ञानावरण के दो कार्य माने हैं—केवलज्ञान को आवृत करना एवं मति आदि को उत्पन्न करना। यह अवधारणा वेदान्त की माया जैसी है। माया में आवरण एवं विक्षेप नाम की दो शक्तियां होती हैं। माया आवरण शक्ति से ब्रह्म के स्वरूप को आच्छादित कर देती है और विक्षेप शक्ति के द्वारा मिथ्यारूप संसार को प्रस्तुत कर देती है। यद्यपि जैन दर्शन मति आदि ज्ञान के द्वारा ज्ञात प्रमेयों को भी मिथ्या नहीं मानता उनकी भी वास्तविक सत्ता है जबकि वेदान्त में ब्रह्म के अतिरिक्त सारे पदार्थ मिथ्या है।

मति आदि ज्ञान वस्तुतः तो केवलज्ञान के ही भेद हैं। आवरण दशा में केवलज्ञान मति आदि रूप में प्रकट होता है तथा चेतना के निरावरण हो जाने पर केवलज्ञान अपने वास्तविक स्वरूप में आविर्भूत हो जाता है।

केवलज्ञान एवं श्रुतज्ञान की समानता

जैन ज्ञान परम्परा में मतिज्ञान को छोड़कर शेष चार ज्ञान के अधिकारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवली कहलाते हैं। श्रुत केवली,[20] अवधिज्ञान-केवली, मनःपर्यायज्ञानकेवली और केवलज्ञानकेवली[21]। इनमें श्रुतकेवली और केवलज्ञानकेवली का ज्ञेय विषय समान है। इनमें केवल जानने की पद्धति का अन्तर रहता है। श्रुत-केवली शास्त्रीय ज्ञान के माध्यम से तथा क्रमशः अपने ज्ञेय को जानता है जबकि केवलज्ञान केवली ज्ञेय पदार्थों को साक्षात् तथा एक साथ जानता है।[22]

श्रुतोपयोग की अवस्था में विशिष्ट श्रुतज्ञानी भी केवलज्ञानी के सदृश होता है। श्रुतकेवली शब्द श्रुतज्ञान की इसी अनन्तता का सूचक है। पूर्वों की अनन्त राशि को ही नहीं अपितु प्रत्येक अंगग्रन्थ को भी अनन्त गम (भंग-रचना) एवं अनन्तपर्यय वाला बताया गया है। इस प्रकार श्रुतज्ञान का विषय अनन्त हो जाता है।

श्रुतज्ञान का मूल आधार अभिलाप्य पदार्थ है। अर्थ-पर्याय वाणी का विषय नहीं बनती है तथा सब व्यञ्जन पर्याय भी प्रज्ञापन योग्य नहीं है तथा जो भाव केवली द्वारा प्रज्ञापित किये जाते हैं उनका अनन्तवां भाग श्रुतनिबद्ध होता है। इस प्रकार शास्त्र निबद्ध श्रुतज्ञान की अपेक्षा केवलज्ञान का विषय अनन्तगुना अधिक होता है।

केवलज्ञान एवं श्रुतज्ञान ये दो ही ऐसे ज्ञान हैं तो आत्म-साक्षात्कार एवं अमूर्त तत्त्वों का बोध करने में सक्षम हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रुतकेवली को केवली के समान लोक प्रदीपकर तथा आत्म स्वभाव का प्रज्ञापक कहा है।[23] जयसेनाचार्य ने अपनी तात्पर्य वृत्ति में केवलज्ञान को सूर्य एवं श्रुतज्ञान को दीपक की उपमा से उपमित किया है। केवलज्ञानी में सम्पूर्ण ज्ञान शक्ति अनावृत रहती है अतः वह द्रव्य की समस्त पर्यायों को जानता है और श्रुतज्ञान में उसका जितना देश अनावृत होता है उसके अनुसार प्रकाश स्वभावता विकसित होती है पर अर्थ अवबोध की दृष्टि से दोनों समतुल्य है।[24]

आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद को केवलज्ञान के समान ही सर्व तत्त्व प्रकाशक बताया है। उनके अनुसार स्याद्वाद और केवलज्ञान में ज्ञेयकृत भेद मुख्य नहीं है, मुख्यतः दोनों की जानने की प्रक्रिया भिन्न है। केवलज्ञान समस्त द्रव्यों एवं उसकी समस्त पर्यायों को जानता है वैसे ही स्याद्वाद भी जानता है। विशेषता यही है कि केवलज्ञान साक्षात् जानता है श्रुतज्ञान असाक्षात् रूप से जानता है।

बृहत्कल्प भाष्य में केवलज्ञान एवं श्रुतज्ञान की तुलना करते हुये बताया गया कि जैसे समस्त ज्ञेय को केवलज्ञान अपरोक्ष रूप से यथार्थ जानता है वैसे ही श्रुतज्ञानी गीतार्थ भी उन्हें यथाश्रुत जान सकता है, प्रतिपादित कर सकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। ज्ञान की दृष्टि से द्वादशांगधर श्रुतज्ञानी की अपेक्षा केवली विशिष्ट है पर प्रज्ञप्ति की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है क्योंकि केवलज्ञान स्वरूप प्रतिपादन में मुखर नहीं है।

कामं खलु सव्वन्नू नाणेणाहिओ दुवालसंगीतो।
पन्नतीइ उ तुल्लो केवलनाणं णओ मूअं ॥[२५]

केवली श्रुतज्ञान का अवलम्बन नहीं लेते

श्रुतज्ञान पर प्रतिपादन पटु है। श्रुत भी उतने ही अर्थों का प्रज्ञापन कर सकता है जितने अर्थों का एक सर्वज्ञ कर सकता है। इसी समानता के कारण कभी-कभी भ्रमवश यह कह दिया जाता है कि केवली भी श्रुतज्ञान का सहारा लेते हैं किंतु यह कथन यथार्थ नहीं है नंदी, आवश्यकनिर्युक्ति एवं विशेषावश्यक भाष्य में इस भ्रान्ति का निराकरण किया गया है। केवली को श्रुतज्ञान का अवलम्बन लेने की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि केवलज्ञान क्षायिकज्ञान है, उसका उदय होने पर छाद्मस्थिक ज्ञानों का लोप हो जाता है। तीर्थंकर केवलज्ञान के द्वारा अर्थों को जानते हैं, उनमें जो प्रज्ञापन योग्य है उनका निरूपण करते हैं। वह उनका वचनयोग है, दूसरों के लिए वह द्रव्यश्रुत है।

केवलणाणेण त्थे नाउं जे तत्थ पन्नवणजोग्गे।
ते भासइ तित्थयरो वइजोग सुयं हवइ सेसं ॥[२६]

केवली का वाग्योग श्रोताओं के भावश्रुत का कारण बनता है, अतः पुद्गलमय शब्द प्रयोग को भावश्रुत का कारण होने से द्रव्यश्रुत कहा जाता है। केवलज्ञान से श्रोता के भावश्रुत बनने की प्रक्रिया का आकार इस प्रकार बनता है—केवलज्ञान—अर्थावबोध—वचनयोग—शब्दोत्पत्ति (द्रव्यश्रुत)—भावश्रुत।

जैन दर्शन के अनुसार वचनयोग का कारण नामकर्म का उदय और श्रुतज्ञान का कारण श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है। केवली के समस्त घाती कर्मों का सम्पूर्ण नाश हो जाने से उसके क्षायोपशमिक ज्ञानों का अभाव हो जाता है। नाम कर्म भवोपग्राही कर्म है अतः उसका उदय चौदहवें गुणस्थान तक चलता रहता है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से भी यह स्पष्ट है कि केवली के वचनयोग होता है श्रुतज्ञान नहीं होता।

केवली एवं सर्वज्ञ में भिन्नता

वर्तमान में प्रचलित मान्यता के अनुसार जैन धर्म-दर्शन में केवली एवं सर्वज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में हो रहा है किंतु भगवती सूत्र के पांचवें शतक में छद्मस्थ एवं केवली की भिन्नता के सम्बन्ध में उपस्थापित प्रश्नों पर विमर्श करने पर प्राप्त होता है कि भगवती के उस प्रसंग में केवली और सर्वज्ञ एक नहीं है। वहां पर प्रश्न उपस्थित किया गया--क्या केवली शब्द आदि को इन्द्रियों से जानता है? समाधान प्रस्तुत करते हुये कहा गया कि 'केवली इन्द्रियों से नहीं जानता। वह सब दिशाओं में स्थित मित, अमित सबको जानता है क्योंकि उसके अनन्त ज्ञान एवं अनन्त दर्शन है।[२७] ये प्रश्न केवली और सर्वज्ञ को एक मानने पर उपस्थित करने आवश्यक नहीं थे। अन्य भारतीय दर्शनों में कैवल्य शब्द का प्रयोग कहीं भी सर्वज्ञता के अर्थ में नहीं हुआ है। अर्हत् आदि अर्थ में हुआ है। सांख्य दर्शन में प्रकृति से पृथक् पुरुष के लिए केवल शब्द का प्रयोग हुआ है।[२८] कैवल्य मुक्ति की अवस्था है, जिसमें पुरुष तीनों दुःखों से मुक्त होकर स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।[२९] इस अवस्था में प्रकृति के तीनों गुण पुनः प्रकृति में ही अन्तर्लीन हो जाते हैं। योगदर्शन के अनुसार कैवल्य मानसिक संतुलन की स्थिति है, जहां मन अपनी चञ्चलता को छोड़ देता है। वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म के साथ एकत्व होने का नाम कैवल्य है। उपर्युक्त दर्शनों में कैवल्य शब्द का सर्वज्ञता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

बौद्ध साहित्य में 'केवल' शब्द का प्रयोग एक एवं पूर्ण इन दोनों अर्थों में हुआ है। सुत्तनिपात की अट्ठकथा में केवली को सर्वगुण सम्पन्न, परिपूर्ण, सर्वशक्ति सम्पन्न एवं विषयमुक्त कहा है। बौद्ध साहित्य में अर्हत् के लिए केवली शब्द का प्रयोग हुआ है किंतु भूत, भविष्य एवं वर्तमान के सब पदार्थों को जाननेवाले सर्वज्ञ के अर्थ में केवली शब्द का प्रयोग बौद्ध साहित्य में नहीं हुआ है।

केवलज्ञान का परिपूर्ण ज्ञान के अर्थ में अर्थात् सर्वज्ञता के अर्थ में प्रयोग मात्र जैन साहित्य में ही उपलब्ध है। इससे संभव ऐसा लगता है कि जैन धर्म में भी केवली शब्द का प्रयोग वीतराग के लिए हुआ है किंतु वीतराग बनने के तत्काल बाद सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है अतः उन दोनों अवस्थाओं में स्थूल कालक्षेप न होने के कारण ये दोनों अवस्थाएं एक ही प्रतीत होती है अतः कालान्तर में जैन धर्म में केवली शब्द सर्वज्ञ का वाचन बन गया।

केवली के मन होता है

प्रज्ञापना सूत्र में केवली को नो संज्ञी एवं नो असंज्ञी कहा गया है।[३०] मन ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण के क्षयोपशम से होनेवाला ज्ञान है। केवली का ज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षायिक होता है अतः केवली के क्षयोपशम रूप मन नहीं है यह तथ्य प्रज्ञापना में प्रस्तुत है।

भगवती सूत्र में केवली में मन के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है।[३१] इन दोनों वक्तव्यों की संगति द्रव्यमन एवं भावमन के आधार पर हो सकती है। मन दो प्रकार का होता है—द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमन पौद्गलिक होता है तथा भावमन ज्ञानात्मक होता है। केवली के भावमन नहीं होता क्योंकि उन्हें इसकी कोई आवश्यकता ही नहीं है किन्तु उनके द्रव्य मन होता है इस अपेक्षा से केवली के मन का अस्तित्व है।

भगवती सूत्र के ५/१०३-१०५ सूत्रों में मानसिक संप्रेषण का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। अनुत्तर विमान के देवों के मन में कोई प्रश्न उपस्थित होता है तो वे वहां बैठे-बैठे मनुष्यलोक में विद्यमान केवली के साथ मानसिक आलाप-संलाप करते हैं। केवली उनके प्रश्न जानकर मानसिक स्तर पर उसका उत्तर देते हैं। वे प्रश्नकर्ता देव केवली की मनोद्रव्य वर्गणा के आधार पर उसे जान लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि केवली के मन होता है।

केवली के ज्ञानात्मक भावमन नहीं होता किंतु योगरूप मानसिक प्रवृत्ति होती है। केवली कुछ कहना चाहते हैं तब उनके आत्म-प्रदेशों में स्पन्दन होता है। उससे मनोद्रव्य वर्गणा (मानसिक पुद्गल स्कन्धों) का ग्रहण होता है।[३२] उन पुद्गलों के माध्यम से अनुत्तर देव अपने प्रश्नों का समाधान प्राप्त कर लेते हैं। श्रीमद् जयाचार्य ने अपनी चौबीसी में इसका उल्लेख करते हुये कहा है—

'सुर अनुत्तर विमान ना सेवैरे प्रश्न पूछ्या जिन उत्तर देवे रे
अवधिज्ञान करि जाण लेवे, प्रभु नमिनाथ जी मुझ प्यारा रे'[३३]

इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि केवली के भी मन होता है।

सर्वज्ञता एवं नियतिवाद

केवली सर्वद्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव को जानते हैं। यह आगमिक वक्तव्य है। इसका तात्पर्य है कि केवली यथार्थदर्शी होते हैं। जो भाव जैसा होता है उसे वैसा ही जानते हैं अर्थात् नियत को नियत जानते हैं, अनियत को अनियत जानते हैं।

कुछ व्यक्ति सर्वज्ञता के साथ नियतिवाद को जोड़ देते हैं किंतु यह भ्रामक है क्योंकि सर्वज्ञ नियत को ही नियत जानता है अनियत को नियत नहीं जानता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो भाव अब तक नियत हुआ ही नहीं है उसको यदि सर्वज्ञ नियत रूप में जानने लगेगा तो उसका ज्ञान यथार्थता की सीमा का अतिक्रमण करनेवाला कहलायेगा।

केवली में सम्यग्दर्शन नहीं होता

तत्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य में सम्यग्दर्शनी एवं सम्यग्दृष्टि को भिन्न-भिन्न माना गया है। भाष्य के अनुसार केवली सम्यग्दृष्टि होते हैं। सम्यग्दर्शनी नहीं होते। सम्यग्दर्शन में मतिज्ञान का भेद अपाय रहता है, केवली के ज्ञानावरण का सर्वथा नाश हो गया है। उनके अपायांश नहीं रहता अतः वे सम्यग्दर्शनी नहीं है।[३४] इसका तात्पर्य हुआ बारहवें गुणस्थान तक के सम्यक्त्वी जीवों के सम्यग्दर्शन होता है उसके बाद के जीव सम्यग्दृष्टि तो कहलाते है किंतु सम्यग्दर्शनी नहीं कहलाते। इस अपेक्षा से केवली में सम्यग्दर्शन नहीं होता, यह वक्तव्य समीचीन है।

केवलज्ञान के संदर्भ में कतिपय बिन्दुओं पर विचार विमर्श किया गया और भी ऐसे बिंदु हो सकते हैं, जो केवलज्ञान की अवधारणा पर विशेष प्रकाश डाल सकते हैं।

संदर्भ

१. आचारांग ५/१०४
२. ज्ञानबिन्दु, पृ. १ 'केवलनाणमणंतं जीवसरूपं तयं निरावरणम्'।
३. प्रमाण-मीमांसा १/१५ तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम्।
४. नंदी सूत्र ७१ सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ, जइ पुण सो वि आवरिज्जा, तेण जीवो अजीवत्तं पाविज्जा।
५. आचारांग ३/७४
६. समवायांग १/२
७. आचारांग ५/१२३-२५
८. आचारांग ३/७४
९. आचारांग चूर्णि पृ. १२६
१०. नंदी, सूत्र ३३
११. वही ३३/१ अह सव्वदव्वपरिणाम-भाव-विण्णत्ति कारणमणंतं।
सासयमप्पडिवाई, एगविहं केवलं नाणं ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. नियमसार, गाथा १५९ जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥

१३. तत्वार्थभाष्य, १/३०, सर्वद्रव्येषु सर्वपर्यायेषु च केवलज्ञानस्य विषयनिबंधो भवति। तद्धि सर्वभावग्राहकं संभिन्नलोकालोकविषयम्। नातः परं ज्ञानमस्ति। न च केवलज्ञान-विषयात् किञ्चिदन्यज्ञेयमस्ति। केवलं परिपूर्ण समग्रमसाधारणं निरपेक्षं विशुद्धं सर्वभावज्ञापक लोकालोकविषयमनंतपर्यायमित्यर्थः।

१४. नंदी सूत्र २६

१५. नंदी सूत्र टिप्पण, पृ. ६९

१६. दर्शन और चिंतन, पृ. ४३३

१७. ज्ञानबिन्दु, पृ. १

१८. तत्वार्थ सूत्र १/३१ क्षयोपशमजानि चत्वारि ज्ञानानि पूर्वाणि
क्षयादेव केवलम। तस्मान्न केवलिनः शेषाणि ज्ञानानि सन्तीति।

१९. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ८४, केवलमेगं सुद्धं सगलमसाहरणं अणंतं च।

२०. अभिधानचिंतामणि, १/३१ श्रुतकेवलिनो हि षट्।

२१. ठाणं, ३/५१३ तओ केवली पण्णत्ता तंजहा : ओहिणाणकेवली,
मणपज्जवणाण केवली, केवलणाणकेवली।

२२. आप्त मीमांसा १०५ स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्वप्रकाशने
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्

२३. प्रवचनसार १/३३

२४. प्रचवनसार की तात्पर्य वृत्ति १/३३

२५. बृहद्कल्पभाष्य, गाथा ९६३

२६. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ८२९

२७. भगवती ५/१०९

२८. (क) पातञ्जलयोगसूत्र २/२५ तद् दृशेः कैवल्यम्
(ख) सांख्यकारिका १७

२९. पातञ्जलयोगसूत्र ४/३४ कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा

३०. प्रज्ञापना ३१/४ मणूसा सण्णी वि असण्णी वि नो सण्णी नो असण्णी वि।

३१. भगवती ५/१०२-१०३

३२. ष. खं. धवला पु. १ भा. १ सू. १२३ पृ. ३६८ जीवप्रदेशपरिस्पन्दहेतु कर्मजनितशक्त्यस्तित्वापेक्षया वा तत्सत्वान्न विरोधः।

३३ चौबीसी २०/५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३४. तत्वार्थभाष्यानुसारिणी पृ. ६६ अपायसद्द्रव्यतया सम्यग्दर्शनम्,
अपाय-आभिनिबोधिकम्, तद्योगात्सम्यग्दर्शनम्।
तत् केवलिनो नास्ति, तस्मात् न केवली सम्यग्दर्शनी,
सम्यग्दृष्टिस्तु भवति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. बहुश्रुतपूजा : एक परिशीलन

शिक्षा का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। बल्कि यों कहना चाहिए कि शिक्षा ही जीवन है, यहां शिक्षा का अर्थ किताबी ज्ञान से नहीं परन्तु जीवन के सम्पूर्ण आचार-व्यवहार से है। अनेक बार शिक्षा को साक्षरता से जोड़ दिया जाता है किन्तु यह उचित नहीं है। साक्षर भी अशिक्षित हो सकता और निरक्षर शिक्षित। साक्षरता शिक्षा का एक अंग है पर साक्षरता ही शिक्षा नहीं है।

शिक्षा की परिभाषा

शिक्षा शब्द संस्कृत की शिक्ष् धातु से निष्पन्न होता है जिसका तात्पर्य है—सीखना और सिखाना। प्लेटो, टाम्सन, हरबार्ट, महात्मा गांधी आदि शिक्षाविदों ने शिक्षा की भिन्न भिन्न परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं। English में शिक्षा को Education कहा जाता है जिसकी व्युत्पत्ति लेटिन भाषा के Educatum: Educare और Educere शब्द से हुई है। Educatum का अर्थ है अध्यापन-क्रिया। Educare का अर्थ है विकसित करना तथा Educere का अर्थ है--शिक्षित करना। कुछ लोगों का मानना है कि Education दो शब्दों के संयोग से बना है—E & duco अर्थात् बाहर प्रेरित करना अतः Education का अर्थ हुआ आन्तरिक शक्तियों को जागृत करना। यह मत शिक्षा की भारतीय मान्यता के अनुकूल प्रतीत होता है।

शिक्षा का उद्देश्य

वर्तमान में शिक्षाशास्त्र का प्रारम्भ सन् १८५४ के बुड डिस्पैच से माना जाता है, यद्यपि प्राचीन भारतीय मनीषियों ने शिक्षा के सम्बन्ध में गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण चिंतन किया है। तैतरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली, गीता, जैन आगमों आदि में शिक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बन्धी विचार यत्र-तत्र प्रकीर्ण रूप से उपलब्ध होते हैं पर अधुनातन भारतीयों की यह कमी रही है कि वे अपने प्राचीन ज्ञान भंडार को आधुनिक परिवेश में प्रस्तुत नहीं कर पाये अतः शिक्षा जगत् में शिक्षा का तरीका भारतीय न होकर पाश्चात्य है। आज की शिक्षा का moto है 'To learn to earn' जीविका के लिए पढ़ो किन्तु भारतीय चिंतन में जीविका कभी भी प्रमुख नहीं रही। उसका आदर्श है—How to live जीना कैसे चाहिए? इसमें पूरा शिक्षा दर्शन समाहित हो जाता है।

शिक्षा प्राप्ति की अर्हता

शिक्षा प्राप्ति के अर्ह कौन है? शिक्षा गुरु के पास से कैसे प्राप्त करनी चाहिए? वर्तमान शिक्षा चिंतन में इन पहलुओं पर विचार ही नहीं किया गया है, परन्तु भारतीय मनीषियों ने शिक्षा प्राप्ति की अर्हता, अनर्हता पर पर्याप्त विचार किया है। व्यक्ति के आचरण के आधार पर शिक्षा प्राप्ति की योग्यता एवं अयोग्यता का निर्धारण होता है। प्राचीन शिक्षाविदों ने साहित्य शैली में शिक्षा के अयोग्य व्यक्ति का निरूपण किया है। विद्या ब्राह्मण से कहती है—हे ब्राह्मण! मुझे असूयावान, कपटी तथा असंयमी व्यक्तियों से बचाना। मेरा उनके साथ कभी गठबन्धन मत कर देना। इसका तात्पर्य है कि ईर्ष्यालु, दंभी, असंयमी व्यक्ति शिक्षा प्राप्ति का अधिकारी नहीं है।

उत्तराध्ययन के 'बहुश्रुत पूजा' अध्ययन में शिक्षा प्राप्ति के अर्ह व्यक्ति का उल्लेख बहुत सुन्दर ढंग से किया है। वहां बताया गया कि आठ लक्षणों से युक्त व्यक्ति को शिक्षा प्राप्ति होती है। इन गुणों से रहित व्यक्ति शिक्षा के योग्य नहीं है। शिक्षा प्राप्ति के जिन आठ गुणों का उल्लेख किया गया है वे सारे व्यक्ति के चरित्र से जुड़े हुये हैं। वे आठ गुण निम्न हैं—१. जो हास्य नहीं करता। २. जो इन्द्रिय और मन का दमन करता है। ३. जो मर्म प्रकाशित नहीं करता। ४. जो चारित्रवान् होता है। ५. जो दुःशील नहीं होता। ६. जो रसों में अतिगृद्ध नहीं होता। ७. जो क्रोध नहीं करता। ८. जो सत्य में रत रहता है।

इन आठों में से एक भी लक्षण ऐसा नहीं है जो व्यक्ति की बुद्धि अथवा स्मृति से जुड़ा हुआ हो, इसका तात्पर्य यही है कि शिक्षा प्राप्ति की शर्त चारित्र है बुद्धि नहीं है। बुद्धिमान व्यक्ति यदि अच्छे चारित्रवाला नहीं है तो वह समस्याओं को उत्पन्न करने वाला ही होगा। इसीलिए भारतीय चिंतकों ने शिक्षा के अधिकारी की योग्यता का पहले निर्धारण किया है। 'वेदान्तसार' में ब्रह्मविद्या के अधिकारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की योग्यता का वर्णन करते हुये कहा गया—जो नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक करने वाला है। इहलोक और परलोक के फल में अनासक्त है, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, समाधि एवं श्रद्धा इन छह सम्पत्तियों से युक्त है वह ब्रह्मविद्या का अधिकारी है। जो प्रशान्तचित्त है, जितेन्द्रिय है, गुरु की दृष्टि का अनुगमन करने वाला है, पवित्र है ऐसे व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान सदा ही देना चाहिए—

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षवे ॥

इससे फलित होता है कि सम्पूर्ण भारतीय चिंतन आचार एवं ज्ञान की समन्विति को ही श्रेय समझता है। आचरण शून्य ज्ञान अंकरहित शून्य के समान है। वर्तमान में भी 'emotional inteligence' की चर्चा हो रही है। जो व्यक्ति के चारित्र से ही जुड़ी हुई है।

बहुश्रुतता की प्राप्ति का प्रमुख कारण है—विनय। जो व्यक्ति विनीत होता है उसका श्रुत फलवान होता है। जो विनीत नहीं होता उसका श्रुत फलवान नहीं होता। विद्या और विनय का परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध भारतीय चिंतन का फलित है। जो अविनीत होता है वह पढ़ा लिखा होने पर भी अबहुश्रुत है। उत्तराध्ययन में अबहुश्रुत को व्याख्यायित करते हुये कहा गया—

जे यावि होइ निव्विज्जे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
अभिक्खणं उल्लवई, अविणीए अबहुस्सुए ॥

जो विद्याहीन है, विद्यावान होते हुए भी जो अभिमानी है, जो सरस आहार में लुब्ध है, जो अजितेन्द्रिय है, जो बार-बार असम्बद्ध बोलता है, जो अविनीत है, वह अबहुश्रुत है।

शिक्षा के विघ्न

शिक्षा के दो प्रकार हैं—ग्रहण और आसेवन। ज्ञान प्राप्त करने को ग्रहण और उसके अनुसार आचरण करने को आसेवन शिक्षा कहा जाता है। पांच कारणों से व्यक्ति शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता, वे शिक्षा के विघ्न हैं। उत्तराध्ययन में इसका उल्लेख करते हुए कहा—

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणाऽलस्सएण य ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग एवं आलस्य इन पांच हेतुओं से शिक्षा प्राप्त नहीं होती। अभिमानी व्यक्ति विनय नहीं करता, इसलिए उसे कोई नहीं पढ़ाता। क्रोधी व्यक्ति का संसर्ग कोई रखना नहीं चाहता अतः उसे शिक्षा प्राप्त नहीं हो सकती। प्रमाद, रोग एवं आलस्य भी शिक्षा में बाधक बनते हैं। शारीरिक स्वास्थ्य के अभाव में व्यक्ति विनम्रता आदि गुणों से युक्त होने पर भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता अतः विद्यार्थी के लिए शारीरिक स्वास्थ्य भी आवश्यक है।

शिक्षा का दर्शन

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार आज शिक्षा के सामने दो यक्ष प्रश्न है कि वह व्यक्ति को क्या मानती है और उसे क्या बनाना चाहती है। पूरा शिक्षा दर्शन इन दो प्रश्नों में समाहित हो जाता है। जैन शिक्षा पद्धति व्यक्ति में क्षायोपशमिक योग्यता अर्थात् अनावरण की योग्यता स्वीकार करती है। इसका उद्देश्य बौद्धिक सीमा का अतिक्रमण करके प्रज्ञा के क्षेत्र में अवतरण कराना है। वर्तमान शिक्षा पद्धति में व्यक्ति के शारीरिक एवं बौद्धिक विकास की तरफ प्रचुर ध्यान केन्द्रित किया गया है जबकि जैन शिक्षा दर्शन में इन दोनों विकासों के साथ मानसिक एवं भावनात्मक विकास को समुचित स्थान दिया गया है। वार्तमानिक जीवन-विज्ञान की पद्धति जैन शिक्षा का प्रतिरूप है ऐसा कहना शायद अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा। व्यक्ति के सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। इसी में सम्पूर्ण शिक्षा दर्शन कृतार्थता को प्राप्त हो जाता है।

जैनशिक्षा दर्शन के अनुसार जिसका आवेगों/संवेगों पर नियन्त्रण होता है जिसमें मानसिक संकल्प की दृढ़ता होती है वह व्यक्ति शिक्षा की पूर्ण अर्हता से सम्पन्न है। उसका बौद्धिक एवं शारीरिक विकास जनमंगल के लिए होता है। जैन परम्परा के अनुसार सर्वांगीण व्यक्तित्व के धनी पुरुष को ही बहुश्रुत कहा जाता है।

बहुश्रुत की परिभाषा

बहुश्रुत शब्द जैनपरम्परा का महत्त्वपूर्ण, बहुप्रतिष्ठित एवं प्रचलित शब्द है। जिसका श्रुत व्यापक एवं विशाल होता है उसे बहुश्रुत कहा जाता है। बहुश्रुत शब्द बहु और श्रुत इन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है। श्रुत शब्द ज्ञान का वाचक होता है किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में वह कोरे ज्ञान का वाचक नहीं है। उत्तराध्ययन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के ग्यारहवें 'बहुश्रुत पूजा' अध्ययन में प्राप्त बहुश्रुत की विशेषताओं तथा अविनीत के साथ प्रयुक्त अबहुश्रुत से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत शब्द मात्र ज्ञान का वाचक नहीं है। जो अविनीत है वह अबहुश्रुत है और जो विनीत है वह बहुश्रुत है। टीकाकार ने भी बहुश्रुतत्व एवं अबहुश्रुत्व में विनय एवं अविनय को मूल कारण माना है अतः सम्भव ऐसा लगता है कि बहुश्रुत शब्द में आगत श्रुत शब्द से ज्ञान एवं आचरण दोनों का ग्रहण हुआ है। जैनशिक्षा ग्रहण और आसेवनात्मक है। जैन परम्परा में कोरी ग्रहण शिक्षा को मूल्यवत्ता प्राप्त नहीं है। आसेवनयुक्त ग्रहण शिक्षा ही मूल्यवान है। बहुश्रुत की जीवनचर्या में आसेवन अग्रस्थानीय है। बहुश्रुत वह होता है जो ज्ञान एवं शील से सम्पन्न हो।

बहुश्रुत के प्रकार

जैन साहित्य में बहुश्रुत के कई प्रकार बतलाये गये हैं। निशीथ-भाष्यचूर्णि के अनुसार बहुश्रुत तीन प्रकार के होते हैं—

१. जघन्य बहुश्रुत—जो निशीथ का ज्ञाता हो।

२. मध्यम बहुश्रुत—जो निशीथ और चौदह पूर्वों का मध्यवर्ती ज्ञाता हो।

३. उत्कृष्ट बहुश्रुत—जो चतुर्दश-पूर्वी हो।

बहुश्रुत का मुख्य अर्थ चतुर्दशपूर्वी है। बृहत्कल्पभाष्य में जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार के बहुश्रुत का परिगणन है—

तिविहो बहुस्सुओ खलु,' जहण्णओ मज्झिमो उ उक्कोसो।
आयारकप्पे कप्प नवमदसमे य उक्कोसो ॥

१. जघन्य बहुश्रुत—आचार प्रकल्प अर्थात् निशीथ का धारक।

२. मध्यम बहुश्रुत—कल्प एवं व्यवहार का धारक।

३. उत्कृष्ट बहुश्रुत—नवें और दशवें पूर्व का धारक।

बहुश्रुत के प्रकारों का अवलोकन करने से ऐसा लगता है कि वहां बहुश्रुतता को मात्र ज्ञान के साथ जोड़ा गया है, उसके साथ आचार का कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु जैसा कि हमने पहले स्पष्ट किया था आचार के बिना बहुश्रुतता जैन परम्परा में मान्य नहीं है। 'बहुश्रुतपूजा' अध्ययन में आगत बहुश्रुत की विशेषताओं से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

बहुश्रुत की विशेषता

निर्मलता, जागरूकता, लब्धि-सम्पन्नता, भार-निर्वाहकता, दुष्प्रधर्षता, अपराजेयता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधिपत्य, तेजस्विता, कलाओं से परिपूर्णता, सौम्यता, दर्शनश्रुत सम्पन्नता, ज्ञान की निर्मलता आदि गुणों से बहुश्रुत अभिमण्डित होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में सूत्रकार ने बहुश्रुत को अनेक उपमाओं से उपमित किया है। वे सारी उपमाएं बहुश्रुत की आंतरिक शक्ति और तेजस्विता को प्रकट करती हैं। बहुश्रुत के लिए प्रयुक्त कुछ उपमाओं का उल्लेख प्रस्तुत है जो मननीय है--

१. बहुश्रुत कम्बोज के घोड़ों की तरह शील से श्रेष्ठ होता है।
२. बहुश्रुत दृढ़ पराक्रमी योद्धा की तरह अजेय होता है।
३. बहुश्रुत उगते हुये सूर्य की भांति तप के तेज से प्रज्वलित होता है।
४. बहुश्रुत पूर्णिमा के चन्द्रमा की भांति सकल कलाओं से परिपूर्ण होता है।
५. बहुश्रुत धान से भरे कोठों की भांति श्रुत से परिपूर्ण होता है।

इस प्रकार की अनेक उपमाओं से बहुश्रुत को उपमित किया गया है। प्रश्नव्याकरण में आगत मुनि के विशेषणों से बहुश्रुत की इन विशेषताओं की तुलना की जा सकती है।

बहुश्रुत का सम्मान

बहुश्रुत व्यक्ति का संघ एवं संगठन में बहुत सम्मान होता है। उसकी अपने समूह में अत्यन्त प्रतिष्ठा होती है। बहुश्रुत आदेयवचन हो जाता है। आचार्य भिक्षु ने अपनी संघीय व्यवस्था में स्थान-स्थान पर बहुश्रुत के प्रति सम्मान के भाव प्रकट किये हैं। बहुश्रुत का आचार और व्यवहार शैक्ष के लिए अनुकरणीय होता है।

वार्तमानिक परिप्रेक्ष्य में बहुश्रुत की अवधारणा का यथार्थीकरण शिक्षा जगत् की अनेक समस्याओं का समाधायक हो सकता है। श्रुत एवं शील सम्पन्नता अखण्ड व्यक्तित्व की अनिवार्य शर्त है। ज्ञान पक्ष के साथ-साथ व्यक्ति का आचार पक्ष भी अत्यन्त उज्ज्वल हो यह अत्यन्त अपेक्षित है, व्यक्ति कोरा किताबी शिक्षा से ज्ञानी नहीं बने किन्तु शील की सुगन्ध से सुवासित होकर बहुश्रुत बने, यह काम्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. अनेकान्त, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी

जेण विणा लोगस्स ववहारो सव्वहा ण निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स ॥

अनेकान्तवाद को नमस्कार है, क्योंकि उसके बिना इस संसार का व्यवहार भी संचालित नहीं हो सकता। अनेकान्त की अवधारणा निश्चय एवं व्यवहार दोनों के केन्द्र में है। अनेकान्त सम्पूर्ण जगत् का मार्गदर्शक है। उसके अभाव में दार्शनिक एवं व्यावहारिक दोनों ही प्रकार की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता है।

अनेकान्त जैन-दर्शन का प्राण तत्त्व है। अनेकान्त अर्थात् वस्तु को, सत्य को अनेक दृष्टिकोणों से देखना एवं समझना। वस्तु का यथार्थ मूल्यांकन वस्तु के किसी एक पक्ष पर प्रतिबद्ध न होते हुये समग्र दृष्टिकोण से उसका मूल्यांकन अनेकान्त के आलोक में ही हो सकता है।

अनेकान्त की परिभाषा

जैन दर्शन में अनेकान्त पर अत्यधिक विचार-विमर्श किया है। अनेकान्त शब्द अनेक और अन्त इन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है। अनेक का अर्थ है—नानात्व एवं अन्त का अर्थ है—धर्म या स्वभाव। एक ही वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों को स्वीकार करना अनेकान्त है। एक ही वस्तु में एक ही काल में अनन्त विरोधी धर्म एक साथ रहते हैं, यह अनेकान्त दर्शन की महत्त्वपूर्ण स्वीकृति है।

अनेकान्त को परिभाषित करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि एक ही वस्तु सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य स्वभाववाली है। ऐसी एक ही वस्तु के वस्तुत्व के निष्पादक परस्पर विरोधी शक्तियुक्त धर्मों को प्रकाशित करने वाला अनेकान्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदेव तत् तदेव अतत्, यदेवैकं तदेवानेकम्, यदेव सत् तदेवासत् यदेव नित्यं तदेवानित्यम्, इत्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशमनेकान्तः (आत्मख्याति १०/२४७)

वस्तु अनेक धर्मों का समुदाय मात्र नहीं है किन्तु परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों का आधार है। वे अनेक धर्म परस्पर विरोधी है अतः द्रव्य का द्रव्यत्व बना हुआ है। विरोधी धर्मों के अभाव में द्रव्य का अस्तित्व ही सुरक्षित नहीं रह सकता।

वस्तु की द्रव्य-पर्यायात्मकता

अस्तित्व विरोधी धर्म युगलों का समवाय है। अनेकान्त ने इस सत्य का दर्शन किया है। विरोधी युगलों के सह अस्तित्व की स्वीकृति के साथ ही उनके मध्य में रहे समन्वय सूत्रों का अन्वेषक भी अनेकान्त है। अस्तित्व द्रव्य-पर्यायात्मक है। द्रव्य की प्रधानता में द्रव्यार्थिक नय का मन्तव्य ठीक है पर्याय की प्रधानता में पर्यायार्थिक नय का मन्तव्य ठीक है। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य एवं पर्याय दोनों की ही वास्तविक सत्ता है। अन्य एकान्तवादी दर्शन जहां द्रव्य एवं पर्याय में किसी एक को ही सत्य मानने का आग्रह करते हैं। उस अवस्था में अनेकान्त सत्य की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहता है कि सत्य उभयात्मक है। द्रव्यपर्यायात्मक है।

अस्तित्व विरोधी धर्मयुक्त

द्रव्य में शाश्वत और अशाश्वत, एक और अनेक, सामान्य और विशेष, वाच्य और अवाच्य आदि विरोधी युगल विद्यमान है। उन सब में सह-अस्तित्व है। विरोधी और उनका सह-अस्तित्व विश्व-व्यवस्था का अटल नियम है। जैन दर्शन का यह मानना है कि जो सत् है वह प्रतिपक्ष से युक्त होता है—'यत् सत् तत् सप्रतिपक्षम्' पक्ष और प्रतिपक्ष में सह-अस्तित्व है। वे दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। यह दार्शनिक सत्य अब वैज्ञानिक सत्य भी बन रहा है। वैज्ञानिक जगत् का प्रतिकण एवं प्रतिपदार्थ का सिद्धान्त अनेकान्त के आलोक में नये तथ्य उद्घाटित कर सकता है। वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि प्रतिकण, कण का प्रतिद्वंद्वी होते हुए भी उसका पूरक है। वे दोनों साथ-साथ रहते हैं। परस्पर एक-दूसरे का सहयोग करते हैं और इसमें क्रिया-प्रतिक्रिया का व्यवहार भी चलता है।

हर वस्तु एक क्षण में एक साथ सत-असत्, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य आदि अनन्त विरोधी तथा अविरोधी स्वभावों को अपने में समेटे हुये हैं। एक-एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म अखण्ड वस्तु नहीं है उन सब धर्मों का संयुक्त रूप ही अखण्ड वस्तु है। उन अनन्त वस्तु स्वभावों को जानने के लिए अनन्त दृष्टियों की अपेक्षा होती है, क्योंकि एक दृष्टि वस्तु के एक पहलू को ही अभिव्यक्त कर सकती है। एक दृष्टिकोण से प्राप्त ज्ञान सम्पूर्ण सत्य नहीं है किन्तु सत्यांश है। सम्पूर्ण दृष्टियों का सामूहिक रूप ही सम्पूर्ण सत्य होता है। चिंतन की इस पद्धति का नाम अनेकान्त है। एकान्त दृष्टि हमें सत्य से भटका देती है।

चार व्यक्तियों ने एक मकान के विभिन्न दिशाओं से फोटो लिए। चारों ही फोटो चार प्रकार के थे। चारों व्यक्तियों में विवाद छिड़ गया। सभी ने अपने फोटो को सही और दूसरे को गलत ठहराया। लेकिन सच यह था कि उनमें से गलत किसी का भी फोटो नहीं था। विरोधी दिशाएं उनके विवाद का कारण बन गयी। एक दिशा से लिये गये फोटो में मकान का एक भाग ही अभिव्यक्त हो सकता है। चारों को मिलाकर देखने से विरोध स्वतः विलीन हो गया। वैसे ही हमारी एक दृष्टि वस्तु के एक कोण का ही संस्पर्श कर पाती है, फलतः वस्तु का सम्यक् बोध नहीं हो पाता। इस स्थिति में अनेक उलझने सामने आती है। उन दृष्टियों के समन्वय से समाधान स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। अनेकान्त उन विरोधी दृष्टियों में समन्वय स्थापित करता है अतः अनेकान्त वस्तु के सही स्वरूप का बोध कराने में समर्थ है।

विरोध का समाहार

अनेकान्त एक ही वस्तु में नित्य-अनित्य आदि विरोधी धर्मों को स्वीकार करता है। श्री भिक्षुन्यायकर्णिका में अनेकान्त को परिभाषित करते हुये कहा गया—'एकत्र वस्तुनि विरोध्यविरोधीनामनेकधर्माणां स्वीकार अनेकान्तः।' एक ही वस्तु में विरोधी, अविरोधी अनेक धर्मों की स्वीकृति अनेकान्त है। एक ही वस्तु में एक साथ विरोधी धर्म कैसे रह सकते हैं, इसको हम उदाहरणों से समझ सकते हैं।

अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों का अवस्थान तर्क संगत है। यथा—आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है। सामान्य विचार करने से प्राप्त होता है एक ही वस्तु दोनों कैसे हो सकती है? वह वस्तु या तो नित्य होनी चाहिए अथवा अनित्य। अनेकान्त के आलोक में इस प्रश्न का समाधान प्राप्त है।

नित्यता आत्मा का एक धर्म है। आत्मा शाश्वत है। आत्मा न कभी मिटी, न मिटती है और न मिटेगी। वह थी, है और रहेगी। उसका असंख्य प्रदेशात्मक स्वरूप हमेशा बना रहेगा। उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होगा अतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस शाश्वत धर्म की अपेक्षा आत्मा नित्य है। आत्मा विभिन्न योनियों में विभिन्न अवस्था को प्राप्त करती रहती है। मनुष्य गति में मनुष्य रूप में रहने वाली आत्मा अन्य गति में जाकर नारक, देव, तिर्यञ्च आदि बन जाती है। उसकी मनुष्य पर्याय का नाश एवं देव आदि अन्य पर्याय का उत्पाद हो जाता है इस उत्पाद, व्यय के कारण आत्मा अनित्य है। आत्मा का चेतनामय स्वरूप कभी भी नष्ट नहीं होगा अतः वह नित्य है किन्तु उसमें भी स्वाभाविक परिणमन हो रहा है। अतः बिना किसी बाहरी हेतु के भी उसमें अर्थपर्याय जन्य उत्पाद व्यय हो रहा है। अतः वह स्वरूपतः नित्य एवं अनित्य दोनों है।

उत्पन्न होना, नष्ट होना तथा स्थित (ध्रुव) रहना यह सत् (वस्तु) का स्वरूप है। तत्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने कहा—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।' अस्तित्ववान् पदार्थ में यह त्रिपदी नियमतः रहती है। पर्याय की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न एवं नष्ट हो रहा है तथा द्रव्य की अपेक्षा से वह ध्रुव एवं शाश्वत है उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। आचार्य समन्तभद्र ने आप्त-मीमांसा में एक उदाहरण द्वारा इस तथ्य को समझाया है।

उदाहरण से स्पष्टता

एक राजा है। उसके एक पुत्र है, एक पुत्री। राजा के यहां एक स्वर्ण-निर्मित कलश है। राजकुमारी स्वर्ण कलश को चाहती है। राजकुमार स्वर्ण-मुकुट चाहता है। वह कहता है—स्वर्ण कलश को तुड़वा दें, मेरे लिए इसका मुकुट बनवा दें। राजा राजकुमार का हठ पूरा करता है, कलश को तुड़वा देता है, मुकुट बनवा देता है। इसकी तीन प्रतिक्रियाएं होती हैं—कलश टूट जाने से राजकुमारी दुःखित होती है। मुकुट बन जाने से राजकुमार प्रमुदित होता है। राजा को इन दोनों स्थितियों में न दुःख होता है, न प्रमोद होता है। उसे तो केवल स्वर्ण चाहिए जो कलश रूप में था, अब वह मुकुट रूप में है।

घटमौलिः सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्।

स्वर्ण एक पदार्थ है। वह द्रव्यात्मक दृष्टि से नहीं मिटता। उसका मूल स्वरूप अविच्छिन्न रहता है, केवल उसकी अवस्थाएं बदलती रहती है। स्वर्णकलश का नाश, मुकुट का उत्पाद एवं दोनों अवस्थाओं में स्वर्ण बना रहा, स्वर्णत्व की हानि नहीं हुई। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण उत्पाद विनाश एवं ध्रुवता ये तीनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म एक साथ घटित हो रहे हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि एक ही पदार्थ में नित्यत्व और अनित्यत्व जो विरोधी प्रतीत होते हैं उनमें कोई विरोध नहीं है।

प्रधानता एवं गौणता

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु के स्वरूप में विरोधी धर्मों की सह-अवस्थिति है, यह स्पष्ट हो चुका है। द्रव्य का द्रव्यत्व बनाये रखने के लिए विरोधी धर्मों का सहभाव होना अत्यन्त अपेक्षित है। अस्ति और नास्ति का परस्पर अविनाभाव है। ये एक दूसरे के अभाव में नहीं रह सकते हैं। जहां अस्तित्व है वहां नास्तित्व निश्चित रूप से है। विरोधी युगलों में संगति स्थापित करने का आधार है—विवक्षा। जिस समय में पदार्थ के जिस गुण धर्म की विवक्षा होती है, वह प्रधान हो जाता है शेष सारे धर्म उस समय गौण हो जाते हैं। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उसके प्रत्येक धर्म का अर्थ भिन्न है। वस्तु के धर्मों में स्वतः प्रधानता एवं गौणता नहीं किन्तु वक्ता की विवक्षा से वे धर्म प्रधान या गौण बन जाते हैं। जब वक्ता वस्तु के नित्यत्व धर्म का प्रतिपादन करता है तब अनित्यता आदि अन्य धर्म अप्रधान बन जाते हैं। ऐसा किये बिना प्रत्येक पदार्थ हमारे लिए अनुपयोगी या अप्रासंगिक हो जाता है।

गति की सामान्य प्रक्रिया है कि एक पैर आगे रहे और एक पीछे रहे। यदि दोनों पैर आगे या बराबर रहने का आग्रह करें तो गतिक्रिया नहीं हो सकती। बिलौना करते समय मथनी की रस्सी को थामने वाले दोनों हाथ क्रमशः आगे पीछे होते रहते हैं। तभी मंथन होता है। नवनीत निकलता है। एक समय में वस्तु के एक धर्म की प्रधानता और शेष समस्त धर्मों की अप्रधानता अनेकान्त का व्यावहारिक रूप है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसी तथ्य को अभिव्यञ्जित करते हुये कहा—

एकेनाकर्षयन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

अनेकान्त जैन दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त है। भगवान् महावीर ने अनेकान्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। जैन आगमों में अनेकान्त शब्द का प्रयोग तो उपलब्ध नहीं है किन्तु अनेकान्त के सम्पोषक तथ्यों से आगम ग्रन्थ परिपूर्ण है। अनेकान्त आगम युग से दर्शन युग तक एवं दर्शन युग से वर्तमान युग तक अपनी निरन्तर विकास यात्रा करता आ रहा है। अलग-अलग युग के अलग प्रश्न और समाधान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं। आज व्यवहार जगत् में अनेकान्त के प्रयोग के द्वारा व्यवहार जगत् की समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

अनेकान्त का व्यवहार

अनेकान्त सहिष्णुता का दर्शन है। राजनीति का क्षेत्र हो या समाजनीति का, धर्मनीति का हो या शिक्षानीति का, सफलता के लिए अनेकान्त दर्शन को व्यवहार्य बनाना आवश्यक है। जब तक सह-अस्तित्व, सहिष्णुता, सामञ्जस्य आदि मूल्यों को व्यावहारिक नहीं बनाया जायेगा तब तक समाधान उपलब्ध नहीं होगा। सहिष्णुता आदि सारे मूल्य अनेकान्त के ही परिकर हैं। मनुष्य अनेकान्त को समझे और इसके अनुरूप आचरण करे तो युगीन समस्याओं का समाधान हो सकता है।

अनेकान्त दृष्टि से समस्या का समाधान खोजने पर आग्रह-विग्रह का प्रसंग उपस्थित नहीं होता। अनेकान्त दृष्टिवाला व्यक्ति किसी एक मान्यता, सिद्धान्त, प्रथा आदि में आसक्त नहीं होता। वह हिताहित का विचार करता है। अनेकान्ती मान्यता, परम्पराओं का त्याग नहीं करता किन्तु उन पर विचार कर हेय, उपादेय का विवेक करता है। अनेकान्त में कट्टरता, हठधर्मिता एवं संकीर्णता को कोई स्थान नहीं है। अनेकान्ती दृष्टि वाला व्यक्ति अनाग्रही होगा। वह समस्या के समाधान में अपने दृष्टिकोण को लचीला बनाये रखेगा। वह परिस्थिति के अनुसार अपना समायोजन करने में सक्षम होगा। अनेकान्त का विभिन्न संदर्भों में महत्त्वपूर्ण उपयोग है। वह न केवल दार्शनिक समस्याओं का समाधायक है। बल्कि उसके द्वारा व्यावहारिक समस्याओं का समाधान भी प्राप्त किया जा सकता है।

स्याद्वाद

जैन दर्शन की चिंतनशैली का नाम अनेकान्त एवं प्रतिपादन शैली का नाम स्याद्वाद है। अनेकान्त परिकल्पित सिद्धान्त नहीं है अपितु वह यथार्थ जगत् का सत्य है। वस्तु आधारित सत्य है। ज्ञाता की परिकल्पना नहीं है। जैन के अनुसार ज्ञेय अर्थात् वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, 'अनन्तधर्मकं वस्तु' और वह ज्ञेय, संख्या में अनन्त है। जैन दर्शन वेदान्त के ब्रह्म की तरह किसी एक तत्त्व की सत्ता नहीं मानता उसके अनुसार तत्त्व अनेक हैं। ज्ञेय अनन्त हैं। ज्ञान अनन्त है किन्तु भाषा अनन्त नहीं है। ज्ञान शक्ति असीम है किन्तु शब्द शक्ति सीमा में आबद्ध है अतः अनन्त ज्ञान एक क्षण में अनन्त ज्ञेय को जान सकता है किन्तु वाणी अनन्त ज्ञेय को अभिव्यक्त नहीं कर सकती। सम्पूर्ण सत्य को युगपत् अभिव्यक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने का सामर्थ्य भाषा में नहीं है। इसी समस्या के समाधान में जैन चिंतकों ने स्याद्वाद सिद्धान्त को प्रकट किया। स्याद्वाद के द्वारा सत्य का आपेक्षिक कथन होता है जिससे समस्या का समाधान प्राप्त होता है। स्याद्वाद का उद्गम स्थल अनेकान्तात्मक वस्तु है। अनेकान्तात्मक वस्तु के यथार्थ ग्रहण के लिए अनेकान्त दृष्टि है। स्याद्वाद उसको वाणी द्वारा व्यक्त करने की पद्धति है।

स्याद्वाद स्वरूप एवं परिभाषा

अनेकान्तात्मक वस्तु के प्रतिपादन की शैली को स्याद्वाद कहा जाता है। यह जैन दर्शन की तत्त्व प्रतिपादन की विशिष्ट शैली है। 'अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः' अनेकान्तात्मक वस्तु का प्रतिपादन स्याद्वाद के माध्यम से ही हो सकता है। आचार्यश्री तुलसी ने श्रीभिक्षुन्यायकर्णिका में स्याद्वाद को परिभाषित करते हुए लिखा है—

अर्पणानर्पणाभ्यामनेकान्तात्मकार्थप्रतिपादनपद्धतिः स्याद्वादः

प्रधानता एवं गौणता के द्वारा अनेकान्तात्मक वस्तु का प्रतिपादन करने वाली पद्धति स्याद्वाद कहलाती है।

स्याद्वाद स्यात् और वाद इन दो शब्दों से निष्पन्न है। स्यात् का अर्थ है दृष्टिकोण-विशेष या अपेक्षा-विशेष और वाद का अर्थ है कथन या प्रतिपादन। इस प्रकार स्याद्वाद का अर्थ होगा सापेक्ष प्रतिपादन।

'स्यात्' पद में भ्रान्ति

'स्यात्' शब्द के अर्थ के संदर्भ में जितनी भ्रान्ति दार्शनिकों की रही है सम्भवतः उतनी भ्रान्ति अन्य किसी शब्द के सम्बन्ध में नहीं रही है। विद्वानों द्वारा हिन्दी भाषा में स्यात् का अर्थ, शायद, सम्भवतः, कदाचित् और अंग्रेजी भाषा में Probable, may be, perhaps, some how आदि किया है और इन्हीं अर्थों के आधार पर स्याद्वाद को संशयवाद, सम्भावनावाद, अनिश्चयवाद समझने की भूल होती रही। आद्य शंकराचार्य से लेकर आधुनिक युग तक के विद्वान इसके अर्थ निरूपण में भ्रामक रहे हैं। जैन आचार्यों ने स्यात् शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में किया है। यदि स्याद्वाद के आलोचक विद्वानों ने स्याद्वाद सम्बन्धी किसी मूल ग्रन्थ का पारायण किया होता तो यह भ्रान्ति सम्भवतः उनको नहीं होती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्यात् शब्द का अर्थ

व्याकरण के नियमानुसार 'अस्' धातु से विधिलिंग में स्यात् शब्द बनता है किन्तु स्याद्वाद में प्रयुक्त स्यात् शब्द विधिलिंग निष्पन्न शब्द नहीं है। वह तिङन्त प्रतिरूपक निपात है। तिङन्त पद जैसा है किन्तु तिङन्त नहीं है, वह अव्यय है। स्यात् शब्द के प्रशंसा, अस्तित्व, विवाद, विचारण, अनेकान्त, संशय, प्रश्न आदि अनेक अर्थ हैं। स्याद्वाद में स्यात् शब्द अनेकान्त अर्थ में प्रयुक्त है। इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि जैन विचारकों की दृष्टि में स्यात् शब्द संशयपरक न होकर निश्चयात्मक अर्थ का द्योतक है। सापेक्ष निश्चयात्मक कथन पद्धति ही स्याद्वाद है।

सम्मन्तभद्र, विद्यानन्द, अमृतचन्द्र, मल्लिषेण आदि सभी जैनाचार्यों ने 'स्यात्' शब्द को निपात या अव्यय माना है तथा उसे अनेकान्त अर्थ का द्योतक स्वीकार किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने स्यात् शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि स्यात् एकान्तता का निषेधक, अनेकान्त का प्रतिपादक तथा कथंचित् अर्थ का द्योतक एक निपात है—'सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकांतताद्योतकःकथंचिदर्थे स्यात् शब्दो निपातःस्यादित्यव्ययमनेकांतद्योतकम्। स्यात् शब्द कथंचित् (किसी सुनिश्चित) अपेक्षा के अर्थ में प्रयुक्त होता है, संशय, संभावना या कदाचित् अर्थ में नहीं। 'स्यादस्त्येव घटः, स्यान्नास्त्येव घटः इत्यादि वाक्यों में स्यात् शब्द अनेकान्त का द्योतन करता है।'

वस्तु अनेकान्तात्मक है। सत्, असत्, नित्य-अनित्य आदि सर्वथैकान्त के निराकरणपूर्वक उक्त विरोधी धर्मों का एक वस्तु में पाया जाना अनेकान्त है। 'स्यात्' शब्द इसी अनेकान्त का द्योतन करता है। 'स्यादस्ति घटः' यहां स्यात् शब्द कहता है कि घट अस्ति रूप ही नहीं है, किन्तु उसमें अस्तित्व धर्म के अतिरिक्त नास्ति आदि अन्य धर्मों का भी सद्भाव है। घट सर्वथा अस्ति रूप नहीं है किन्तु कथंचित् नास्ति रूप है। घट को सर्वथा अस्ति रूप मानने से वह पट आदि की अपेक्षा भी अस्ति रूप होगा तथा सर्वथा नास्ति रूप मानने से उसका अस्तित्व ही नहीं रहेगा। इसलिए 'स्यात्' शब्द का मुख्य कार्य है अनेकान्त का द्योतन करना। स्यात् शब्द बतलाता है कि वस्तु एक रूप ही नहीं किन्तु अनेकरूप भी है। वस्तु में सत्, असत् आदि अनेक धर्म रहते हैं।

'स्यात्' शब्द का दूसरा कार्य है गम्य (अभिधेय) अर्थ का विशेषण बन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर उसका समर्थन करना। स्यादस्ति घटः यहां घट का अस्तित्व गम्य है और स्यान्नास्ति घटः यहां घट का नास्तित्व अभिधेय है। स्यात् शब्द घट में किस अपेक्षा से अस्तित्व है एवं किस अपेक्षा से नास्तित्व है इसका प्रतिपादन करता है। स्यात् के साथ जैनाचार्यों ने 'एव' पद का भी प्रयोग किया है 'स्यादस्त्येव घटः' इसका तात्पर्य है घट अमुक अपेक्षा से है ही। इस प्रकार स्याद्वाद वस्तु का निश्चयता से प्रतिपादन करता है। वह संशय या संभावनावाद हो ही नहीं सकता।

आचार्य सम्मन्तभद्र ने 'स्यात्' शब्द को निपात माना है जो अर्थ के साथ सम्बन्धित होने पर वाक्य में अनेकान्त का द्योतक है तथा गम्य अर्थ का विशेषण होता है।

वाक्येष्वनेकान्तद्योति गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥

'स्यात्' शब्द पूर्ण सत्य के प्रतिपादन का माध्यम है। एक धर्म की मुख्यता से वस्तु को बताते हुये भी हम उसकी अनन्त धर्मात्मकता को ओझल नहीं करते। इस स्थिति को संभालने वाला स्यात् शब्द है। यह प्रतिपाद्य धर्म के साथ शेष अप्रतिपाद्य धर्मों की एकता बनाये रखता है। इसलिए इसे प्रमाणवाक्य या सकलादेश कहा जाता है।

प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। हम इन अनन्त धर्मों से कुछ को ही जानते हैं तथा उसमें से भी कुछ ही धर्मों का प्रतिपादन कर सकते हैं। जिस प्रकार कई अंधे मनुष्य किसी हाथी के भिन्न-भिन्न अवयवों को हाथ से टटोलकर हाथी के उन भिन्न-भिन्न अवयवों को ही पूर्ण हाथी समझकर विवाद उत्पन्न करते हैं, इसी प्रकार जो सत्य के एक अंश को जानता है तथा उसे ही सम्पूर्ण सत्य मान लेता है। तब दार्शनिक जगत् में समस्याएं उत्पन्न होती हैं। स्याद्वाद एवं अनेकान्त दृष्टि से इन समस्याओं का समाधान प्राप्त होता है। एक दार्शनिक कहता है वस्तु सामान्यात्मक है दूसरा उससे विपरीत वस्तु का कथन करता हुआ उसे विशेष प्रतिपादित करता है। स्याद्वाद इन दोनों विरोधी वक्तव्यों में समन्वय स्थापित करता है। वह समाधान करते हुये प्रतिपादन करता है कि संग्रह नय की अपेक्षा से वस्तु सामान्यात्मक है एवं ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से वह विशेषात्मक है। वस्तु को जो सामान्यात्मक कह रहा है उसका ध्यान वस्तु के द्रव्य स्वरूप पर केन्द्रित है तथा विशेष कहने वाला वस्तु के पर्याय रूप को मुख्यता दे रहा है, जबकि वस्तु स्वभावतः ही सामान्य-विशेषात्मक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन साहित्य में स्याद्वाद को समझाने के लिए कई व्यावहारिक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। एक पुरुष विशेष में पुत्रत्व, पितृत्व, मातुलत्व, भागिनेयत्व आदि विभिन्न अवस्थाएं रहती हैं। जैसे—देवदत्त नामक व्यक्ति पिता भी है, पुत्र भी है, मामा भी है, भानजा भी है। प्रश्न हो सकता है एक ही व्यक्ति पिता-पुत्र, मामा-भानजा कैसे हो सकता है? देवदत अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है एवं अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है। अपने भानजे की अपेक्षा मामा है और मामा की अपेक्षा भानजा है। विभिन्न अपेक्षाओं के आधार पर विभिन्न विरोधी धर्मों का अस्तित्व एक ही वस्तु में संभव है। एक अपेक्षा से विभिन्न विरोधी धर्म एक साथ घटित नहीं हो सकते। यथा—देवदत्त अपने पिता की अपेक्षा पिता भी है एवं पुत्र भी है, यह वक्तव्य मिथ्या होगा क्योंकि देवदत्त अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र ही है, वह अपने पिता की अपेक्षा से कभी पिता हो ही नहीं सकता अतः स्याद्वाद सिद्धान्त का अवबोध करने के लिए अपेक्षा को समझना बहुत आवश्यक है।

स्याद्वाद और समन्वय

स्याद्वाद सम्पूर्ण जैनेतर दर्शनों का समन्वय करता है। जैन दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण जैनेतर दर्शनों का समावेश नयवाद में हो जाता है, अतएव सम्पूर्ण दर्शन नय की अपेक्षा से सत्य है। सारे एकान्तवादी दर्शन परस्पर निरपेक्ष होकर मिथ्या होते हैं किन्तु जब वे परस्पर सापेक्ष हो जाते हैं तब वे यथार्थ बन जाते हैं। ये नयरूप समस्त दर्शन परस्पर विरूद्ध होकर भी समुदित होकर यथार्थ कहे जाते हैं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न मणियों के एकत्र गूंथे जाने से सुन्दर माला तैयार हो जाती है, उसी तरह भिन्न-भिन्न दर्शन परस्पर सापेक्ष होकर यथार्थ बन जाते हैं। जिस प्रकार धन, धान्य आदि वस्तुओं के लिए विवाद करने वाले पुरुषों को कोई साधु पुरुष समझा कर शांत कर देता है, उसी तरह स्याद्वाद परस्पर एक दूसरे पर आक्रमण करने वाले दर्शनों को सापेक्ष सत्य मानकर उनमें समन्वय स्थापित करता है। उपाध्याय यशोविजयजी के शब्दों में सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण नयरूप दर्शनों को वात्सल्य की दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को देखता है।

यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी॥
तेन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शनतुल्यतां।
मोक्षोद्देशाविशेषेण यः पश्यति सः शास्त्रवित्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वाद के माध्यम से समन्वय को प्रस्थापित करके व्यक्ति सुख और शांति से जीवन यापन कर सकता है।

सप्तभंगी की परिभाषा

सप्तभंगी जैन-न्याय का वस्तु-विश्लेषण और प्रतिपादन का विशिष्ट सिद्धान्त है। इसमें सात प्रकार के विशेष प्रकथनों के माध्यम से किसी वस्तु अथवा धर्म को समग्रता से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। स्याद्वाद वस्तु के अनन्त धर्मों का प्रतिपादन सात भंगों और नयों के माध्यम से करता है। 'सप्तभंगनयापेक्षः स्याद्वादः' प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं, और प्रत्येक धर्म का कथन अपने विरोधी धर्म की अपेक्षा से सात प्रकार से किया जाता है। प्रत्येक धर्म का सात प्रकार से कथन करने की शैली का नाम ही सप्तभंगी है। इसमें सात भंग (विकल्प) होने के कारण इसका नाम सप्तभंगी है। आचार्य अकलंकदेव ने सप्तभंगी को परिभाषित करते हुये कहा—'प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी' अर्थात् एक ही वस्तु में अविरोधपूर्वक विधि और प्रतिषेध की कल्पना करना सप्तभंगी है। 'सप्तानां भंगानां समाहारः सप्तभंगी' सात भंगों (विकल्पों) का समूह सप्तभंगी है।

सात भंग

जैन आचार्यों की दृष्टि में सप्तभंगी एक ऐसा सिद्धान्त है जो वस्तु का आंशिक कथन करके भी वस्तु की समग्रता को दृष्टि से ओझल नहीं होने देता है। सप्तभंगी स्याद्वाद की भाषायी अभिव्यक्ति के सामान्य विकल्पों को प्रस्तुत करता है। हमारी भाषा अस्ति (है) और नास्ति (नहीं) विधि और निषेध की सीमा में आबद्ध है हमारे प्रायः सारे वक्तव्य विधिरूप होते हैं अथवा निषेध रूप होते हैं किन्तु कभी-कभी ऐसी समस्याएं भी आती है जब केवल विधि-मुख से या केवल निषेध-मुख से कथन को स्पष्ट करना असम्भव हो जाता है ऐसी स्थिति में एक तीसरे विकल्प का सहारा लेना पड़ता है जिसे जैन दर्शन में अवक्तव्य या अवाच्य कहा जाता है। इस प्रकार किसी वस्तु के प्रतिपादन के समय वस्तु के विधि धर्म, का अथवा निषेध धर्म का अथवा अवक्तव्य धर्म का उल्लेख किया जाता है। अस्ति, नास्ति एवं अवक्तव्य से तीन भंग मौलिक है। इन्हीं तीन भंगों की विशेष प्रकार की संयोजना से अपुनरुक्त सात भंग बन जाते हैं।

सात भंग निम्नांकित हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. स्यात् अस्ति
२. स्यात् नास्ति
३. स्यात् अवक्तव्यम्
४. स्यात् अस्ति-नास्ति
५. स्यात् अस्ति अवक्तव्यम्
६. स्यात् नास्ति अवक्तव्यम्
७. स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति स्यात् अवक्तव्यम्

भंग सात ही क्यों?

उपर्युक्त सात भंगों में प्रथम तीन मौलिक भंग है शेष चार उनके संयोगज भंग है। तीन मौलिक भंगों के अपुनरुक्त भंग सात ही बन सकते हैं। इस भंग संयोजना को जैनाचार्यों ने गणित के नियम के आधार पर सिद्ध किया है जिसको हम प्रतीक के माध्यम से समझ सकते हैं।

अस्ति = A नास्ति = B एवं अवक्तव्य = C

ये तीन मौलिक भंग हुये। अब इन A, B, C के चार संयोगज भंग बनते हैं—

४. A - B
५. A - C
६. B - C
७. A - B - C

तीन के सात से अधिक भंग बन ही नहीं सकते। अतः वस्तु के प्रत्येक धर्म पर आधारित अनन्त सप्तभंगियां बन सकती है किन्तु एक धर्म पर अनन्त भंग नहीं बन सकते इसका तात्पर्य है कि वस्तु के जितने धर्म हैं उन सब पर एक-एक पृथक् सप्तभंगी बन सकती है किन्तु एक धर्म पर अनन्तभंगी नहीं बन सकती।

सप्तभंगी की वस्तु में समायोजना

इन सप्तभंगी के सातों भंगों को घट के उदाहरण से समझा जा सकता है। प्रथम भंग पदार्थ के अस्तित्व का, उसके विधि-पक्ष का प्रकाशन करता है।

१. स्यात् अस्त्येव घटः—कथंचित् घट है ही। एक विशेष प्रकार की अपेक्षा से घट अस्तिवान् ही है। सप्तभंगी में अस्ति भंग वस्तु के स्वद्रव्य क्षेत्र, काल एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव की अपेक्षा से है। घट अपनी स्वचतुष्टयी की अपेक्षा से है। स्वचतुष्टय की अपेक्षा से वस्तु के भावात्मक धर्म का विधान होता है। घट स्वचतुष्टयी की अपेक्षा से अस्ति रूप है। इसको हम इस रूप में समझ सकते हैं—

१. स्वद्रव्य दृष्टि	यह घट मिट्टी का बना है।
२. स्वक्षेत्र दृष्टि	यह घट लाडनूं में बना हुआ है।
३. स्वकाल दृष्टि	यह घट सर्दी में बना हुआ है।
४. स्वभाव दृष्टि	यह लाल रंग का है।

सप्तभंगी के प्रथम भंग से घट के अनन्त धर्मों में से एक अस्ति धर्म विवक्षित हुआ है।

२. स्यात् नास्त्येव घटः—घट कथंचित् नहीं है। दूसरा भंग वस्तु के अभावात्मक धर्म, नास्तित्व की सूचना देता है। घड़ा जैसे स्वचतुष्टय से अस्ति रूप है। वैसे ही परचतुष्टय की अपेक्षा वह नास्ति रूप ही है। इसको हम इस रूप में समझ सकते हैं—

१. परद्रव्य दृष्टि	यह सोने का घड़ा नहीं है।
२. परक्षेत्र	यह सुजानगढ़ का बना हुआ घड़ा नहीं है।
३. परकाल	यह गर्मी की ऋतु में बना हुआ घड़ा नहीं है।
४. परभाव	यह काले रंग का घड़ा नहीं है।

द्वितीय भंग यह भी स्पष्ट करता है कि घड़ा पुस्तक, टेबल, कलम आदि नहीं है। प्रथम भंग जहां यह कहता है कि घड़ा घड़ा ही है, वहां द्वितीय भंग यह बताता है कि घड़ा घट से इतर अन्य कुछ भी नहीं है। कहा भी गया है—'सर्वमस्तिस्वरूपेण पररूपेण नास्ति च' अर्थात् सभी वस्तुओं का अस्तित्व स्वरूप से है पररूप से उनका अस्तित्व नहीं है। यदि वस्तु में अन्य वस्तुओं के गुण धर्मों की सत्ता मान ली जाये तो फिर वस्तुओं का पारस्परिक भेद ही समाप्त हो जायेगा और वस्तु का स्वरूप भी नहीं बन सकेगा अतः वस्तु में परचतुष्टय का निषेध करना द्वितीय भंग है। प्रथम भंग बताता है कि वस्तु क्या है, जबकि दूसरा भंग यह बताता है कि वस्तु क्या नहीं है।

३. स्यात् अवक्तव्यमेव घटः—घट कथंचित् अवक्तव्य है। सप्तभंगी का यह तृतीय भंग भाषा की अक्षमता का स्पष्ट बोध करा रहा है। घट में विद्यमान विधि एवं निषेध दोनों धर्मों का एक साथ कथन किसी भी शब्द से नहीं किया जा सकता। जब विधि का कथन होगा तब निषेध का कथन नहीं होगा। जब निषेध का कथन होगा तब विधि का कथन नहीं हो सकेगा। जब एक ही समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में विधि और निषेध की विवक्षा होती है, तब दोनों को एक ही समय में एक साथ कहने वाला कोई शब्द न होने से घड़ा अवक्तव्य है। यह अवक्तव्य भंग स्पष्ट करता है कि अस्ति और नास्ति एक साथ वाणी के विषय नहीं बन सकते, इस अपेक्षा से घट अवक्तव्य है।

४. स्याद् अस्त्येव घटः स्याद् नास्त्येव घटः—कथंचित् घट है, कथंचित् घट नहीं है। इस वाक्य में क्रमशः पहले घट के विधेयात्मक स्वरूप की विवक्षा है तथा बाद में उसके निषेधात्मक स्वरूप की विवक्षा है। जब घट से अस्ति नास्ति धर्म को क्रमशः कहने का प्रसंग उपस्थित होता है। तब वस्तु में इस चतुर्थ धर्म की संयोजना होती है।

५. स्याद् अस्ति स्याद् अवक्तव्यमेव घटः—घट कथंचित् है और कथंचित् अवक्तव्य है। जब घट के संदर्भ में प्रथम स्वद्रव्य आदि चतुष्टय की अपेक्षा अस्ति धर्म विवक्षित एवं बाद में अस्ति-नास्ति को एक साथ कहने का प्रसंग होता है तब यह पांचवां भंग बनता है।

६. स्यात् नास्ति अवक्तव्यमेव घटः—घड़ा कथंचित् नहीं है और कथंचित् अवक्तव्य है। यह भंग पहले परद्रव्य आदि चतुष्टयी की अपेक्षा घट के नास्ति धर्म को प्रकट करता है एवं अस्ति-नास्ति धर्म को युगपत् कहने की विवक्षा में घट को कथंचित् अवक्तव्य मानता है।

७. स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति स्यात् अवक्तव्यमेव घटः—कथंचित् घट है, कथंचित् घट नहीं है, कथंचित् घट अवक्तव्य है। इस भंग से पहले वस्तु के विधि धर्म, फिर निषेध धर्म और बाद में विधि-निषेध दोनों की युगपत् कथन की अपेक्षा से अवक्तव्यता अभिव्यञ्जित हो रही है।

आचार्य महाप्रज्ञ जी ने 'जैन दर्शन मनन और मीमांसा' ग्रन्थ में इन सातों भंगों को एक उदाहरण के माध्यम से बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। वह उदाहरण यहां प्रस्तुत है—'एक विद्यार्थी में योग्यता और अयोग्यता ये धर्म मानकर सात भंगों की परीक्षा करने से इन भंगों की व्यावहारिकता का पता लग सकेगा। किसी व्यक्ति ने अध्यापक से पूछा—अमुक विद्यार्थी पढ़ने में कैसा है?'

अध्यापक ने कहा—बड़ा योग्य है।

यहां पढ़ाई की अपेक्षा से उसका योग्यता धर्म मुख्य बन गया और शेष धर्म उसके अन्दर छिप गये—गौण बन गये। दूसरे ने पूछा—विद्यार्थी नम्रता में कैसा है? अध्यापक ने कहा—बड़ा अयोग्य है। यहां उद्दण्डता की अपेक्षा से उसका अयोग्यता धर्म मुख्य बन गया और शेष सब धर्म गौण बन गए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी तीसरे व्यक्ति ने पूछा—वह पढ़ने में और विनय व्यवहार में कैसा है? अध्यापक ने कहा—'क्या कहें यह बड़ा विचित्र है। इसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।'

यह विचार उस समय निकलता है, जब उसकी पढ़ाई और उच्छृंखलता, ये दोनों एक साथ मुख्य बन दृष्टि के सामने नाचने लग जाती हैं और कभी-कभी ऐसा भी उत्तर होता है, भाई! अच्छा ही है पढ़ने में योग्य है किन्तु वैसे व्यवहार में योग्य नहीं है। उपर्युक्त प्रश्न के समाधान में तीसरा एवं चौथा उत्तर प्राप्त होता है।

पांचवां उत्तर—'योग्य है फिर भी बड़ा विचित्र है, उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।'

छठा उत्तर—'योग्य नहीं है, फिर भी बड़ा विचित्र है, उसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता।'

सातवां उत्तर—'योग्य भी है, नहीं भी।' अरे! क्या पूछते हो बड़ा विचित्र लड़का है, उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।

उत्तर देने वाले की भिन्न-भिन्न मनः स्थितियां होती हैं। कभी उसके सामने योग्यता की दृष्टि प्रधान हो जाती है और कभी अयोग्यता की। कभी एक साथ दोनों और कभी क्रमशः। कभी योग्यता का बखान होते-होते योग्यता-अयोग्यता दोनों प्रधान बनती हैं, तब आदमी उलझ जाता है। कभी अयोग्यता का बखान होते-होते दोनों प्रधान बनती हैं और उलझन आती है। कभी योग्यता और अयोग्यता दोनों का क्रमिक बखान चलते-चलते दोनों पर एक साथ दृष्टि दौड़ते ही कुछ कहा नहीं जा सकता ऐसी वाणी निकल पड़ती है।

सप्तभंगी के सात भंग वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कथन करने का एक युक्ति संगत वचन प्रकार है। इन भंगों में स्यात् शब्द के प्रयोग का अपना विशेष महत्त्व है। यह विवक्षित धर्म की मुख्यता प्रतिपादित करने के साथ-साथ अविवक्षित धर्म का सर्वथा निषेध नहीं करता किन्तु गौण रूप से उन अविवक्षित धर्मों की सूचना दे देता है। सप्तभंगी की प्रक्रिया के द्वारा वस्तु का सम्यक् एवं आवश्यक बोध प्राप्त हो जाता है।

हम इस सच्चाई से अवगत हो चुके हैं कि अखण्ड वस्तु जानी जा सकती है किन्तु एक शब्द के द्वारा एक समय में कही नहीं जा सकती। मनुष्य जो कुछ कहता है, उसमें वस्तु के किसी एक पहलू का निरूपण होता है। वस्तु के जितने पहलू हैं, उतने ही सत्य हैं; उतने ही द्रष्टा के विचार हैं। जितने विचार हैं उतनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही अपेक्षाएं हैं। जितनी अपेक्षाएं हैं उतने ही कहने के तरीके हैं। जितने तरीके हैं, उतने ही मतवाद हैं। एक से अनेक सम्बन्ध जुड़ते हैं, सत्य या असत्य के प्रश्न खड़े होने लगते हैं। अनेकान्त एवं नय दृष्टि से हम सत्य की, वस्तु की सम्यक् व्याख्या करने में समर्थ हो जाते हैं तथा जब भी अनेकान्त दृष्टि ओझल हो जाती है; समस्याओं का अम्बार लग जाता है अतः समस्याओं के सम्यक् निराकरण के लिए अनेकान्त दृष्टि आवश्यक है। स्याद्वाद एवं सप्तभंगी उस अनेकान्त दृष्टि के ही उपजीवी हैं।

इस प्रकार हमने जाना कि अनेकान्त और स्याद्वाद के माध्यम से हम पदार्थ का सम्यक् बोध और सम्यक् प्रतिपादन कर सकते हैं। अनेकान्त एवं स्याद्वाद की उपादेयता केवल वस्तु जगत् तक ही परिसीमित नहीं है। हमारे जीवन का प्रत्येक पहलू इससे संस्पृष्ट तथा उजागर होता है।

हमारा जीवन एकता और विविधता का योग है। मनुष्य-मनुष्य एक है। यह समानता की अनुभूति समूची मानव जाति को एकत्व के सूत्र में पिरोए रखती है। सबकी रुचियां, अपेक्षाएं, जीने की पद्धतियां और अपेक्षा पूर्ति के स्रोत भिन्न हैं अतः वह विविध रूपों में विभक्त हो जाती है।

व्यक्ति का जिसके साथ अधिक लगाव या ममत्व होता है, उसे वह अधिक महत्त्व देता है। फलतः विभिन्न वर्ग, जाति, भाषा, सम्प्रदाय आदि की रेखाएं उभर आती हैं। किसी को महत्त्व देना बुरा नहीं, यदि उससे दूसरों का महत्त्व और हित खण्डित न हो। समस्या यहीं उत्पन्न होती है कि व्यक्ति स्व को जितना महत्त्व देता है, 'पर' को उतना ही नकारने लग जाता है। यहीं से मानवीय एकता खण्डित होने लगती है।

एक परिवार में अनेक सदस्य होते हैं। उन सबके हित, स्वार्थ, रुचियां और योग्यताएं भिन्न होती हैं। इस स्थिति में किसी एक के हितों, योग्यताओं आदि को महत्त्व एवं सम्मान देने से तथा दूसरों की उपेक्षा करने से परस्पर टकराव एवं दुराव की स्थितियां पैदा होती है और अलगाव की दीवारें खिंच जाती हैं। धीरे-धीरे वैमनस्य, घृणा प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भावनाएं बलवती होती जाती हैं। सरस पारिवारिक जीवन में विरसता का विष घुलने लग जाता है। इसके विपरीत यदि अपेक्षानुसार सबके हितों को प्राथमिकता दे तो स्वयं का हित कभी विघटित नहीं होता, वह अधिक सधता है और पारिवारिक जीवन मधुमय बन जाता है। निरपेक्ष व्यवहार जहां एकत्व में विखराव पैदा करता है वहां सापेक्ष व्यवहार बिखरी हुई मणियों को सुन्दर माला का आकार प्रदान करता है। सापेक्ष दृष्टिकोण शान्त,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सरस और सुखी जीवन का मूल मंत्र है। दृष्टि की एकांगिता आग्रह को जन्म देती है। आग्रह हिंसा है, जिसकी भूमिका में वैमनस्य और दुर्भावनाओं के बीज अंकुरित होते हैं, जो एक दिन विष-वृक्ष के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं।

वार्तमानिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में भी अनेकान्त विचार का महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है। शोषणहीन समाज की संरचना, निःशस्त्रीकरण, विश्वमैत्री, सह-अस्तित्व आदि दृष्टियों एवं सिद्धान्तों का पल्लवन, उन्नयन स्याद्वाद के द्वारा संभव है। अपेक्षा है अनेकांतवाद और स्याद्वाद—इन दोनों का ही वर्तमान समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया जाए और मानवीय व्यवहार के साथ इस महान् दर्शन को जोड़कर जागतिक स्तर पर समन्वय और सह-अस्तित्व को प्रतिष्ठित किया जाये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. जैन दर्शन में नय की अवधारणा

'अनन्तधर्मकं वस्तु' वस्तु का स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है। वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता ज्ञान का विषय बन सकती है किन्तु शब्द शक्ति ससीम है वह उसे व्यक्त नहीं कर सकती। वस्तु स्वरूप की अभिव्यक्ति में यह व्यावहारिक समस्या थी। उसका समाधान नय सिद्धान्त में प्राप्त होता है।

जैन दर्शन में चिंतन की शैली का नाम अनेकान्त दृष्टि और प्रतिपादन की शैली का नाम स्याद्वाद है। भगवान महावीर के युग में प्रमाण और नय का स्पष्ट भेद नहीं था। उस समय प्रत्येक द्रव्य की मीमांसा नय के आधार पर होती थी। नयवाक्य के साथ भी आगम युग में स्यात् शब्द का प्रयोग किया जाता था। सिय अत्थि सिय नत्थि—ये वाक्य नय के आगमयुगीन उदाहरण है। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् जब प्रमाण व्यवस्था हुई तब प्रमाण, नय और दुर्नय ये तीन विभाग किये गये। स्याद्वाद प्रमाण का, सद्वाद नय का एवं सदेववाद दुर्नय का प्रतिनिधि शब्द है। वस्तु व्यवस्था में प्रमाण एवं नय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तत्वार्थसूत्र में कहा गया—'प्रमाणनयैरधिगमः' प्रमाण एवं नय के द्वारा वस्तु का बोध होता है। वस्तु के सम्यक् अवबोध का साधन प्रमाण एवं नय है। दुर्नय वस्तु के अवबोध को त्रुटित करता है। अनन्त धर्मात्मक द्रव्य या अखण्ड वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। द्रव्य के एक धर्म का सापेक्ष ज्ञान नय है, तथा वस्तु के एक धर्म का निरपेक्ष ज्ञान दुर्नय है—

'अनेकांशधीः प्रमाणं तदेकांशधी नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतः' वस्तु सत् ही है, वस्तु सत् है, वस्तु स्यात् सत् है—ये क्रमशः दुर्नय, नय एवं प्रमाण के उदाहरण है। आचार्य हेमचन्द्र ने अन्ययोगव्यवच्छेदिका में इसको स्पष्ट करते हुये कहा—

'सदेव सत्, स्यात् सदिति, त्रिधार्थो, मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य के अनन्त धर्म होते हैं। उन अनन्त धर्मों को जानने के लिए अनन्त ही नय है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा–

'जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति णयवाया'

जितने नय के प्रकार हैं उतने ही नय हैं। संक्षेप में नय दो होते हैं–द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक। वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है। वस्तु के द्रव्यांश का ग्राही द्रव्यार्थिक एवं पर्यायांश का ग्राही पर्यायार्थिक नय है। इन दो नयों के द्वारा ही विश्व के सभी पदार्थों का विश्लेषण किया जा सकता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के और भी अवान्तर भेद उपलब्ध होते हैं।

जैन परम्परा में नय के भेद के सम्बन्ध में तीन परम्पराएं प्राप्त हैं। आगम परम्परा में नैगम आदि नय के सात भेद उपलब्ध हैं। सिद्धसेन दिवाकर नैगम नय को छोड़कर अवशिष्ट छह नयों को स्वीकार करते हैं। तत्वार्थसूत्र में नय के नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र एवं शब्द ये पांच भेद उपलब्ध हैं। तत्वार्थ में ही नैगम के देशपरिक्षेपी एवं सर्वपरिक्षेपी ये दो भेद भी प्राप्त हैं। अन्तिम शब्द नय के साम्प्रत, समभिरूढ़ तथा एवंभूत ये तीन भेद किये गये हैं।

सात नयों का दो में समाहार

जैन दर्शन में नयों की सात भेदों वाली परम्परा ही अधिक प्रचलित एवं मान्य है। इन सात नयों का समाहार द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक इन दो नयों में हो जाता है। नैगम, संग्रह एवं व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिक एवं ऋजुसूत्र, समभिरूढ़ तथा एवंभूत ये चार पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत हैं। तत्वार्थश्लोकवार्तिक में यह तथ्य अभिव्यक्त हुआ है–

संक्षेपाद् द्वौ विशेषेण द्रव्यपर्यायगोचरौ।
द्रव्यार्थो व्यवहारान्तः पर्यायार्थस्ततोऽपरः ॥

ज्ञाननय, अर्थनय एवं शब्दनय में भी इन सात नयों का समाहार किया जाता है। संकल्पप्रधान विचार ज्ञान के आलम्बन से होता है। नैगम नय संकल्पग्राही है अतः वह ज्ञाननय कहलाता है। अर्थ के आश्रय से होने वाला विचार अर्थाश्रयी (पदार्थाश्रयी) कहलाता है। नैगम से ऋजुसूत्र तक के नय अर्थनय भी कहलाते हैं। शेष तीन शब्दाश्रयी है अतः वे शब्दनय है। अनुयोगद्वार में शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत को शब्द नय कहा गया है अतः शेष चार का अर्थनय में समावेश स्वतः ही हो जाता है। ज्ञानाश्रयी, अर्थाश्रयी एवं शब्दाश्रयी समस्त व्यवहारों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समन्वय इन नयों में हो जाता है।

नय परिभाषा

अनेकान्त का व्यावहारिक रूप नय है। नयों की कल्पना न तीर्थान्तरीय चिंतन से प्रभावित है न वह निराधार है किन्तु वस्तु आधारित अभ्युपगम है। तत्वार्थसूत्र में कहा है कि 'नैते तन्त्रान्तरीया नापि मतिभेदेन प्रधाविता ज्ञेयस्य त्वर्थस्याध्यवसायान्तराण्येतानि'। वस्तुतः ज्ञाता का जो अभिप्राय है वही नय है। नयो ज्ञातुरभिप्रायः। आप्तमीमांसा में नय का एक प्राचीनतम लक्षण उपलब्ध है। हेतु के द्वारा किसी साध्य विशेष की सिद्धि करना नय है। नय विशेष को अभिव्यक्त करता है—

'सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।'
स्याद्वादप्रविभक्तार्थ विशेषव्यञ्जको नयः ॥

उदाहरण के साथ साध्य के साधर्म्य एवं वैधर्म्य के आधार पर तत्त्व स्वरूप का निर्णय करना ही नय है।

धवला में नय को परिभाषित करते हुए कहा गया—प्रामाणपरिच्छिन्नवस्तुनः एकदेशे वस्तुत्वार्पणा नयः' प्रमाण से ज्ञात वस्तु के एकदेश में वस्तुत्व की अर्पणा नय है। श्री भिक्षुन्यायकर्णिका में नय को परिभाषित करते हुये कहा गया—'अनिराकृतेतरांशो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः' वस्तु के एक अंश का ग्राहक एवं अन्य अंशों का निराकरण न करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा जाता है। शब्दभेद से प्रायः नय की एक जैसी परिभाषाएं उपलब्ध है। अब संक्षेप में नैगम आदि सात नय एवं नयाभासों का विवेचन प्रस्तुत है।

नैगमनय

'भेदाभेदग्राही नैगमः' गुण और गुणी, अवयव और अवयवी आदि में भेद और अभेद की विवक्षा करना नैगमनय है। नैकं गमो नैगमः' जो धर्म और धर्मी में से एक को ही नहीं जानता किन्तु गौणता एवं मुख्यता से दोनों को जानता है वह नैगम नय है। 'संकल्पग्राही च' संकल्पग्राही विचार को भी नैगम कहा जाता है। निगम शब्द का अर्थ, देश, संकल्प और उपचार है, इनमें होने वाला अभिप्राय नैगम नय है। निगमः देशः संकल्प उपचारो वा तत्र भवो नैगमः। नैगम नय के भाव और अभाव दोनों ही विषय है, अतः संकल्पग्राही विचार को भी नैगम नय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा जाता है। देश, काल, उपचार, लोकरूढ़ि आदि के अनुसार संकल्प अनेक प्रकार का होता है। जैसे—ईंधन, जल आदि सामग्री लाने में प्रवृत्त व्यक्ति से पूछने पर वह कहता है—मैं चावल पकाता हूं, यह अपूर्ण क्रिया में पूर्णता का संकल्प है। आज भगवान महावीर का निर्वाण दिन है यह अतीत में वर्तमान का संकल्प है। यह नवजात शिशु विद्वान् है यह वर्तमान में भविष्य का संकल्प है। नैगम नय में इन सबका समावेश हो जाता है।

नैगमाभास

धर्म, धर्मी में सर्वथा भेद मानना, एक धर्मी के दो धर्मों में सर्वथा भेद मान लेना नैगमाभास है। एक धर्मी के दो धर्मों की गौण प्रधान भाव से विवक्षा करना नैगम है। इसके विपरीत नैगमाभास है।

गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणी।
विवक्षा नैगमोऽत्यन्तभेदोक्तिः स्यात्तदाकृतिः।

संग्रहनय

सामान्य या अभेद का ग्रहण करने वाली दृष्टि संग्रह नय है। अभेदग्राही संग्रहः। पर एवं अपर के भेद से संग्रहनय दो प्रकार का हैं। 'महासामान्यविषयः परः' महासामान्य का ग्रहण करनेवाला परसंग्रह नय है। परसंग्रह में जीव, अजीव आदि सकल पदार्थों का एकत्व अभिप्रेत है। 'विश्वमेकं सतो विशेषात्' विश्व एक है क्योंकि अस्तित्व की दृष्टि से कोई भिन्न नहीं है।

'अवान्तरसामान्यविषयोऽपरः' अपर संग्रह नय द्रव्यत्व आदि अवान्तर सामान्य को ग्रहण करता है। सब द्रव्य एक हैं क्योंकि द्रव्यत्व की दृष्टि से कोई भिन्न नहीं है, सब पर्याय एक हैं क्योंकि पर्यायत्व की दृष्टि से कोई भिन्न नहीं है।

संग्रहाभास

निरपेक्ष अभेद की स्वीकृति संग्रहाभास है क्योंकि भेद से शून्य सन्मात्र तत्त्व का स्वरूप प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। जितने भी द्वैत निरपेक्ष अद्वैत हैं वे संग्रहाभास के उदाहरण हैं। आचार्य अकलंक ने संग्रह एवं संग्रहाभास को एक ही श्लोक में निबद्ध किया है—

सदभेदात् समस्तैक्य संग्रहात् संग्रहो नयः।
दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात्तत्स्वरूपानवाप्तितः॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहारनय

संग्रह द्वारा गृहीत अर्थ का विधिपूर्वक विश्लेषण करने वाला व्यवहार नय है। व्यवहार भेद का ग्राहक होता है। भेदग्राही व्यवहारः। सम्पूर्ण सत् संग्रह नय द्वारा गृहीत था। व्यवहार उसमें भेद करता है। जो सत् है, वह द्विरूप है—द्रव्य और पर्याय। द्रव्य छह प्रकार का है। व्यवहार नय द्रव्यार्थिक नय का ही भेद है अतः परमाणु तक इसका ज्ञेय क्षेत्र है। अर्थ पर्याय इसका विषय नहीं हो सकती।

अपर संग्रह और व्यवहार नय का विषय समान होने पर भी अपर संग्रह अभेदांश प्रधान है जबकि व्यवहार नय भेद प्रधान है। अपर संग्रह नय भेद में अभेद का ग्रहण करता है। व्यवहार नय अभेद में भी भेद का ग्रहण करता है। यही इन दोनों नय में अन्तर है।

जो द्रव्य और पर्याय का काल्पनिक विभाग मानता है वह व्यवहाराभास है।

ऋजुसूत्रनय

नित्य द्रव्य की उपेक्षा करके जो वर्तमान क्षणवर्ती पर्यायमात्र को प्रधानता से स्वीकार करता है वह ऋजुसूत्र नय है। वर्तमानपर्यायग्राही ऋजुसूत्रः, यथा-साम्प्रतं सुखं' वर्तमान में सुख है। यहां मुख्य रूप से क्षण स्थायी सुख नामक कोरा पर्याय विवक्षित है। सुख के आधारभूत आत्म द्रव्य को गौण मानकर उसकी विवक्षा नहीं है।

जो द्रव्य का निराकरण करके केवल पर्याय को ही सत् मानता है वह ऋजुसूत्राभास है। क्षणिकवादी बौद्धों का मन्तव्य इसका उदाहरण है।

शब्द नय

काल, कारक, लिंग, संख्या आदि के भेद से अर्थ भेद को स्वीकार करने वाला शब्द नय है। 'कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदकृच्छब्दः' शब्द नय एक ही वस्तु में काल, कारक, लिंग आदि के भेद से भेद मानता है।

कालभेद—राजगृह था, राजगृह है और राजगृह होगा। इन वाक्यों में जो अर्थ भेद है वह शब्द नय के कारण है। कारक भेद—राम ने, राम के लिए, इन वाक्यों में कारक कृत भेद है जो शब्द नय का विषय है। इसी प्रकार अन्य भेद भी इस नय के माध्यम से हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समभिरूढ़नय

पर्यायवाची शब्दों में निरुक्त के भेद से अर्थ भेद को स्वीकार करने वाला नय समभिरूढ कहलाता है—पर्याये निरुक्तिभेदेनार्थभेदकृत् समभिरूढः। इस नय के अनुसार कोई शब्द परस्पर पर्यायवाची नहीं हो सकता। यह नय व्युत्पत्तिमूलक शब्द भेद से भी अर्थभेद को मान्य करता है। जैसे—जो भिक्षाशील है वह भिक्षु है। जो वाणी का संयम करता है वह वाचंयम और तपस्या करने वाला तपस्वी कहलाता है। इसके अनुसार भिक्षु, वाचंयम एवं तपस्वी ये अलग-अलग पदार्थ के बोधक शब्द हैं। इन विभिन्न शब्दों से एक अर्थ अभिव्यञ्जित नहीं हो सकता। विभिन्न शब्द विभिन्न प्रकार के अर्थ के ही व्यञ्जक होते हैं।

शब्द एवं समभिरूढ़ में अन्तर

शब्दनय शब्द में निरुक्तकृत भेद होने पर भी अर्थ के अभेद को स्वीकार करता है और समभिरूढ़ नय निरुक्तकृत भेद होने के कारण अर्थ में भी भेद मानता है। यही इन दोनों नयों में परस्पर अन्तर है।

एवंभूतनय

द्रव्य की क्रिया परिणति के अनुरूप ही शब्द प्रयोग को स्वीकार करने वाला नय एवंभूत नय है। 'क्रियापरिणतमर्थं तच्छब्दवाच्यं स्वीकुर्वन्नेवंभूतः'—जैसे भिक्षण क्रिया में प्रवृत्त व्यक्ति के लिए ही भिक्षु शब्द का प्रयोग हो सकता है। प्रवचन, मौन आदि भिक्षा के अतिरिक्त अन्य क्रिया करते समय उसे भिक्षु नहीं कहा जा सकता।

समभिरूढ़ तथा एवंभूत में अन्तर

समभिरूढ़ नय शब्दगत क्रिया में अप्रवृत्त व्यक्ति के लिए भी तद्वाचक शब्द प्रयोग मान्य करता है जबकि एवंभूतनय शब्द अभिव्यञ्जित क्रिया में प्रवृत्त वस्तु के लिए ही तद् वाचक शब्द का प्रयोग करता है। इसलिए एवंभूतनय एवं समभिरूढ़ नय परस्पर भिन्न है।

नयों की परस्पर कारण-कार्यता

इन सातों नय में परस्पर कार्य-कारण भाव है। पूर्ववर्ती नय कारण एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तरवर्ती नय कार्य होता है। जैसे—नैगम नय कारण एवं संग्रह उसका कार्य है, ऐसे ही अन्य नयों के बारे में जान लेना चाहिए। पूर्ववर्ती नय क्रमशः बहुविषय वाले एवं कारणभूत होते हैं तथा उत्तरवर्ती नय अल्पविषय वाले एवं कार्यरूप होते हैं।

निश्चय एवं व्यवहार नय

निश्चय एवं व्यवहार के भेद से भी नय दो प्रकार का परिगणित है। तात्त्विक अर्थ को स्वीकार करने वाला निश्चय नय कहलाता है। लोक प्रसिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले को व्यवहार नय कहा जाता है। 'भ्रमर पंचवर्ण वाला है' यह निश्चय नय की वक्तव्यता है। 'भ्रमरकाला है' यह व्यवहार नय की वक्तव्यता है।

नयाभास

वस्तु के एक अंश को स्वीकृत करने वाले तथा अन्य अंशों का अपलाप करने वाला विचार नयाभास या दुर्नय कहलाता है। केवल द्रव्य अथवा केवल पर्याय का ग्रहण कर परस्पर एक-दूसरे का निरसन करने वाले विचार क्रमशः द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयाभास है। निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं। सापेक्ष नय अर्थवान् है—

निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्

जैन दर्शन सब नयों को सापेक्ष दृष्टि से देखता है। इसलिए वह सर्वसंग्राही दर्शन है। यदि सापेक्ष दृष्टि का अवलम्बन लेकर मीमांसा करें तो बौद्धदर्शन ऋजुसूत्र नय, वेदान्त, सांख्य संग्रह नय, नैयायिक, वैशेषिक नैगम नय, शब्दाद्वैत शब्द नय के निदर्शन हो जाते हैं किन्तु ये निरपेक्ष हैं तो मिथ्या हैं। नयाभासों के उदाहरण बन जाते हैं। जैनेतर दर्शनों के मन्तव्यों की नयों से तुलना करते हुये कहा गया—

बौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद् वेदान्तिनां संग्रहात्,
सांख्यानां तत एव नैगमनयाद् योगश्च वैशेषिकः।
शब्दाद्वैतविदोऽपि शब्दनयतः सर्वैर्नयैर्गुम्फिता,
जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते ॥

जैन दर्शन सब नयों का समूह रूप है। जैसे समुद्र में सारी नदियां समाहित हो जाती है वैसे ही जैन दर्शन में सारी दृष्टियां समाहित हो जाती है। जिस प्रकार अलग-अलग नदियों में समुद्र दृष्टिगोचर नहीं होता वैसे ही विभक्त दृष्टियों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीतराग का दर्शन नहीं होता—

उदधाविव सर्वसन्धिवः, समुदीर्णास्त्वयि नाथ! दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्वोदधिः।

अनेकान्त दर्शन वस्तु की सम्यक् व्यवस्था करने में सक्षम है। नय की उस वस्तु व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। नय की अवधारणा जैन दर्शन की मौलिक अवधारणा है। दार्शनिक जगत् को यह जैन दर्शन का बहुमूल्य अवदान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. निर्विकल्प एवं सविकल्प बोध

निर्विकल्पक एवं सविकल्पक बोध की चर्चा सभी भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में रही है। निर्विकल्पक अर्थात् विकल्प रहित, शब्द रहित, निर्विशेषण ज्ञान। सविकल्पक अर्थात् विकल्पसहित, सविशेषण ज्ञान, सशब्द ज्ञान।

सविकल्पक ज्ञान को सभी दार्शनिक परम्पराओं ने स्वीकार किया है तथा निर्विकल्पक को तीन दार्शनिक परम्पराओं को छोड़कर नामान्तर से सभी ने स्वीकार किया है। शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरि ने कहा—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमादृते
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते'

उनका मानना है कि ऐसा कोई भी बोध नहीं हो सकता जिसमें किसी प्रकार का विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध भासित न हो। उनके अनुसार प्रथमदशापन्न ज्ञान भी विशेष से युक्त होता है। वह किसी न किसी विशेष को प्रकाशित करता ही है। अतएव ज्ञानमात्र सविकल्प है। इसी परम्परा का अनुगमन मध्व और वल्लभ इन दो वेदान्त प्रस्थानों ने किया है।

जिस बोध में वस्तु का निर्विशेषण स्वरूप मात्र प्रतिभासित हो उसे निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। जैन परम्परा में इसी निर्विकल्पक को दर्शन कहा गया है। गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—भन्ते! उपयोग कितने हैं? महावीर ने कहा—साकार और अनाकार ये दो उपयोग हैं। ये दो उपयोग ही दर्शनान्तरों में उल्लिखित सविकल्पक एवं निर्विकल्पक स्थानीय हैं। साकारोपयोग सविकल्पक और अनाकारोपयोग निर्विकल्पक है। अनाकार उपयोग को दर्शन तथा साकारोपयोग को ज्ञान कहा जाता है। प्रमाणनय तत्त्वालोक में दर्शन को परिभाषित करते हुए कहा गया—'विषय-विषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनात्'—सत्ता मात्र का ज्ञान दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जैन परम्परा जिसे दर्शन कहती है उसको ही न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त, बौद्ध, मीमांसक निर्विकल्पक या आलोचना मात्र कहते हैं। न्याय वैशेषिकों ने प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण में ही सविकल्पकत्व एवं निर्विकल्पकत्व की चर्चा की है। उनका प्रत्यक्ष सविकल्पक, निर्विकल्पक उभयप्रकार का है—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्' यहां पर अव्यपदेश्य पद निर्विकल्प तथा व्यवसायात्मक पद सविकल्प का द्योतन कर रहा है। निर्विकल्पक अव्यपदेश्य होता है तथा सशब्द हुये बिना ज्ञान में व्यवसायात्मकता नहीं हो सकती।

बौद्ध दर्शन में उस सत्तामात्र बोध का निर्विकल्पक नाम प्रसिद्ध है। वह प्रत्यक्ष को निर्विकल्प स्वीकार करता है। अनुमान प्रमाण की सशब्दता उसे मान्य है। उपर्युक्त सारे दर्शन ज्ञानव्यापार के उत्पत्ति क्रम में सर्वप्रथम ऐसे बोध का स्थान अनिवार्य मानते हैं जो ग्राह्य विषय के सन्मात्र को ग्रहण करे, पर उसमें किसी भी प्रकार का विशेषण-विशेष्य रूप भासित न हो। इस प्रकार तीन परम्पराओं को छोड़कर अन्य सभी परम्पराएं निर्विकल्पक के अस्तित्व को निर्विवाद स्वीकृत करती है।

निर्विकल्प का अस्तित्व स्वीकार करने वाली सभी दार्शनिक परम्पराएं इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य निर्विकल्प को तो स्वीकार करती हैं साथ ही इन्द्रिय सन्निकर्ष के अतिरिक्त उसके अलौकिक अस्तित्व को भी वे स्वीकार करती हैं। जैन और बौद्ध परम्परा में उस प्रकार के अभ्युपगम का स्पष्ट निर्देश है। बौद्ध परम्परा उस अलौकिक निर्विकल्पक को योगी संवेदन कहती है। जैन परम्परा में वह अवधि और केवलदर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वोत्तरमीमांसक विविध कक्षावाले योगियों का तथा उनके योग जन्य अलौकिक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं अतएव उनके मतानुसार भी अलौकिक निर्विकल्पक के अस्तित्व को स्वीकार करने में कोई बाधा दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। यदि यह अवधारणा सम्यक् है तो सिद्ध हो जाता है कि सभी निर्विकल्पक अस्तित्ववादियों ने उसके उभयरूप को मान्य किया है।

सविकल्पक ज्ञान की तरह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप नहीं है। निर्विकल्पकवादियों ने उसे प्रत्यक्ष की श्रेणी में स्थापित किया है। निर्विकल्पक चाहे वह इन्द्रियजन्य हो अथवा आत्मजन्य, अन्यज्ञान से व्यवहित न होने के कारण उसे प्रत्यक्ष ही माना है किन्तु जैन परम्परा के अनुसार निर्विकल्प की गणना प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों में होनी चाहिए। जैन-परम्परा में मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। दर्शन मति के भेद अवग्रह का निश्चय रूप से पूर्ववर्ती है। अतएव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसको भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की कोटि में रखा जा सकता है। परन्तु आगमिक परम्परानुसार मतिज्ञान परोक्ष ही है अतः दर्शन भी परोक्ष की परिधि में प्रविष्ट हो जाता है। संक्षेपतः इन्द्रियसन्निकर्ष जन्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों है तथा अवधि एवं केवल विशुद्ध रूप से प्रत्यक्ष है। तार्किक मान्यतानुसार चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों है। जबकि आगमिक मान्यतानुसार इन्द्रियजन्यदर्शन परोक्ष ही है तथा अवधि एवं केवल आत्मजन्य होने से प्रत्यक्ष है।

निर्विकल्पक के प्रामाण्य के संदर्भ में दार्शनिक परम्पराएं एकमत नहीं है। कोई उसका पारमार्थिक प्रामाण्य स्वीकार करती है। कुछ उसको प्रामाण्य के क्षेत्र में भी प्रवेश नहीं देती है। बौद्ध तथा वेदान्त दर्शन तो निर्विकल्पक को ही पारमार्थिक प्रत्यक्ष मानते हैं। उनके मतानुसार सविकल्पक ज्ञान का प्रामाण्य व्यावहारिक है, संवृत्ति सत् है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में इसके प्रामाण्य के सम्बन्ध एक विचार नहीं है। प्राचीन परम्परा के अनुसार श्रीधर एवं विश्वनाथ ने इसको प्रमा रूप माना है, परन्तु गङ्गेश की परम्परा के अनुसार यह न प्रमा है न अप्रमा। उनके अनुसार प्रमात्व एवं अप्रमात्व प्रकारता (विशेष प्रकार) घटित होने से होता है। निर्विकल्पक प्रकारता रहित है अतएव वह न प्रमा है न अप्रमा किंतु उससे विलक्षण है। सांख्य एवं पूर्वमीमांसक सामान्यतः ऐसे विषयों में न्याय वैशेषिक मतानुसारी है अतः इनके अनुसार भी निर्विकल्पक प्रमा एवं अप्रमा से विलक्षण है।

जैन परम्परा के अनुसार इसके प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य के संदर्भ में दो दृष्टियों से विचार करना होगा। दर्शन (निर्विकल्पक) के प्रामाण्य-अप्रामाण्य की चर्चा तर्क युग में होने लगी। उससे पूर्व आगमिक दृष्टि थी। उसमें प्रामाण्य अप्रामाण्य की चर्चा का प्रश्न ही नहीं था। आगम परम्परा में तो दर्शन या तो सम्यक् हो सकता था अथवा मिथ्या। उसके सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व का आधार आत्मा की सम्यक् अथवा मिथ्यादृष्टि है। जो आत्मा सम्यक् दृष्टि सम्पन्न है उसके दर्शन एवं ज्ञान सम्यक् है। यदि वह मिथ्यादृष्टि है तो उसका दर्शन एवं ज्ञान भी मिथ्या है। व्यवहार में मिथ्या समझा जानेवाला दर्शन भी सम्यक्त्वधारी आत्मा के होता है तो वह सम्यक् है, मिथ्या नहीं है तथा व्यवहार में सत्य, अबाधित समझा जानेवाला दर्शन यदि मिथ्यादृष्टियुक्त आत्मा के है तो वह मिथ्या है सम्यक् नहीं है।

सन्मति टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि ने इसी आगमिक आधार पर दर्शन को प्रमाण कहा है तथा आचार्य यशोविजयजी ने भी संशय इत्यादि ज्ञानों को सम्यक् दृष्टियुक्त होने से सम्यक् कहा उसका आधार भी आगमिक दृष्टिकोण है।

आगमिक और प्राचीन श्वेताम्बर, दिगम्बर उभय परम्परा में दर्शन को सम्यक्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्या इन भेदों में विभाजित ही नहीं किया है। जैसे मति, श्रुत एवं अवधिज्ञान की सम्यक् एवं मिथ्या कल्पना सम्यक्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि भेद से है। वैसी दर्शन के सम्बन्ध में अवधारणा नहीं है। दर्शनउपयोग निराकार होने से उसमें मिथ्या सम्यक्दृष्टिप्रयुक्त अन्तर की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यही कारण है जो दर्शन पहले गुणस्थान में है वही चतुर्थ गुणस्थान में है। यह तथ्य गन्धहस्ति सिद्धसेन ने सूचित किया है—अत्र च यथा साकार दशायां सम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्विशेषः नैवमस्ति दर्शने, अनाकारत्वे द्वयोरपि तुल्यत्वादित्यर्थः'।

तर्क युक के आगमन से दर्शन के प्रामाण्य और अप्रामाण्य का प्रश्न उपस्थित हुआ। जैसा कि जैनेतर विद्वान इसका तार्किक दृष्टि से विवेचन कर रहे थे। इस तार्किक दृष्टि के अनुसार जैनों को निर्विकल्पक के प्रामाण्य-अप्रामाण्य को स्पष्ट करना था कि वह प्रमाण है अथवा अप्रमाण। उभय है अथवा उभयभिन्न।

तार्किक दृष्टि से जैन परम्परा में दर्शन के प्रमात्व अप्रमात्व के पक्ष में एक विचारधारा नहीं है। सामान्यतः श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं ने इसको प्रमाण की कोटि से बाहर रखा है। उन्होंने अपने प्रमाण के लक्षण में व्यवसाय, निर्णय आदि पदों का समावेश करके ज्ञान को ही प्रमाण माना और निर्विकल्पक के प्रामाण्य का निराकरण किया। बौद्ध दार्शनिक निर्विकल्पक को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। जैन ने उसका निराकरण किया है। माणिक्यनन्दी और वादी देवसूरि ने तो दर्शन को प्रमाणाभास भी कहा है।

अभयदेवसूरि ने दर्शन को प्रमाण कहा है उनका वह कथन आगमानुसारी है तार्किक सम्मत नहीं है। उपाध्याय यशोविजयजी के दर्शन सम्बन्धी प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विचार में कुछ विरोध परिलक्षित हो रहा है। एक तरफ तो वे दर्शन को व्यञ्जनावग्रह अन्तरभावी नैश्चयिक अवग्रह बतलाते है जो मति व्यापार होने के कारण प्रमाण की कोटि में आता है और दूसरी तरफ वादी देवसूरि के प्रमाण लक्षण वाले सूत्र की व्याख्या के समय ज्ञानपद का प्रयोजन स्पष्ट करते समय उसको प्रमाण क्षेत्र से बहिर्भूत रखते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण-मीमांसा में दर्शन से सम्बन्ध रखनेवाले विचारों को प्रसंगवश तीन स्थानों पर स्पष्ट किया है। अवग्रह के स्वरूप का निरूपण करते वक्त दर्शन को उसका परिणामी कारण कहा है किन्तु निर्विकल्पक होने से अवग्रह नहीं है। वह इन्द्रियार्थ सम्बन्ध के पश्चात्वर्ती तथा अवग्रह से पूर्ववर्ती है। हेमचन्द्राचार्य ने बौद्धों के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के प्रमाणत्व का निराकरण किया है। उनका कहना है निर्विकल्पक अनध्यवसाय रूप होने से प्रमाण नहीं है। प्रमाण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्णयात्मक ज्ञान विशेष को भासित करने वाला ज्ञान ही हो सकता है। अपने प्रमाण लक्षण मे प्रदत्त निर्णय शब्द का अर्थ बताते हुये उन्होंने कहा है—संशय, अनध्यवसाय तथा अविकल्पक से अतिरिक्त ज्ञान ही निर्णय है। हेमचन्द्राचार्य ने बौद्धों के निर्विकल्पक को तथा जैन के दर्शन का स्वरूप एक जैसा स्वीकार किया है। इस प्रकार उन्होंने दर्शन के प्रमाणत्व का निषेध किया है। प्रमाण ज्ञान ही हो सकता है। निराकार उपयोग प्रमाण नहीं हो सकता। दर्शन के प्रामाण्य का निषेध तार्किक दृष्टि से किया है न कि आगमिक दृष्टि से। इस प्रकार प्राचीन जैन तार्किकों से लेकर आज तक के सभी जैन विद्वानों ने दर्शन को प्रमाण स्वीकार नहीं किया उसको प्रमाण की कोटि से बहिर्भूत रखा है।

दर्शन के प्रमाण्य एवं अप्रामाण्य के संदर्भ में यह विमर्शनीय है कि जैन दर्शन ने चेतना का स्वरूप ज्ञानदर्शनात्मक स्वीकार किया है। 'ज्ञानदर्शनात्मिका चेतना' इस स्वरूप को स्वीकार करके उसके एक रूप को प्रमाण तथा दूसरे को अप्रमाण कहा है। प्रश्न उपस्थित होता है आत्मा के एक स्वभाव को प्रमाण की परिधि में प्रविष्ट किया है दूसरे को उस क्षेत्र से बहिर्भूत। केवलज्ञानी को भी केवल दर्शन होता है। उनके सम्पूर्ण आवारक कर्म ज्ञानावरण दर्शनावरण का नाश हो चुका है। उनका दर्शन कैसा होगा? अप्रमाण रूप होगा या प्रमाणरूप? इस प्रकार दर्शन को अप्रमाण कहा है, यह तथ्य दर्शन के क्षेत्र में नये विमर्श की अपेक्षा रखता है। प्रमाणत्व की कसौटी क्या होगी। केवली सम्यक् दृष्टि भी है तथा उनका ज्ञान मिथ्या भी नहीं हो सकता फिर उनका दर्शन किस कोटि में अन्तर्भूत होगा? सम्पूर्ण आवारक कर्मों के नष्ट हो जाने पर अप्रमाणत्व का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होगा। अतः छाद्मस्थिक दर्शन को प्रमाण-अप्रमाण उभयरूप एवं केवलदर्शनी के दर्शन को सर्वथा प्रमाणरूप स्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. अर्थनीति और अनेकान्त

अनेकान्त जैन दर्शन का सर्वमान्य एवं प्रतिष्ठित सिद्धान्त है। अनेकान्त का वस्तुनिष्ठ अस्तित्व है, अर्थात् सम्पूर्ण प्रमेय जगत् अनेकान्तात्मक है। वस्तु विरोधी युगलों की समन्विति है। विरोधी युगलों के कारण ही वस्तु का अस्तित्व है। यदि वस्तु में विरोधी युगल न रहे तो उसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। जैन चिंतकों ने इस वस्तु जगत् के यथार्थ का उपयोग तत्त्व-मीमांसीय एवं दार्शनिक समस्याओं के समाधान में किया। आगम युग में अनेकान्त का प्रयोग तत्त्व-मीमांसा की विचारणा के संदर्भ में हुआ।

भगवान् महावीर से गौतम ने पूछा—भंते! आत्मा शाश्वत है या अशाश्वत? भगवान ने उत्तर दिया—द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से आत्मा शाश्वत है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से वह अशाश्वत है।

दर्शन युग में अनेकान्त के द्वारा प्रमाण, प्रमेय आदि से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान किया गया। अनेकान्त का एक सिद्धान्त है जिसके प्रयोग का क्षेत्र व्यापक है। जिस प्रकार वह दार्शनिक समस्याओं का समाधायक है वैसे ही व्यवहार जगत् की समस्याओं का समाधान भी इससे हो सकता है। यद्यपि प्राचीन साहित्य में व्यवहार जगत् की समस्याओं के संदर्भ में इसका प्रयोग अत्यल्प है किन्तु जैनाचार्य इस सच्चाई से अवगत थे कि इससे व्यवहार जगत् में भी समाधान के द्वार उद्घाटित हो सकते हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मति तर्क में इस तथ्य का उल्लेख भी किया है। अनेकान्त को नमस्कार है, क्योंकि उसके अभाव में लोक व्यवहार भी संचालित नहीं हो सकता।

आचार्य यशोविजयजी तक अनेकान्त का दार्शनिक स्वरूप ही विमर्श का विषय रहा किन्तु वर्तमान में उसके व्यावहारिक स्वरूप पर एवं व्यावहारिक क्षेत्र के उपयोग के संदर्भ में चर्चा-परिचर्चा प्रारम्भ हो गयी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन को जीवन के साथ जुड़ना चाहिये। जो दर्शन जीवन के साथ नहीं जुड़ता, युग की समस्याओं का समाधान नहीं देता उस दर्शन/चिंतन/विचार की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। अनेकान्त युग की समस्याओं का समाधान देने में समर्थ है। वर्तमान युग के विमर्शनीय विषय राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, विज्ञान आदि के प्रश्नों का समाधान अनेकान्त के आलोक में खोजा जा सकता है।

आर्थिक व्यवस्था, अर्थ की समायोजना, आर्थिक विकास आदि की अवधारणाएं अर्थनीति से सम्बद्ध है। अनेकान्त के आलोक में इन अवधारणाओं का मूल्यांकन मानव जाति के लिए महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

जीवन के दो पक्ष हैं—बाह्य एवं आभ्यन्तर। दोनों के समुचित विकास से ही जीवन की सर्वांगीण मूल्यवत्ता हो सकती है। भारतीय चिंतन में जीवन का विश्लेषण खण्ड-खण्ड में नहीं किन्तु अखण्ड रूप से किया गया है। अभ्युदय निश्रेयस् से संयुक्त होकर ही जीवन कल्याणकारी बन सकता है। 'यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः' अभ्युदय एवं निश्रेयस् दोनों साथ-साथ चलने चाहिए। निश्रेयस् रहित अभ्युदय/विकास विनाश का कारण बन जाता है। भारतीय मनीषियों ने अर्थ, काम, धर्म एवं मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की चर्चा की। अर्थ एवं काम जीवन के बाह्य पक्ष को पोषण प्रदान करते हैं तथा धर्म एवं मोक्ष जीवन के आभ्यन्तर पक्ष को पुष्ट करते हैं। शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा ये चार व्यक्तित्व के घटक तत्त्व हैं। शरीर अर्थ से, मन काम से, बुद्धि धर्म से एवं आत्मा मोक्ष से जुड़ी हुई है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। जीवन-यापन के लिए उसे अर्थ की अनिवार्य अपेक्षा है। अर्थ के अभाव में वह रोटी, कपड़ा और मकान जैसी जीवन की न्यूनतम अपेक्षाओं की पूर्ति भी नहीं कर सकता। अर्थ और काम समाज व्यवस्था के आधारभूत तत्त्व हैं। सामाजिक समायोजन में अर्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पूंजीवाद एवं साम्यवाद वर्तमान अर्थव्यवस्था की मूल अवधारणाएं हैं।

पूंजीवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा को महत्त्व प्रदान कर आर्थिक क्रियाओं को संगठित करता है। 'व्यक्तिगत सम्पत्ति का मंत्र रेत को भी सोने में परिवर्तित कर देता है', इस विचार को आधार मानते हुए पूंजीवाद आर्थिक स्वतन्त्रता, प्रतियोगिता और व्यक्तिगत पूंजी संचय को सदैव प्राथमिकता प्रदान करता है। पूंजीवाद में उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति विशेष का अधिकार रहता है।

साम्यवाद के अनुसार अर्थ पर व्यक्ति का अधिकार नहीं है। उस पर राज्य का अधिकार है। उत्पादन के साधनों पर भी व्यक्ति का नहीं किन्तु राज्य का एकाधिकार है। लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रत्येक साधन उचित है यह साम्यवाद का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रधान सिद्धान्त है। कोई भी व्यक्तिगत पूंजी का संचय नहीं कर सकता। साम्यवादी अर्थव्यवस्था को क्रान्तिकारी समाजवादी आर्थिक व्यवस्था भी कहा जा सकता है। मार्क्स को इस व्यवस्था का जनक माना जाता है।

कोई भी व्यवस्था सर्वथा पूर्ण नहीं होती और न ही सर्वथा भ्रान्त। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में भौतिक साधनों की वृद्धि को ही विकास का आधार माना गया। अर्थ के आधार पर व्यक्ति विशेष का विभाजन हुआ। पूंजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति को अर्थ/धन के बटखरों से तोला जाने लगा। जिसके पास जितना अधिक धन वह उतना ही बड़ा व्यक्ति, इस चिंतन से समाज में आपसी मेल-मिलाप कम हुआ। वैमनस्य के बीज अंकुरित हुए। भाई-भाई का आपस में बंटवारा हो गया। जितनी आर्थिक समृद्धि बढ़ी उतनी ही मानसिक व्यथाएं भी बढ़ गयी। तनाव एवं अशांति भी बढ़ गयी।

साम्यवादी व्यवस्था में मात्र समूह/समाज पर ध्यान केन्द्रित किया गया। व्यक्ति को मात्र यंत्र समझा गया। व्यक्ति का शोषण हुआ, उसकी वैयक्तिकता कुंठित हो गयी। कार्य की अभिप्रेरणा ही समाप्त हो गयी। साम्यवाद में व्यवस्था को तो बदला गया किन्तु व्यक्ति को उपेक्षित कर दिया। फलस्वरूप आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया। व्यक्ति कर्तव्य एवं दायित्व से उन्मुख होने लगा।

अनेकान्त के आलोक में अर्थनीति पर विमर्श करने पर नये तथ्य प्राप्त होते हैं। अनेकान्त की अर्थनीति में व्यक्ति एवं समूह को सापेक्ष महत्त्व दिया जाता है। व्यक्ति की व्यक्तिगत चेतना कुंठित भी न हो कि वह कोई कार्य ही न कर सके और न ही इतनी उच्छृंखल हो कि उसकी उपस्थिति में अन्य की स्वतन्त्रता का/अस्तित्व का ही हनन हो जाये। महावीर अनेकान्त सिद्धान्त के व्याख्याता थे। वे अध्यात्मशास्त्री थे, अर्थशास्त्री नहीं थे किन्तु उनके दर्शन एवं चिंतन के आलोक में एक अभिनव अर्थ-व्यवस्था स्फुरित होती है। अनेकान्त की अर्थव्यवस्था में सर्वोदय की संस्तुति है। आचार्य समन्तभद्र ने सर्वप्रथम सर्वोदय शब्द का प्रयोग किया था। सर्वोदय का तात्पर्य है सबका उदय, प्राणी मात्र का उदय/विकास। प्रस्तुत प्रसंग में सम्पूर्ण मानव जाति की हित चिंता इस सिद्धान्त में निहित है। जीवन के हर पहलू पर सबका समान विकास हो, यह अभिलषणीय है। अनेकान्त की अर्थव्यवस्था विकेन्द्रित होगी। किसी व्यक्ति या समूह के पास अर्थ का एकाधिकार नहीं होगा। जहां सत्ता, सम्पदा एवं शक्ति केन्द्रित होते हैं, व्यक्ति अथवा समूह निष्ठ बन जाते हैं वहां अनेक समस्याओं का जन्म होता है। अनेकान्त की अर्थव्यवस्था में (Wholestic approach) होगी जिससे मर्यादित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं संतुलित अर्थव्यवस्था का विकास होगा।

अर्थशास्त्र का सूत्र है 'आवश्यकता बढ़ाओ, उत्पादन बढ़ेगा।' आर्थिक विकास के लिए इस विचार की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता किन्तु इसे ही एकमात्र सत्य मानना एकान्त है। आर्थिक विकास के चिंतन के साथ आज पर्यावरण की सुरक्षा के संदर्भ में विमर्श आवश्यक है। आर्थिक विकास की होड़ ने प्रकृति का अनावश्यक दोहन किया है फलस्वरूप प्रकृति का संतुलन गड़बड़ा गया है। पर्यावरण का प्रदूषण इस स्थिति में पहुंच गया है जहां मानव का ही नहीं, प्राणी मात्र का अस्तित्व विनाश के कगार पर है। यदि वर्तमान रफ्तार से आर्थिक विकास की ओट में प्रकृति के साथ छेड़छाड़ होती रही तो वह मनहूस दिन दूर नहीं जिस दिन सम्पूर्ण सृष्टि प्रलय की आगोश में होगी। अणुबम से भी अधिक खतरनाक पर्यावरण प्रदूषण की समस्या है।

अनेकान्त का दर्शन इस स्थिति में आलोक स्तम्भ बन सकता है। अनेकान्त की अर्थनीति का प्रथम सूत्र होगा—इच्छा का परिमाण। सामाजिक मनुष्य इच्छा और आवश्यकताओं को समाप्त करके अपने जीवन का निर्वाह नहीं कर सकता। किन्तु इच्छाओं का नियमन तो उसे अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए भी करना होगा। इच्छा परिमाण मात्र धर्म के क्षेत्र का सूत्र नहीं किन्तु पर्यावरण की सुरक्षा का सूत्र है। आज मानवतावादी अर्थशास्त्री कहने लगे हैं कि अच्छा जीवन केवल धार्मिक दृष्टिकोण से ही आवश्यक नहीं है किन्तु मानवता को विनाश से बचाने के लिए अनिवार्य है।

Right living is no longer only the fullfilment of an ethical and religious demand. For the first time in history the physical survival of the human race depends on a redical change of the human heart.

भगवान महावीर अपरिग्रह के प्रवक्ता थे किन्तु उन्होंने सामाजिक व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण अपरिग्रह का सिद्धान्त नहीं दिया। श्रावक के बारह व्रतों में सम्पूर्ण अपरिग्रह का व्रत नहीं है किन्तु इच्छा के नियमन का व्रत है। हमें यह चिंतन करना है कि अर्थ किसके लिए है? अर्थनीति के निर्धारण के केन्द्र में कौन है? व्यक्ति के लिए अर्थ है अथवा अर्थ के लिए व्यक्ति है? सिद्धान्ततः तो सभी यह स्वीकार करते हैं कि अर्थ व्यक्ति के लिए है किन्तु व्यवहार में विपर्यय हो रहा है। व्यक्ति अर्थ पैदा करने की मशीन मात्र बन गया है। अर्थ प्राप्ति की दौड़ में व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाप्त-सी हो गयी। आवश्यकताओं का असीमित दबाव व्यक्ति में शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक तनाव को उत्पन्न कर रहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। बढ़ती हुई आर्थिक प्रतिस्पर्धा ने उच्च रक्तचाप, हार्टअटैक आदि जानलेवा बीमारियों के प्रतिशत को शतगुणित कर दिया है। अतः वर्तमान अर्थनीति पर पुनर्विचार की अत्यन्त अपेक्षा है। आर्थिक विकास के स्वप्निल स्वप्नों में मनुष्य दिग्भ्रमित हो रहा है। अपराध, भ्रष्टाचार, क्रूरता आदि अमानवीय व्यवहार बढ़ते जा रहे हैं। प्रख्यात अर्थशास्त्री 'मेरी सेली' का कहना है—

Science requires not genious but moral wisdom आज नैतिक दृष्टि की अपेक्षा है जिसके द्वारा मानवतावादी अर्थशास्त्र की रचना की जा सके।

आर्थिक विकास के साथ-साथ मानसिक अशांति चरम बिन्दु पर पहुंच रही है। लंदन में १९६८ में Gall-up सर्वे हुआ था। उस सर्वे के दौरान एक प्रश्नावली जनता के सामने प्रस्तुत की और उसके उत्तर प्राप्त किये गये। १९९६ में वैसा ही सर्वे पुनः हुआ और चौंकाने वाले तथ्य सामने आये। १९६८ एवं १९९६ के सर्वे से प्राप्त कुछ आंकड़ों का तुलनात्मक दृष्टि से विश्लेषण करने पर मन की वार्तमानिक स्थिति की भयावहता का आकलन सहज ही हो जाता है। प्रस्तुत है सर्वे के आंकड़े—

	१९६८	१९९६
१. प्रसन्नता घट रही है	३३%	५३%
२. मानसिक अशांति बढ़ रही है	४८%	७६%
३. पारस्परिक व्यवहार खराब हो रहे हैं	६२%	९२%

विभिन्न व्यक्तियों से सन् ६८ एवं ९६ में प्रसन्नता, मानसिक अशांति एवं व्यवहार में वैमनस्य के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में प्राप्त आंकड़े वर्तमान युग की बढ़ी हुई तनावपूर्ण स्थिति को स्पष्ट करने में पर्याप्त हैं। इस युग में आर्थिक विकास के साथ ही मानसिक संताप भी बढ़ा है।

केनीथ क्लार्क ने World Bank और international monetary fund, Washington की संयुक्त मीटिंग में कहा—इंग्लैण्ड की आर्थिक स्थिति बहुत ही सुदृढ़ है। पचास वर्ष तक इसे कोई भी चैलेंज नहीं कर सकता। डेविड निकालसन लोर्ड ने सर्वे के संदर्भ में केनीथ की बात को उद्धृत करते हुए कहा—'Healthy economy but unhealthy society' अर्थ तो बढ़ा है किन्तु उसके साथ मानसिक अशांति चरम शिखर पर है। Objective reality, कार, फ्रिज आदि बढ़े हैं किन्तु Subjective feelings खराब हो रही है। अर्थ की असीम आसक्ति ने सुविधावाद को जन्म दिया है।

स्वस्थ समाज वह होता है जहां न अर्थ का अभाव होता है, न ही प्रभाव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकान्त की अर्थव्यवस्था में अभाव एवं प्रभाव दोनों के मध्य संतुलन होगा। अर्थ के अभाव में जीवन यात्रा चल नहीं सकती। अर्थ का प्रभाव विलासिता को जन्म देता है। अनेकान्त मध्यम मार्ग है। भगवान महावीर ने कहा—सब धर्मों का मूल सम्यक् दर्शन है। अर्थ के सम्बन्ध में भी सम्यक् दृष्टिकोण का जागरण आवश्यक है। अर्थ का असीम प्रभाव जीवन यात्रा को बाधित करता है। भगवान महावीर ने श्रावक के बारह व्रतों का निरूपण किया। बारह ही व्रत स्वस्थ समाज संरचना में महत्त्वपूर्ण योगदान देने में समर्थ है। अर्थव्यवस्था के संदर्भ में अचौर्य-अणुव्रत, इच्छापरिमाण, भोग-उपभोग विरति एवं दिग्व्रत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेकान्त की अर्थव्यवस्था को इन चार व्रतों के आलोक में व्याख्यायित करके अर्थनीति को नया आयाम प्रदान किया जा सकता है।

अनेकान्त की अर्थव्यवस्था में साध्य प्राप्ति में साधन शुद्धि की तरफ ध्यान दिया जायेगा। इच्छाओं के अल्पीकरण का सिद्धान्त इस व्यवस्था का केन्द्रीय बिन्दु होगा। व्यक्तिगत भोग की सीमा का स्वीकार वर्तमान अर्थनीति की विसंगतियों को दूर करने में समर्थ होगा। दिग्व्रत की अवधारणा का मूल्यांकन स्वदेशी की अवधारणा की स्पष्टता में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

इच्छा के आधार पर तीन विभाग किये जा सकते हैं—महेच्छा, अल्पेच्छा एवं अनिच्छा। जिस समाज या व्यक्ति में महेच्छा अर्थात् असीम, अनियंत्रित इच्छा होती है, उसका आकर्षण मात्र भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति की तरफ ही होगा। फलस्वरूप भ्रष्टाचार, अनैतिकता आदि राष्ट्रीय समस्याओं का तथा तनाव, हार्ट अटैक आदि भयंकर शारीरिक समस्याओं का प्रादुर्भाव होगा। महेच्छा के आधार पर निर्मित अर्थशास्त्र हिंसा प्रेरित, स्वार्थ प्रेरित एवं असंयम प्रेरित होगा, जिससे विकास नहीं किन्तु विनाश के द्वार उद्घाटित होंगे। प्रकृति के असंतुलन एवं पर्यावरण प्रदूषण जैसी मानव जाति के अस्तित्व की विनाशक समस्याओं का आविर्भाव होगा जो व्यक्ति को दुःख के सागर में निमज्जित कर देगी।

अनिच्छा अर्थात् इच्छा का अभाव अपरिग्रही श्रमणों का निर्माण कर सकता है। अध्यात्म की पावन स्रोतस्विनी को प्रवाहित कर सकता है किन्तु आदर्श समाज अथवा अर्थव्यवस्था का निर्माण इससे सम्भव नहीं है।

अल्पेच्छा अर्थात् मध्यम मार्ग, न ही इच्छाओं की असीमता तथा न ही इच्छाओं का अभाव किन्तु दोनों के मध्य का मार्ग इच्छा-परिमाण है। इस विचार के आधार पर अनेकान्त की अर्थव्यवस्था का जन्म होगा। जो मानव मात्र के लिए हितावह होगी। मध्यम मार्ग के उपायों के द्वारा गरीब एवं अमीर के बीच

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की दरार को पाटा जा सकेगा। अनेकांत छोटे एवं मध्यम आकार के व्यावसायिक साधनों के द्वारा सम्पूर्ण जगत् के सर्वोदय की विचारधारा से अनुप्राणित अर्थव्यवस्था प्रदान करेगा। पश्चिम के मानवतावादी अर्थशास्त्रियों ने ऐसी प्रकल्पना को आकार प्रदान करने के लिए कुछ प्रयोग भी किये हैं।

समाज व्यवस्था में इच्छा परिमाण एवं वैयक्तिक स्वामित्व की सीमा को मूर्त रूप देने वाला एक अनूठा प्रयोग पश्चिम में श्री अर्नेष्ट बेडर द्वारा 'स्कोट बेडर कम्पनी' को 'स्कोट बेडर-कामनवेल्थ' में बदल कर किया। जिसका उल्लेख शूमाकर की पुस्तक Small is beautiful में हुआ है।

अर्थव्यवस्था को यदि मात्र एकांगी भौतिक उपलब्धियों के आधार पर खड़ा किया गया तो सम्पूर्ण जगत् के विनाश को आमन्त्रण होगा। आज अर्थशास्त्रियों ने अर्थ की कृत्रिम भूख को बढ़ाकर पूरे मानव समाज को संकट में डाल दिया है। आवश्यकताओं की पूर्ति को उचित माना जा सकता है किन्तु कृत्रिम क्षुधा की शांति होना असम्भव है Alvin Toffler ने अपनी पुस्तक Future shock में अति यान्त्रिकी विकास एवं अति प्राद्योगिकी के भयावह परिणामों से आगाह करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि—'भविष्य के भयंकर खतरों के विरोध के लिए हमें परम औद्योगिक समाज के नियोजन में मानवता के पक्ष को केन्द्र में रखना होगा। हमारे राजनैतिक ढांचे के नियोजन में भी मानवीकरण प्रतिबिम्बित होना चाहिये।'

मानव ने अपने आर्थिक विकास के लिए प्रकृति में जीने वाले अन्य प्राणियों के जीवन को उपेक्षित किया। उनका सम्यक् मूल्यांकन नहीं किया। पश्चिम के धर्म के अनुसार प्रकृति का निर्माण मात्र मनुष्य के लिए हुआ है। उस विचार के परिप्रेक्ष्य में पलने वाली अर्थव्यवस्था मनुष्य से इतर किसी को भी मूल्यवत्ता देने को तैयार नहीं है। भारत की संस्कृति में मनुष्य को श्रेष्ठता प्रदान की गयी वह इसलिए नहीं कि वह प्रकृति का उपभोग करने में स्वतन्त्र है बल्कि इसलिए की गयी कि वह हिताहित का विचार कर त्याग चेतना के द्वारा सम्पूर्ण चेतन जगत् के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। भारतीय संस्कृति का केन्द्र मनुष्य नहीं किन्तु वसुधैव-कुटुम्ब की अवधारणा है। टांग खींचने वाली प्रतिस्पर्धा नहीं किन्तु 'परस्परोपग्रह जीवानाम्' का सूत्र है। अनेकान्त उस संस्कृति का संवाहक है।

मनुष्य को ही एकमात्र केन्द्र में रखने वाली विचारधारा को भी पर्यावरण के संकट को देखते हुए आर्थिक विकास के मापदण्डों को पुनर्व्याख्यायित करना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होगा। पर्यावरण के प्रदूषण से मानव जाति का अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो गया है। प्रकृति के सम्पूर्ण स्रोतों का अनावश्यक दोहन करने से वे समाप्त हो जायेंगे तथा ऐसी स्थिति में मानव संतति के अस्तित्व की कल्पना नहीं हो सकेगी। अतः अर्थव्यवस्था के सूत्रों का समाकलन भी विभिन्न दृष्टिकोणों को सामने रखकर सापेक्ष दृष्टि से उस पर विचार करने से ही समस्या का समाधान हो सकता है।

अनेकान्त दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में उद्भूत होने वाली अर्थव्यवस्था संतुलित, व्यक्ति एवं समाजोपयोगी होगी, जिसमें व्यक्ति एवं समाज के साथ-साथ सम्पूर्ण वैश्विक हित को सामने रखा जायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. निक्षेप का उद्भव, विकास और स्वरूप

प्रमाण एवं नय के द्वारा वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है। वस्तु का सम्यक् अवबोध प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम उस वस्तु का नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव रूप में निक्षेपण/स्थापन किया जाता है। नाम, स्थापना आदि में वस्तु को स्थापित कर देने से उस वस्तु का ज्ञान करना सुगम हो जाता है। इस तथ्य को हम उदाहरण से समझ सकते हैं।

१. यथा—किसी भी पदार्थ का कोई न कोई नाम अवश्य होगा। एक पदार्थ विशेष का नाम 'घट' रख दिया यह उस वस्तु का नाम निक्षेप है।

२. पदार्थ का आकाराश्रित व्यवहार स्थापना निक्षेप है। जैसे घट के चित्र को 'घट' कहना यह घट का स्थापना निक्षेप है। किसी पदार्थ विशेष में यह स्थापित कर देना कि यह 'अमुक' है। जैसे किसी कौड़ी, लकड़ी आदि को कहना यह घट है। स्थापना भी दो प्रकार की होती है। घट की आकृति वाली वस्तु को घट कहना सद्भाव स्थापना है तथा लकड़ी, पत्थर आदि घट से असदृश आकार वाले पदार्थ को घट कहना असद्भाव स्थापना है।

३. पदार्थ की अतीत एवं अनागत अवस्था में 'अमुक' शब्द का प्रयोग करना द्रव्य निक्षेप है। जैसे—घट की पूर्व पर्याय मिट्टी को घट कहना अथवा घट की उत्तर पर्याय कपाल को घट कहना द्रव्य घट निक्षेप है।

४. विवक्षित कार्यापन्न पदार्थ के लिए उस शब्द विशेष का प्रयोग करना भाव निक्षेप है। जैसे जल आदि लाने की क्रिया में प्रयुक्त अर्थ को ही घट कहना।

'यह घट है'—इस वाक्य की व्याख्या में कम से कम चार प्रश्न उपस्थित होते हैं। यह घट किं रूप है—किसी का नाम घट है उसको यहां घट कहा जा रहा है अथवा किसी पदार्थ विशेष में घट की स्थापना करके उसे घट कह रहे हो अथवा जो वास्तविक घट है उसकी पूर्व या उत्तर पर्याय को घट कह रहे हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या जो पदार्थ वर्तमान में जल आदि लाने के काम में आ रहा है उस पदार्थ को घट कह रहे हो।

घट शब्द का प्रयोग इन विभिन्न परिस्थितियों में हुआ है। इन सारी परिस्थितियों में प्रयुक्त शब्द का किस संदर्भ में प्रस्तुत प्रकरण में प्रयोग हुआ है, इसका बोध निक्षेप के द्वारा होता है। सविशेषण शब्द प्रयोग के द्वारा निक्षेप प्रासंगिक अर्थ का ज्ञान करवा देता है। इस निक्षेप पद्धति का जैन साहित्य में बहुलता से प्रयोग हुआ है। निक्षेप जैन परम्परा की मौलिक अवधारणा है। जैनाचार्यों ने निक्षेप पद्धति का आविष्कार क्यों किया? इसके प्रादुर्भाव की पृष्ठभूमि में क्या कारण मौजूद थे? निक्षेप के विचार का विकास किस तरह हुआ? निक्षेप का स्वरूप, परिभाषा, भेद, उसके लाभ क्या हैं? इत्यादि निक्षेप सिद्धान्त से सम्बन्धित विभिन्न विषयों की प्रस्तुत निबन्ध में विचारणा होगी।

निक्षेप का उद्भव

द्रव्य अनन्तपर्यायात्मक होता है। उन अनन्त पर्यायों को जानने के लिए अनन्त शब्द आवश्यक है। शब्दकोश में शब्द बहुत सीमित है। हम संकेत विधि के अनुसार एक शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पाठक अथवा श्रोता विवक्षित अर्थ को पकड़ नहीं पाता है, फलतः अनिर्णय की स्थिति बन जाती है। उस अनिर्णय की स्थिति का निराकरण करने के लिए जैनाचार्यों ने निक्षेप विधि का आविष्कार किया। निक्षेप का उद्भव व्यवहार की सम्यक् संयोजना के लिए हुआ। व्यवहार की सम्यक् योजना करने के लिए जिस पद्धति का अनुसरण किया जाता है उसको निक्षेप कहते हैं। निक्षेप का प्रयोजन है—वाक्य रचना का ऐसा विन्यास जिससे पाठक अथवा श्रोता विवक्षित अर्थ को ग्रहण कर सके। इसके लिए प्रत्येक पर्याय के लिए विशेषण युक्त वाक्य रचना अपेक्षित है। निक्षेप पद्धति में एक शब्द की अनेक संदर्भों में जानकारी मिलती है।

मनुष्य ज्ञाता है और पदार्थ ज्ञेय है। ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है? यह एक दार्शनिक प्रश्न है। इस प्रश्न को जैन दर्शन में निक्षेप पद्धति द्वारा सुलझाया गया है। हमारा ज्ञान परोक्ष है, इसलिए हम किसी भी वस्तु को सर्वात्मना साक्षात् नहीं जान सकते। हम उसे किसी माध्यम से ही जानते हैं। माध्यम के द्वारा ज्ञाता का ज्ञेय के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है। माध्यम की शृंखला में प्रमुख तत्त्व दो हैं—नाम और रूप। वस्तु का ज्ञाता के ज्ञान में अवतरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने के लिए या तो वस्तु का नाम में निक्षेपण करना होता है अथवा किसी रूप या आकृति में।

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। हम उस अखण्ड वस्तु को नहीं जान सकते। उसे किसी एक पर्याय के माध्यम से जानते हैं। काल की दृष्टि से उसके तीन पर्याय हैं—भूतपर्याय, भावीपर्याय और वर्तमान पर्याय। भूतपर्याय एवं भावी पर्याय में भी वस्तु का उपचार या निक्षेपण किया जाता है। इन पर्यायों का सम्यक् ज्ञान करने के लिए विवक्षित वस्तु के पीछे विशेषण का प्रयोग किया जाता है जैसे—ज्ञशरीर द्रव्य और भावी शरीर द्रव्य। इन दोनों अवस्थाओं में चेतना की प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए ये पर्याय द्रव्य निक्षेप कहलाती हैं। जिस क्रिया के साथ चेतना जुड़ी रहती है उसे भाव कहा जाता है।

निक्षेप का विकास क्रम

क्षेत्र, काल आदि अनेक धर्म हैं। उनमें वस्तु का आरोपण किया जाता है। इसलिए निक्षेप अनेक बनते हैं। वस्तु के आन्तरिक और बाह्य जितने धर्म हैं उतने ही निक्षेप हो सकते हैं। इसलिए सूत्रकार ने निक्षेप संख्यातीत बताये हैं। उत्तराध्ययन निर्युक्ति में 'उत्तर' शब्द के पन्द्रह निक्षेप किये गये हैं—

> नामं ठवणा दविए खित्त दिसा तावखित्त पन्नवए।
> पइकालसंचयपहाणनाणकमगणणओ भावे ॥

आचारांगनिर्युक्ति में तथा कषायपाहुड़ में कषाय शब्द के आठ निक्षेप किये हैं—

> णामं ठवणा दविए उप्पत्ती पच्चए य आएसो।
> रसभावकसाए या तेण य कोहाइया चउरो ॥
>
> आचारांगनिर्युक्ति, १६०

> कसाओ ताव णिक्खिवियव्वो णामकसाओ ठवणकसाओ
> दव्वकसाओ पच्चयकसाओ समुत्पत्तिकसाओ आदेसकसाओ
> रसकसाओ भावकसाओ चेदि।
>
> कषायपाहुड़ २५७

निक्षेप का वस्तु अवबोध में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस वस्तु में जितने निक्षेप किये जा सके उतने करने चाहिए किन्तु कम से कम चार निक्षेपों का प्रयोग अवश्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया जाये। नाम और स्थापना के बिना वस्तु की पहचान नहीं होती। वस्तु की पहचान के लिए निक्षेप आवश्यक है। इस प्रकार नाम, रूप और अवस्था में वस्तु का निक्षेपण करना न्यूनतम अपेक्षा है। निक्षेप के इन चार प्रकारों का ही प्रयोग ग्रन्थों में बहुलतया उपलब्ध होता है।

जिनभद्रगणि ने एक ही वस्तु में चार पर्यायों की संयोजना की है—

अहवा वत्थूभिहाणं णामं ठवणा य जो तयागारो।
कारणया से दव्वं कज्जावन्नं तयं भावो ॥

विभा, ६०

वस्तु का नाम अपना अभिधान नाम निक्षेप है। वस्तु का अपना आकार स्थापना निक्षेप है। वस्तु का जो कारण है वह द्रव्य निक्षेप है। कार्यरूप में विद्यमान वस्तु भाव निक्षेप है। घड़े का 'घट' नाम नामनिक्षेप है। घट का पृथु, बुघ्न, उदर आकार है वह स्थापना निक्षेप है। मृत्तिका घट का अतीतकालीन पर्याय है, कपाल घट का भविष्यकालीन पर्याय है। ये दोनों पर्याय घट पर्याय से शून्य होने के कारण द्रव्य निक्षेप है। कार्यापन्न पर्याय अर्थात् घट रूप में परिणत पर्याय भाव निक्षेप है।

उत्तराध्ययन सूत्र की शान्त्याचार्यवृत्ति में कहा गया नाम, स्थापना द्रव्य और भाव—इन चार निक्षेपों में सब निक्षेपों का समावेश हो जाता है। जहां कहीं इनसे अधिक निक्षेपों का प्रयोग होता है, उसके दो प्रयोजन हैं—

१. शिक्षार्थी की बुद्धि को व्युत्पन्न करना, २. सब वस्तुओं के सामान्य, विशेष और उभयात्मक अर्थ का प्रतिपादन करना। नाम आदि निक्षेपों के माध्यम से शास्त्र का प्रतिपादन और ग्रहण सहज हो जाता है—

भण्णइ घिप्पइ य सुहं निक्खेव पयाणुसारओ सत्थं।

धवला में निक्षेप की उपयोगिता के चार कोण बतलाए हैं—

१. अव्युत्पन्न श्रोता यदि पर्यायार्थिक दृष्टि वाला है तो अप्रकृत अर्थ का निराकरण करने के लिए निक्षेप करना चाहिये।

२. यदि वह द्रव्यार्थिक दृष्टि वाला है तो प्रकृत अर्थ का निरूपण करने के लिए निक्षेप करना चाहिये।

३. यदि व्युत्पन्न होने पर भी संदिग्ध है तो उसके संदेह का निराकरण करने के लिए निक्षेप करना चाहिये।

४. यदि वह विपर्यस्त है तो तत्वार्थ-निश्चय के लिए निक्षेप करना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुयोगद्वार सूत्र में सामायिक अध्ययन के चार अनुयोगद्वार बताये हैं—उपक्रम, निक्षेप, अनुगम एवं नय। अनुयोग का अर्थ अध्ययन के अर्थ की प्रतिपादन पद्धति है अर्थात् सूत्र की व्याख्या-पद्धति को अनुयोग कहा जाता है। जिस नगर के द्वार नहीं होता वह नगर वास्तव में नगर ही नहीं होता। एक द्वार वाले नगर में जाना-आना कठिन होता है। कार्यसिद्धि में विलम्ब होता है। चार प्रवेश द्वार होने पर जाना-आना सरल हो जाता है, कार्य बेला का अतिक्रमण नहीं होता। वैसे ही व्याख्या के चार द्वार होने से सूत्र की जानकारी सुगम हो जाती है।

अनुयोगद्वारसूत्र में प्रथम उपक्रम द्वार की व्याख्या करते हुए उपक्रम के छह प्रकार बतलाये हैं—१. नाम उपक्रम, २. स्थापना उपक्रम, ३. द्रव्य उपक्रम, ४. क्षेत्र उपक्रम, ५. काल उपक्रम और ६. भाव उपक्रम।

निक्षेप के विकासक्रम की दृष्टि से यह मननीय तथ्य है कि इसी सूत्र में आवश्यक, श्रुत एवं स्कन्ध इन शब्दों के चार-चार निक्षेप किये गये हैं जबकि सामायिक अध्ययन के चार अनुयोगद्वार बतलाकर प्रथम उपक्रम द्वार के छः भेद किये हैं उनमें चार प्रकार तो वे ही हैं जो निक्षेप के हैं तथा क्षेत्र और काल ये दो अतिरिक्त हैं। एक विशेष बात यह भी है कि उपक्रम के भेदों की विवेचना निक्षेप जैसी ही है। यहां एक जिज्ञासा उठनी स्वाभाविक ही है कि जब अनुयोगद्वार के रूप में निक्षेप एवं उपक्रम को अलग-अलग द्वार माना गया है तब निक्षेप के भेदों को ही उपक्रम के भेद क्यों माना गया? तथा उस प्रसंग में निक्षेप की चर्चा भी क्यों नहीं है?

इसी सूत्र में प्रकारान्तर से उपक्रम के छः अन्य प्रकारों का भी उल्लेख है। उन छः प्रकारों में पहला प्रकार है—आनुपूर्वी। उस आनुपूर्वी के दश प्रकारों का वर्णन है। उन दश प्रकारों में चार तो वे ही नाम हैं जो निक्षेप के भेद हैं तथा उनकी व्याख्या भी निक्षेप जैसी ही है। इस सम्पूर्ण चर्चा से ऐसा प्रतीत होता है कि निक्षेप उपक्रम का ही एक प्रकार है जबकि ग्रन्थ में इसका उपक्रम की तरह ही पृथक् द्वार माना है, उसका कुछ स्थानों पर पृथक् उल्लेख एवं वर्णन भी है किन्तु उपक्रम के प्रसंग में निक्षेप का उसमें ही अन्तर्भाव कर दिया है। जिससे प्रतीत होता है इस सूत्र रचना तक निक्षेप का स्वतंत्र एवं उपक्रम दोनों रूप से प्रयोग होता रहा है। यद्यपि इस सूत्र में उपक्रम के छः भेद हैं एवं उनके अनेक प्रभेद प्राप्त है जबकि निक्षेप के चार ही भेद उपलब्ध है तथा उनके अन्य प्रभेद भी उपलब्ध है। यह भी द्रष्टव्य है जहां निक्षेप के द्वारा आवश्यक आदि की स्वतंत्र व्याख्या की है वहां उपक्रम से व्याख्या नहीं की है तथा उपक्रम से जहां व्याख्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की है वहां निक्षेप का उसमें ही अन्तर्भाव कर दिया है। उत्तरकालीन ग्रन्थों में उपक्रम की अपेक्षा निक्षेप ही अधिक व्यवहृत हुआ है तथा निक्षेप के नाम, स्थापना आदि चार भेदों का ही मुख्यतया सभी आचार्यों ने प्रयोग किया है। निर्युक्ति साहित्य, अनुयोगद्वार एवं भाष्य आदि ग्रन्थों में जिस विस्तार से निक्षेप पद्धति का प्रयोग हुआ है, उनके परवर्ती ग्रन्थों में निक्षेप का वैसा विस्तार से उल्लेख नहीं हुआ है। निक्षेप को सीमित कर दिया गया। एक समय में निक्षेप जैन आगमों के पढ़ने की विधि थी वर्तमान में वह स्वयं मात्र सिद्धान्त के रूप में पढ़ी जाती है। उस विधि से पढ़ने की परम्परा आज प्रचलित नहीं है।

जैन आगमों की व्याख्या के संदर्भ में निक्षेप पद्धति का बहुलता से प्रयोग हुआ है। अनुयोगद्वार सूत्र में 'आवश्यक', 'श्रुत', स्कन्ध आदि शब्द के अर्थ विमर्श के प्रसंग में निक्षेप का प्रयोग विस्तार से हुआ है। निक्षेप के द्वारा ग्रन्थकार प्रतिपाद्य के हार्द को हृदयंगम कराने में समर्थ हो जाता है। निक्षेप के भेद-प्रभेद एवं स्वरूप विमर्श के द्वारा यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा।

व्यवहार जगत् में भाषा की अनिवार्यता है। भाषा के अभाव में व्यवहार का संवहन दुष्कर है किन्तु भाषा की अपनी कुछ सीमाएं हैं, विवशताएं हैं फलस्वरूप वक्ता अपने अभिलषित को अभिव्यञ्जित करने में असमर्थता का अनुभव करता है। भाषा एवं वक्ता की इन समस्याओं का समाधान जैन परम्परा में निक्षेप-व्यवस्था के द्वारा करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया गया है।

वस्तु स्वरूपतः अनन्त धर्मात्मक है। उस अनन्त धर्मात्मक वस्तु का अवबोध प्रमाण एवं नय के द्वारा होता है। प्रमाण एवं नय के विषयभूत जीव आदि पदार्थों का नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव इन चार निक्षेपों से न्यास किया जाता है। तत्वार्थसूत्र में कहा गया—'नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः' वस्तु के सम्यक् संबोध में प्रमाण, नय एवं निक्षेप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके बिना सम्यक् प्रमेय व्यवस्था हो ही नहीं सकती।

निक्षेप की आवश्यकता

व्यवहार जगत् में भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहां परस्पर एक-दूसरे से संवाद स्थापित करना होता है, वहां शब्द अत्यन्त अपेक्षित हैं और एक ही शब्द एकाधिक वस्तु एवं उनकी अवस्थाओं के ज्ञापक होने से उनके प्रयोग में भ्रम की स्थिति पैदा हो जाती है, वस्तु का यथार्थ बोध दुरूह हो जाता है। निक्षेप के द्वारा भाषा प्रयोग की उस दुरूहता का सरलीकरण हो जाता है। निक्षेप भाषा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोग की निर्दोष प्रणाली है। निक्षेप के रूप में जैन परम्परा का भाषा जगत् को महत्त्वपूर्ण अवदान है।

निक्षेप की परिभाषा

ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि निक्षेप पद्धति का प्रयोग, निक्षेप शब्द का प्रयोग उसके भेद-प्रभेदों का उल्लेख भगवती, अनुयोगद्वार, निर्युक्ति साहित्य आदि में उपलब्ध है किन्तु निक्षेप की अर्थ मीमांसा, निर्वचन, परिभाषा आदि सर्वप्रथम विशेषावश्यक भाष्य में उपलब्ध है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण निक्षेप का निर्वचन करते हुए कहते हैं—

निक्खप्पइ तेण तहिं तओ व निक्खेवणं व निक्खेवो।
नियओ व निच्छिओ वा खेवो नासो त्ति जं भणियं ॥
विभा., ९१२

अर्थात् पद को निश्चित अर्थ में स्थापित करना—अमुक-अमुक अर्थ के लिए शब्द का निक्षेपण करना निक्षेप है। वह क्षेपण नियत या निश्चित होता है अतः उसे न्यास कहा जाता है।

अनुयोगद्वार चूर्णि में अर्थ की भिन्नता के विज्ञान को निक्षेप कहा है—'निक्खेवो अत्थभेदन्यासः'। भाष्यकार ने निक्षेप की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा—जिस वस्तु के नाम आदि भेदों में शब्द (वाचक) अर्थ (वाच्य) और बुद्धि (ज्ञान) इन तीनों की परिणति होती है, वह निक्षेप है। सम्पूर्ण वस्तुएं लोक में निश्चित ही नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार पर्यायों से युक्त हैं।

नामाइ भेयसद्दत्थबुद्धिपरिणमभावओ नियय।
जं वत्थुमत्थि लोए चउपज्जायं तयं सव्वं ॥
विभा., ७३

निक्षेप जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। निक्षेप का पर्यायवाची शब्द न्यास है जिसका प्रयोग तत्वार्थसूत्र में हुआ है। न्यासो निक्षेपः। निक्षेप की जैन ग्रन्थों में अनेक परिभाषाएं उपलब्ध हैं। बृहद् नयचक्र में निक्षेप को परिभाषित करते हुए कहा गया—

जुत्ती सुजुत्तमग्गे जं चउभेयेण होइ खलु ठवणं।
वज्जे सदि णामादिसु तं णिक्खेवं हवे समये ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युक्तिपूर्वक प्रयोजन युक्त नाम आदि चार भेद से वस्तु को स्थापित करना निक्षेप है। धवला में निक्षेप को परिभाषित करते हुए कहा--'संशयविपर्यये अनध्यवसाये वा स्थितस्तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः।' संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय में स्थित वस्तु को उनसे हटाकर निश्चय में स्थापित करना निक्षेप है अर्थात् निक्षेप वस्तु को निश्चयात्मकता एवं निर्णायकता के साथ प्रस्तुत करता है। जैनसिद्धान्तदीपिका में भी यही भाव अभिव्यञ्जित है--'शब्देषु विशेषणबलेन प्रतिनियतार्थप्रतिपादन-शक्तेर्निक्षेपणं निक्षेपः' शब्दों में विशेषण के द्वारा प्रतिनियत अर्थ का प्रतिपादन करने की शक्ति निहित करने को निक्षेप कहा जाता है। निक्षेप पदार्थ और शब्द प्रयोग की संगति का सूत्रधार है। निक्षेप भाव और भाषा, वाच्य और वाचक की सम्बन्ध पद्धति है। संक्षेप में शब्द और अर्थ की प्रासंगिक सम्बन्ध संयोजना को निक्षेप कहा जा सकता है। निक्षेप के द्वारा पदार्थ की स्थिति के अनुरूप शब्द संयोजना का निर्देश प्राप्त होता है। निक्षेप सविशेषण, सुसम्बद्ध भाषा का प्रयोग है।

निक्षेप का लाभ

प्रत्येक शब्द में असंख्य अर्थों को द्योतित करने की शक्ति होती है। एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। वह अनेक वाच्यों का वाचक बन सकता है, ऐसी स्थिति में वस्तु के अवबोध में भ्रम हो सकता है। निक्षेप के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ को दूर कर प्रस्तुत अर्थ का बोध कराया जाता है। अप्रस्तुत का अपाकरण एवं प्रस्तुत का प्रकटीकरण ही निक्षेप का फल है। लघीयस्त्रयी में यही भाव अभिव्यञ्जित हुए हैं--'अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान्।'

निक्षेप के भेद

पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है अतः विस्तार में जायें तो कहना होगा कि वस्तु विन्यास के जितने प्रकार हैं उतने ही निक्षेप के भेद हैं किन्तु संक्षेप में चार निक्षेपों का निर्देश प्राप्त होता है। अनुयोगद्वार में भी कहा गया है--

'जत्थ य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं।
जत्थ वि य न जाणेज्जा चउक्कगं निक्खिवे तत्थ॥

जहां जितने निक्षेप ज्ञात हों वहां उन सभी का उपयोग किया जाये और जहां अधिक निक्षेप ज्ञात न हों वहां कम से कम नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव इन चार निक्षेपों का प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थ का कोई न कोई नाम तथा आकार होता है तथा उसके भूत, भावी एवं वर्तमान पर्याय होते हैं अतः निक्षेप चतुष्टयी पदार्थ में स्वतः फलित होती है। पदार्थ के नाम के आधार पर नाम निक्षेप, आकार के आधार पर स्थापना, भूत, भावी पर्याय के आधार पर द्रव्य एवं वर्तमान पर्याय के आधार पर भाव निक्षेप का निर्धारण होता है। निक्षेप काल्पनिक नहीं है अपितु वस्तु के स्वरूप पर आधारित यथार्थ है। नाम आदि चारों निक्षेपों का संक्षिप्त विवेचन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

नाम-निक्षेप

वस्तु का इच्छानुसार अभिधान किया जाता है, वह नाम निक्षेप है। नाम मूल अर्थ से सापेक्ष या निरपेक्ष दोनों प्रकार का हो सकता है, किन्तु जो नामकरण संकेतमात्र से होता है, जिसमें जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया, लक्षण आदि निमित्तों की अपेक्षा नहीं होती है वह नाम निक्षेप है। एक अनक्षर व्यक्ति का नाम अध्यापक रख दिया। एक गरीब का नाम लक्ष्मीपति रख दिया। अध्यापक और लक्ष्मीपति का जो अर्थ होना चाहिये वह उनमें नहीं मिलता इसलिए ये नाम निक्षिप्त कहलाते हैं। नाम निक्षेप में शब्द के अर्थ की अपेक्षा नहीं रहती है। जैन-सिद्धान्त-दीपिका में नाम निक्षेप को परिभाषित करते हुए कहा गया—'तदर्थनिरपेक्षं संज्ञाकर्मनाम।' मूल शब्द के अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले संज्ञाकरण को नाम निक्षेप कहा जाता है। जैसे—'अनक्षरस्य उपाध्याय इति नाम।' प्रत्येक अर्थवान् शब्द नाम कहलाता है। उसके द्वारा पदार्थ का ज्ञान होता है। पदार्थ और नाम में वाच्य वाचक सम्बन्ध होने के कारण प्रत्येक नाम निक्षेप बन जाता है। वस्तु का कोई भी नाम रखा जा सकता है। उस नाम के साथ अर्थ की संगति आवश्यक नहीं है। यह नाम विवक्षित अर्थ से निरपेक्ष होने के कारण मूल अर्थ से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं होता है। नाम किसी एक संकेत के आधार पर किया जाता है इसलिए इसका कोई पर्यायवाची शब्द नहीं होता है। नामकरण करने में मूल अर्थ की अपेक्षा न हो फिर भी वैसा नामकरण किया जा सकता है इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर जिनभद्रगणि ने नाम को यादृच्छिक बतलाया है।

स्थापना-निक्षेप

पदार्थ का आकाराश्रित व्यवहार स्थापना निक्षेप है। मूल अर्थ से शून्य वस्तु को उसी अभिप्राय से स्थापित करने को स्थापना निक्षेप कहा जाता है—'तदर्थशून्यस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदभिप्रायेण प्रतिष्ठापनं स्थापना।' अर्थात् जो अर्थ तद्रूप नहीं है उसको तद्रूप मान लेना स्थापना निक्षेप है। जैसे—उपाध्यायप्रतिकृतिः स्थापनोपाध्यायः।'

स्थापना सद्भाव एवं असद्भाव के भेद से दो प्रकार की होती हैं अतः स्थापना निक्षेप भी दो प्रकार का हो जाता है।

१. सद्भाव स्थापना—एक व्यक्ति अपने गुरु के चित्र को गुरु मानता है। यह सद्भाव स्थापना है—'मुख्याकारसमाना सद्भावस्थापना।'

२. असद्भाव स्थापना—एक व्यक्ति ने शंख आदि में अपने गुरु का आरोप कर लिया, यह असद्भाव स्थापना है। 'तदाकारशून्या चासद्भावस्थापना।'

पदार्थ का नामकरण करने के पश्चात् 'यह वही है'—इस अभिप्राय से उसकी व्यवस्थापना करने का अर्थ है—स्थापना। न्यायकुमुदचन्द्र में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—'स्थाप्यते इति स्थापना प्रतिकृतिः, सा च आहितनामकस्य अध्यारोपितनामकस्य द्रव्यस्य इन्द्रादेः 'सोऽयम्' इत्यभिसंधानेन व्यवस्थापना'

विवक्षित अर्थ से शून्य आकृति को उस अभिप्राय से स्थापित करना स्थापना है। स्थापना निक्षेप में विवक्षित अर्थ को सदृश और असदृश दोनों प्रकार की आकृतियों में स्थापित किया जा सकता है। अनुयोगद्वार में सदृश आकृतियों के लिए काष्ठकर्म आदि का उल्लेख हुआ है। मनुष्य, पशु या किसी अन्य वस्तु की काष्ट निर्मित आकृति का नाम काष्ठकर्म है। काष्ठ की प्रतिमा शिल्प के वैशिष्ट्य से यथार्थ जैसी दिखाई देती है। इनको सद्भाव स्थापना कहा जाता है। असदृश आकृतियों के लिए अक्ष, वराटक आदि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। पासों और कौड़ियों को भी प्रतीक मानकर स्थापित करने की परम्परा रही है। इसी कारण स्थापना आवश्यक के वर्णन में अनुयोगद्वार में काष्ठकर्म आदि की तरह अक्ष का भी ग्रहण हुआ है। प्रश्न हो सकता है कि प्रतीक तो कोई भी वस्तु बन सकती है फिर अक्ष आदि का ही उल्लेख क्यों? इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि शंख, कौड़ा आदि वस्तुओं को लौकिक दृष्टि से मंगल माना जाता है। मांगलिक वस्तुओं को प्रतीक बनाने से मानसिक तुष्टि भी रहती है इसलिए असद्भाव स्थापना के उदाहरण में इनका उल्लेख होता रहा है।

नयचक्र में स्थापना के दो अन्य प्रकार निर्दिष्ट हैं—साकार और निराकार। प्रतिमा में अर्हत् की स्थापना साकार स्थापना है तथा केवलज्ञान आदि क्षायिक गुणों में अर्हत् की स्थापना करना निराकार स्थापना है—

'सायार इयर ठवणा कित्तिम इयरा हु बिंबजा पढमा।
इयरा खाइय भणिया ठवणा अरिहो य णायव्वो ॥ (नयचक्र २७४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम और स्थापना दोनों ही वास्तविक नहीं है फिर इन दोनों में क्या अन्तर है? आचार्य हरिभद्र ने इनमें कालकृत भेद माना है। नाम तब तक रहता है, जब तक उससे सम्बद्ध द्रव्य का अस्तित्व है। स्थापना अल्पकालिक भी होती है और द्रव्य के अस्तित्व के साथ जुड़ी हुई भी है। आज जो अक्ष आवश्यक क्रिया करते हुए साधु के लिए स्थापित हो सकता है कालान्तर में वह अन्य किसी के लिए भी हो सकता है। जबकि नाम में इस प्रकार का बदलाव नहीं होता। दूसरा कारण यह भी है कि नाम निराकार होता है पर स्थापना में कोई न कोई आकार होता है।

नाम और स्थापना की चर्चा में एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि स्थापना की भांति नाम भी परिवर्तित हो सकता है फिर इसे यावज्जीवन क्यों माना गया? नाम के दो रूप हैं—नक्षत्र के आधार पर निर्धारित नाम और बोलचाल का नाम। नक्षत्र से सम्बन्धित नाम अपरिवर्तनीय होता है। व्यक्ति के जीवन की अनेक बातों का निर्णय इसी नाम के आधार पर किया जाता है। जो नाम बदल जाता है वह उपनाम होता है कुछ व्यक्तियों के नाम एक से अधिक होते हैं। आगमों में भगवान महावीर के अनेक नामों का उल्लेख है। यहा उपनामों और पर्यायवाची नामों की विवक्षा नहीं है।

अनुयोगद्वार का मन्तव्य है कि नाम यावत्कथित अर्थात् स्थायी होता है। स्थापना अल्पकालिक एवं स्थायी दोनों प्रकार की होती है। विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार नाम मूल अर्थ से निरपेक्ष और यादृच्छिक अर्थात् इच्छानुसार संकेतित होता है। स्थापना मूल पदार्थ के अभिप्राय से आरोपित होती है।

मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार मेरु, द्वीप, समुद्र आदि के नाम यावत् द्रव्यभावी होते हैं। देवदत्त आदि के नामों का परिवर्तन भी होता है।

नाम और स्थापना दोनों वास्तविक अर्थ से शून्य होते हैं। नाम और स्थापना में एक अन्तर यह भी है कि जिसकी स्थापना होती है उसका नाम अवश्य होता है किन्तु नाम निक्षिप्त की स्थापना होना आवश्यक नहीं है।

द्रव्य निक्षेप

पदार्थ का भूत एवं भावी पर्यायाश्रित व्यवहार तथा अनुयोग अवस्थागत व्यवहार द्रव्य निक्षेप है—ये तीनों विवक्षित क्रिया में परिणत नहीं होते हैं, इसलिए इन्हें द्रव्य निक्षेप कहा जाता है।

जो व्यक्ति पहले उपाध्याय रह चुका है अथवा भविष्य में उपाध्याय बनने वाला है, वह द्रव्य उपाध्याय है। अनुपयोग दशा में की जाने वाली क्रिया भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यक्रिया है। द्रव्य शब्द का प्रयोग अप्रधान अर्थ में भी होता है, जैसे—आचार गुण शून्य होने से अंगारमर्दक को द्रव्याचार्य कहा जाता है।

अनुयोगद्वार में द्रव्य निक्षेप के दो प्रकार बताए गये हैं—आगमतः एवं नो आगमतः।

आगमतः द्रव्य निक्षेप—'जीवादिपदार्थज्ञोऽपि तत्राऽनुपयुक्तः।' कोई व्यक्ति जीव विषयक अथवा अन्य किसी वस्तु का ज्ञाता है किन्तु वर्तमान में उस उपयोग से रहित है उसे आगमतः द्रव्य निक्षेप कहा जाता है।

नोआगमतः द्रव्य निक्षेप—आगम द्रव्य की आत्मा का उसके शरीर में आरोप करके उस जीव के शरीर को ही ज्ञाता कहना नोआगमतः द्रव्यनिक्षेप है।

आगमतः द्रव्यनिक्षेप में उपयोग रूप ज्ञान नहीं होता किन्तु लब्धि रूप में ज्ञान का अस्तित्व रहता है किन्तु नो आगमतः में लब्धि एवं उपयोग उभय रूप से ही ज्ञान का अभाव रहता है।

नोआगमतः द्रव्यनिक्षेप मुख्यरूप से तीन प्रकार का है—१. ज्ञशरीर, २. भव्यशरीर एवं ३. तद्व्यतिरिक्त। इनके भेद-प्रभेद अनेक हैं।

१. **ज्ञशरीर**—जिस शरीर में रहकर आत्मा जानता, देखता था वह ज्ञशरीर है। जैसे—आवश्यकसूत्र के ज्ञाता की मृत्यु हो जाने के बाद भी पड़े हुए शरीर को देखकर कहना यह आवश्यकसूत्र का ज्ञाता है।

२. **भव्यशरीर**—जिस शरीर में रहकर आत्मा भविष्य में ज्ञान करने वाली होगी वह भव्यशरीर है। जैसे—जन्मजात बच्चे को कहना यह आवश्यकसूत्र का ज्ञाता है।

३. **तद्व्यतिरिक्त**—वस्तु की उपकारक सामग्री में वस्तुवाची शब्द का व्यवहार किया जाता है, यह तद्व्यतिरिक्त है। जैसे—अध्यापन के समय होने वाली हस्त संकेत आदि क्रिया को अध्यापक कहना। लौकिक, कुप्रावचनिक एवं लोकोत्तर के भेद से यह तीन प्रकार का है।

तद्व्यतिरिक्त का लौकिक, कुप्रावचनिक एवं लोकोत्तर यह सापेक्ष वर्गीकरण है। इसमें आवश्यक क्रिया करने वाले व्यक्तियों को तीन वर्गों में संग्रहीत किया गया है। प्रथम वर्ग लौकिक या सामाजिक है। शेष दो वर्ग धर्म की आराधना करने वाले व्यक्तियों के हैं। जैन दृष्टि से एकान्तवाद को कुप्रवचन माना गया है। जितनी भी एकान्तवादी विचारधारा है वह जैन दृष्टि के अनुसार 'कुप्रावचनिक' इस वर्गीकरण में समाहित है। लोकोत्तर वर्ग में मात्र अनेकान्त प्रवचन का संग्रह होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य निक्षेप तत्पर्याय परिणत और तत्पदार्थोपयुक्त नहीं होता है इसलिए वह वर्तमान पर्याय सेशून्य एवं ज्ञान पर्याय से शून्य है। द्रव्य के अनेक अर्थ होते हैं। जिसमें भूतकालीन पर्याय की योग्यता थी, भविष्यकालीन पर्याय की योग्यता होगी, उसका नाम है द्रव्य। उदाहरणस्वरूप जिस घट में घी था और वर्तमान में वह खाली है वह भूतकालीन पर्याय की अपेक्षा घट, घट है।

द्रव्य निक्षेप के आगमतः (ज्ञानात्मक) पक्ष पर सात नयों से विचार किया गया है। नैगम नय का विषय सामान्य और विशेष दोनों हैं इसलिए उसके अनुसार द्रव्यावश्यक एक, दो, तीन यावत् लाख करोड़ कितने ही हो सकते हैं। जितने अनुपयुक्त हैं वे सब द्रव्यावश्यक हैं। व्यवहार नय का विषय है विशेष अथवा भेद। यह नय लोक व्यवहार को मान्य करता है इसलिए इसमें भी नैगम नय की भांति द्रव्यावश्यक की संख्या का निर्देश किया जा सकता है। संग्रह नय का विषय है—सामान्य। इसलिए उसमें द्रव्यावश्यक का राशिकरण हो सकता है जैसे एक द्रव्यावश्यक और अनेक द्रव्यावश्यकों की राशि अर्थात् संग्रह नय के अनुसार अनेक का अस्तित्व ही नहीं है वह एक को ही स्वीकार करता है, अनेक होंगे वहां पर भी उनको समूह रूप मे एक ही स्वीकार करेगा अतः संग्रह नय के अनुसार द्रव्यावश्यक एक ही होगा। ऋजुसूत्र नय का विषय है—पर्याय। इसलिए उसके अनुसार एक अनुपयुक्त व्यक्ति आगमतः द्रव्यावश्यक है, बहुवचन इसे मान्य नहीं है। तीनों शब्द नयों का विषय है—शब्द। उनके अनुसार कोई व्यक्ति जानता है और उपयुक्त नहीं है—ऐसा हो नहीं सकता। अतः इन तीनों को आगमतः द्रव्यावश्यक मान्य नहीं है।

उपर्युक्त विषय 'अनुयोगद्वार सूत्र' में विवेचित हुआ है। वहां 'आवश्यक' शब्द के नाम, स्थापना आदि चार निक्षेप किये हैं। आवश्यक की आगमतः द्रव्य निक्षेप के संदर्भ में चर्चा करते हुए वहां पर द्रव्यावश्यक की नैगम आदि सात नयों के सात संयोजना की है जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। संक्षेप में हम इस प्रकार समझ सकते हैं।

आवश्यक शब्द का द्रव्य निक्षेप = द्रव्यावश्यक।

१. नैगम नय सामान्य-विशेषग्राही है अतः इस नय की अपेक्षा द्रव्यावश्यक अनेक हैं।

२. व्यवहार नय भेदग्राही है अतः इसकी अपेक्षा भी द्रव्यावश्यक अनेक हैं।

३. संग्रह अभेदग्राही है अतः इसकी अपेक्षा द्रव्यावश्यक एक है।

४. ऋजुसूत्र नय वर्तमान पर्यायग्राही है अतः इसकी अपेक्षा एक अनुपयुक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति आगमतः द्रव्यावश्यक है, बहुवचन इसे मान्य नहीं है।

संग्रहनय में द्रव्य की अपेक्षा से एकत्व का ग्रहण है ऋजुसूत्र के अनुसार पर्याय एक क्षण में एक ही होती है इस अपेक्षा से एक द्रव्यावश्यक मान्य है।

शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत इन तीनों नय का मन्तव्य है कि जो जानता है वह उपयुक्त भी होता है। जो व्यक्ति जानता है और उपयुक्त नहीं हो ऐसा हो ही नहीं सकता। अतः ये तीनों आगमतः द्रव्यावश्यक के अस्तित्व को ही मान्य नहीं करते हैं।

भाव निक्षेप

पदार्थ का वर्तमान पर्यायाश्रित व्यवहार भाव निक्षेप है। 'विवक्षितक्रियापरिणतो भाव। विवक्षित क्रिया में परिणत वस्तु को भाव निक्षेप कहा जाता है। जैसे स्वर्ग के देवों को देव कहना। भाव निक्षेप भी आगमतः, नोआगमतः के भेद से दो प्रकार का है।

आगमतः—उपाध्याय के अर्थ को जानने वाला तथा उस अनुभव में परिणत व्यक्ति को आगमतः भाव उपाध्याय कहा जाता है।

नो आगमतः—उपाध्याय के अर्थ को जानने वाला तथा अध्यापक क्रिया में प्रवृत्त व्यक्ति को नोआगमतः भाव उपाध्याय कहा जाता है।

वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य भाव कहलाता है। भाव निक्षेप पर भी आगम और नोआगम इन दो दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। जो 'आवश्यक' को जानता है, उसमें उपयुक्त है, वह ज्ञानात्मक पर्याय की अपेक्षा भाव आवश्यक है। इसी प्रकार जो मंगल शब्द के अर्थ को जानता है तथा उसके अर्थ में उपयुक्त है वह ज्ञानात्मक पर्याय की अपेक्षा भाव मंगल है। इस विमर्श के अनुसार घट शब्द के अर्थ को जानने वाला और उसमें उपयुक्त पुरुष भाव घट कहलाता है।

घट पदार्थ का ज्ञाता एवं उपयुक्त पुरुष भी भाव घट है तथा घट नाम का पदार्थ जो जल आहरण आदि क्रिया कर रहा है वह भी भावघट है।

चारों ही निक्षेपों को संक्षेप में व्याख्यायित करते हुए कहा है—

'नाम जिणा जिन नामा ठवणजिणा हुंति पडिमाओ।
दव्वजिणा जिन जीवा भाव जिणा समवसरणत्था ॥'

नय और निक्षेप का सम्बन्ध

नय और निक्षेप का विषय-विषयी सम्बन्ध है। आचार्य सिद्धसेनदिवाकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने इनके सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा है कि–

'नामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो।
भावो उ पज्जवट्ठिअस्स परुवणा एस परमत्थो ॥'

नाम स्थापना एवं द्रव्य का सम्बन्ध तीन काल से है अतः इसका सम्बन्ध द्रव्यार्थिक नय से है तथा भाव-निक्षेप मात्र वर्तमान से सम्बन्धित है। अतः यह पर्यायार्थिक नय का विषय है।

निक्षेप का आधार

निक्षेप का आधार प्रधान-अप्रधान, कल्पित और अकल्पित दृष्टि बिन्दु है। भाव अकल्पित दृष्टि है, इसलिए प्रधान होता है शेष तीन निक्षेप कल्पित है। अतः वे अप्रधान है। नाम में पहचान, स्थापना में आकार की भावना होती है। गुण की वृत्ति नहीं होती। द्रव्य मूल वस्तु की पूर्वोत्तर दशा या उससे सम्बन्ध रखने वाली अन्य वस्तु होती है अतः इसमें मौलिकता नहीं होती। भाव मौलिक है।

निक्षेप पद्धति जैन आगम एवं व्याख्याग्रन्थों की मुख्य पद्धति रही है। अनुयोग परम्परा में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्पूर्ण व्यवहार का कारण निक्षेप पद्धति है। निक्षेप के अभाव में अर्थ का अनर्थ हो जाता है। संक्षेप में निक्षेप पद्धति भाषा प्रयोग की वह विधा है जिसके द्वारा हम वस्तु का अभ्रान्त ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. विभिन्न दर्शनों में कर्म : एक तुलनात्मक विमर्श

भारतीय दार्शनिकों ने अनेक विषयों पर चिन्तन किया है। आत्मा, बन्ध, मोक्ष, पुनर्जन्म, कर्म आदि विषय समान रूप से उनकी विचारणा के बिन्दु रहे हैं। यह हो सकता है कि विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न विषयों को पृथक्-पृथक् रूप से वरीयता प्रदान की हो। किसी ने आत्मा पर मुख्य रूप से बल दिया है तो अन्य ने बन्ध-मोक्ष को सामने रखकर अपनी मेधा-यात्रा सम्पन्न की। कर्म पर चार्वाकेतर सभी भारतीय दार्शनिकों ने विमर्श किया है किन्तु कर्म-सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों पर, जैसे—कर्म का स्वरूप, कर्म-बन्धन, कर्म-फल, कर्म-स्थिति, कर्म-क्षय आदि विषयों का जितना सूक्ष्म, सुव्यवस्थित एवं सर्वांगीण विवेचन जैन-दर्शन में मिलता है, उतना अन्य दर्शनों में नहीं है।

आत्म स्वातन्त्र्य की पृष्ठभूमि में सत्कर्मों की प्रतिष्ठा करना कर्मवाद का प्रमुख सिद्धान्त रहा है। प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा की परम शक्ति को प्राप्त करने की क्षमता विद्यमान तो है किन्तु वह अविद्या, प्रकृति, अज्ञान, अदृष्ट, मोह, वासना, संस्कार आदि के कारण प्रच्छन्न हो जाती है। इसी प्रच्छादक शक्ति को जैन-दर्शन में 'कर्म' शब्द से अभिहित किया गया है।

विभिन्न दर्शनों में कर्म

जैन परम्परा में जिस अर्थ में 'कर्म' शब्द व्यवहृत हुआ है, उससे मिलते-जुलते अर्थ में अन्य भारतीय दर्शनों में माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। वेदान्त दर्शन में माया एवं अविद्या शब्दों का प्रयोग हुआ है। मीमांसा-दर्शन में अपूर्व शब्द प्रयुक्त है। बौद्ध-दर्शन में वासना और अविज्ञप्ति शब्दों का विनियोग हुआ है। सांख्य-दर्शन में आशय शब्द उपन्यस्त है। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि ऐसे अनेक शब्द हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनका प्रयोग सामान्य रूप से सभी दर्शनों में हुआ है। भारतीय दर्शनों में चार्वाक-दर्शन ही ऐसा है, जिसका कर्मवाद में विश्वास नहीं है, क्योंकि वह आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता। आत्मत्रैकालिकता के अभाव में कर्म-सिद्धान्त का कोई प्रयोजन ही नहीं होता।

कर्म की अवधारणा

न्याय-दर्शन के अभिमतानुसार राग, द्वेष और मोह—इन तीन दोषों से प्रेरणा प्राप्त कर जीवों में मन, वचन और काय की प्रवृत्तियां होती हैं और उससे धर्म और अधर्म की उत्पत्ति होती है। ये धर्म और अधर्म संस्कार कहलाते हैं।[1]

वैशेषिक-दर्शन में चौबीस गुण माने जाते हैं, उनमें एक अदृष्ट भी है। यह गुण संस्कार से पृथक् है और धर्म-अधर्म ये दोनों उसके भेद हैं।[2] इस तरह न्याय-दर्शन में धर्म, अधर्म का समावेश संस्कार में किया गया है; उन्हीं धर्म-अधर्म को वैशेषिक-दर्शन में अदृष्ट के अन्तर्गत लिया गया है। राग आदि दोषों से संस्कार होता है, संस्कार के जन्म, जन्म से राग आदि दोष और उन दोषों से पुनः संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस तरह जीवों की संसार-परम्परा बीजांकुरवत् अनादि है।

सांख्य—योगदर्शन अभिमतानुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पांच क्लेशों से क्लिष्टवृत्ति उत्पन्न होती है। प्रस्तुत क्लिष्टवृत्ति से धर्माधर्म रूप संस्कार पैदा होता है। संस्कार को इस वर्णन में बीजांकुरवत् अनादि माना है।[3]

मीमांसा-दर्शन का अभिमत है कि मानव द्वारा किया जाने वाला यज्ञ आदि अनुष्ठान अपूर्व नामक पदार्थ को उत्पन्न करता है और वह अपूर्व ही सभी कर्मों का फल देता है, अर्थात् वेद द्वारा प्ररूपित कर्म से उत्पन्न होने वाली योग्यता या शक्ति का नाम अपूर्व है। वहां पर अन्य कर्मजन्य सामर्थ्य को अपूर्व नहीं कहा है।[4]

वेदान्त-दर्शन का मन्तव्य है कि अनादि अविद्या या माया ही विश्ववैचित्र्य का कारण है।[5] ईश्वर स्वयं मायाजन्य है। वह कर्म के अनुसार जीव को फल प्रदान करता है इसलिए फल प्राप्ति कर्म से नहीं अपितु ईश्वर से होती है।[6]

बौद्ध-दर्शन का अभिमत है कि मनोजन्य संस्कार वासना है और वचन और कायजन्य संस्कार अविज्ञप्ति है। लोभ, द्वेष और मोह से कर्मों की उत्पत्ति होती है। लोभ, द्वेष और मोह से भी प्राणी मन, वचन और काय की प्रवृत्तियां करता है और उससे पुनः लोभ, द्वेष और मोह पैदा करता है, इस तरह अनादि काल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से यह संसार-चक्र चल रहा है।[8]

न्याय-वैशेषिक

जैन-दर्शन की तरह न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्म को स्वीकार किया गया है। नैयायिकों ने राग, द्वेष और मोह रूप—इन तीन दोषों को माना है। इन तीन दोषों से प्रेरणा प्राप्त कर जीवों के मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति से धर्म व अधर्म की उत्पत्ति होती है। धर्म व अधर्म को उन्होंने 'संस्कार' कहा है।[5] नैयायिकों ने जिन राग, द्वेष, मोहरूप तीन दोषों का उल्लेख किया है, वे जैनों को मान्य हैं और जैन उन्हें भाव-कर्म कहते हैं। नैयायिक जिसे दोषजन्य प्रवृत्ति कहते हैं, उसे ही जैन योग कहते हैं। नैयायिकों ने प्रवृत्तिजन्य धर्माधर्म को संस्कार अथवा अदृष्ट की संज्ञा प्रदान की है, जैनों में पौद्गलिक कर्म अथवा द्रव्य कर्म का वही स्थान है।

जैनों ने स्थूल शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर भी माना है। उसे वे कार्मण शरीर कहते हैं। इसी कार्मण शरीर के कारण स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है। नैयायिक कार्मण शरीर को 'अव्यक्त शरीर' भी कहते हैं।[6] जैन कार्मण शरीर को अतीन्द्रिय मानते हैं, इसलिए वह अव्यक्त ही है।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता नैयायिकों के समान है। प्रशस्तपाद ने जिन चौबीस गुणों का प्रतिपादन किया है, उनमें अदृष्ट भी एक है। यह गुण संस्कार गुण से भिन्न है।[10] उसके दो भेद हैं—धर्म और अधर्म। इससे ज्ञात होता है कि प्रशस्तपाद धर्माधर्म का उल्लेख संस्कार शब्द से न कर अदृष्ट शब्द से करते हैं। नैयायिकों के संस्कार के समान प्रशस्तपाद ने अदृष्ट को आत्मा का गुण माना है।

न्याय और वैशेषिक-दर्शन में भी दोष से संस्कार, संस्कार से जन्म, जन्म से दोष और फिर दोष से संस्कार एवं जन्म यह परम्परा बीज और अंकुर के समान अनादि मानी है। यह जैनों द्वारा मान्य भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म की अनादि परम्परा जैसा ही है।[11] न्याय-दर्शन ईश्वर को कर्मफल का नियामक मानता है।[12] परन्तु जैन दर्शन कर्मफल नियामक ईश्वर में विश्वास नहीं करता है। वह यह मानता है कि कर्म स्वतः ही फल देने में सक्षम है।

योग और सांख्य

योग-दर्शन की कर्म-प्रक्रिया की जैन-दर्शन से अत्यधिक समानता है। योग-दर्शन के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश—ये पांच क्लेश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं।[13] इन पांच क्लेशों के कारण क्लिष्टवृत्तिचित्त व्यापार की उत्पत्ति होती है और उससे धर्म-अधर्म रूप संस्कार उत्पन्न होते हैं। क्लेशों को भाव-कर्म, वृत्ति को योग और संस्कार को द्रव्य-कर्म समझा जा सकता है। योग-दर्शन में संस्कार को वासना, कर्म और अपूर्व भी कहा गया है। पुनश्च इस मत में क्लेश और कर्म का कार्यकारण भाव जैनों के समान बीजांकुर की तरह अनादि माना गया है।[14]

सांख्य मान्यता भी योग-दर्शन जैसी ही है। जैन मतानुसार मोह, राग, द्वेष आदि भावों के कारण अनादिकाल से आत्मा के साथ पौद्गलिक कार्मण शरीर का सम्बन्ध है। इसी प्रकार सांख्य मत में लिंग शरीर अनादि काल से पुरुष के संसर्ग में है। इस लिंग शरीर की उत्पत्ति राग, द्वेष, मोह जैसे भावों से होती है और भाव तथा लिंग शरीर में भी बीजांकुर के समान ही कार्यकारण भाव है।[15] जैन औदारिक स्थूल शरीर को कार्मण शरीर से पृथक् मानते हैं, वैसे ही सांख्य भी लिंग-सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से भिन्न मानते हैं।[16] जैनों के कार्मण शरीर एवं सांख्यों के लिंग शरीर में बहुत कुछ समानता है।

जैन सम्मत भाव-कर्म की तुलना सांख्य सम्मत भावों[17] से, योग की तुलना वृत्ति[18] से और द्रव्यकर्म अथवा कार्मण शरीर की तुलना लिंग शरीर से की जा सकती है। जैन तथा सांख्य दोनों ही कर्मफल अथवा कर्म-निष्पत्ति में ईश्वर जैसे किसी कारण को स्वीकार नहीं करते हैं।

जैन और योग क्रिया में अन्तर यह है कि योग-दर्शन की प्रक्रियानुसार क्लेश, क्लिष्टवृत्ति और संस्कार इन सबका संबंध आत्मा से नहीं अपितु चित्त अथवा अन्तःकरण के साथ है और यह अन्तःकरण प्रकृति का विकार-परिणाम है।

कर्म-विपाक की चर्चा में योग-दर्शन में कर्म का विपाक तीन प्रकार का बताया गया है—जाति, आयु और भोग।[19] जाति पद मनुष्य, पशु आदि योनियों को सूचित करता है। आयु पद यह संकेत करता है कि एक निश्चित अवधि तक देह तथा प्राण का संयोग रहता है। भोग सुख एवं दुःख रूप अनुभूति को अभिव्यंजित करता है। इस प्रकार योग सम्मत ये तीनों पद एक दूसरे से इतने आबद्ध हैं कि एक के अभाव में दूसरे की संभावना असम्भव है। क्योंकि व्यक्ति अपने द्वारा किये कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोग तभी कर सकता है जब उसके पास आयु हो और आयु भी वह तभी धारण कर सकता है जब उसने जन्म लिया हो। इस प्रकार योग-दर्शनानुसार कर्म से मिलने वाली जाति, आयु एवं भोग रूप तीनों फल परस्पर सम्बद्ध है।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि योगसम्मत जाति जैन दर्शन के नामकर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के विपाक से तुलनीय है। इसी क्रम में योग-दर्शन के आयु विपाक की तुलना जैन-दर्शन के आयुकर्म के विपाक से की जा सकती है। योग-दर्शन के आयुविपाक कर्म को दो प्रकार का माना गया है—सोपक्रम एवं निरूपक्रम।[२०] योग-दर्शन में भोग के तीन अर्थ बताये गये हैं—सुख-दुःख और मोह।[२१] अतः जैन सम्मत वेदनीय कर्म, योग-दर्शन के भोग विपाक से सहज ही तुलनीय है। योग-दर्शन में भोग के अर्थ में लिया गया मोह शब्द जैन सम्मत मोहनीय कर्म के विपाक के सदृश है। पातंजल योग-दर्शन एवं उसके भाष्य में प्रकाशावरण एवं विवेक ज्ञानावरणीय कर्म का उल्लेख हुआ है, उसकी तुलना जैन सम्मत ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म से की जा सकती है।[२२] जैन दर्शन में कर्म विपाक की नियतता एवं अनियतता दोनों को ही स्वीकार किया गया है। योगदर्शन में कर्माशय को नियत विपाकी अनियत विपाकी उभयविद माना है।[२३] योग-दर्शन में कर्म विपाक की अनियतता पर अधिक बल दिया गया है। इसमें यह स्पष्ट किया है कि पूर्वजन्मीय पापराशि वर्तमान जन्म के पुण्य के प्रभाव से बिना विपाक दिये हुए ही नष्ट हो जाती है।[२४]

अन्य दार्शनिक जिसे संस्कार, योग्यता, सामर्थ्य, शक्ति कहते हैं, उसे मीमांसक अपूर्वशब्द के प्रयोग से व्यक्त करते हैं। परन्तु वे यह अवश्य मानते हैं कि वेद विहित कर्म से जिस संस्कार अथवा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, उसी को अपूर्व कहना चाहिए, अन्य कर्मजन्य संस्कार अपूर्व नहीं है।[२५]

कर्मफल की व्याख्या में पूर्वमीमांसा अपूर्व या अदृष्ट शक्ति को माध्यम बनाता है, जबकि जैनदर्शन कर्म को ही सीधे फल देने में सक्षम मानता है। जैनदर्शन और पूर्वमीमांसा दोनों ही कर्मफल की व्यवस्था के लिए ईश्वर को माध्यम के रूप में स्वीकार नहीं करते। परन्तु जहां पूर्वमीमांसा 'अपूर्व' के माध्यम से कर्मफल की व्यवस्था मानती है, वहां जैनदर्शन कर्म वर्गणाओं में स्वतः फल प्रदान करने की शक्ति मानता है।

अद्वैत वेदान्त

अद्वैत वेदान्त में बन्धन और मोक्ष संबंधित विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार बन्धन का मूल कारण अविद्या या अज्ञान है। अविद्या आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है, बल्कि जीव की मिथ्या कल्पना का परिणाम है। पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव न कभी बन्धन में पड़ता है और न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है। शंकर कहते हैं कि बन्धन और मोक्ष दोनों केवल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है।

शंकर ने कर्म-बन्धन के कारणों के रूप में अविद्या को प्रमुख कारण माना है, जबकि जैनदर्शन में अविद्या के साथ-साथ अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग को कर्म-बन्धन का कारण माना गया है। अद्वैत वेदान्त में बन्धन और मोक्ष को व्यावहारिक दृष्टि से सत्य माना गया है, पारमार्थिक दृष्टि से उसे अवास्तविक और मिथ्या माना गया है, जबकि जैनदर्शन में आत्मा के बन्धन और मोक्ष को मिथ्या या अवास्तविक न मानकर सत्य माना है।

बौद्ध-दर्शन

जीवलोक की विचित्रता ईश्वरकृत नहीं है। कोई ईश्वर नहीं है, जिसने बुद्धिपूर्वक इसकी संरचना की हो। जैन-दर्शन के समान बौद्ध-दर्शन ने भी लोकवैचित्र्य को कर्मकृत माना है।[२६] लोकवैचित्र्य सत्वों के कर्म से उत्पन्न होता है। कर्म दो प्रकार के हैं—चेतना और चेतयित्वा।[२७] चेतना मानस कर्म है। चेतना से जो उत्पन्न होता है, वह चेतयित्वा कर्म है अर्थात् चेतयित्वा कर्म चेतनाकृत है। चेतयित्वा कर्म दो हैं—कायिक और वाचिक।[२८] इन तीन प्रकार के कर्मों की सिद्धि आश्रय, स्वभाव और समुत्थान—इन तीन कारणों से होती है। यदि हम आश्रय का विचार करते हैं तो एक ही कर्म ठहरता है, क्योंकि सभी कर्म काय पर आश्रित है। यदि हम स्वभाव का विचार करते हैं तो वाक्कर्म ही एक कर्म है, अन्य दो का कर्मत्व नहीं है, क्योंकि काय, वाक् और मन—इन तीन में से केवल वाक् स्वभावतः कर्म है। यदि हम समुत्थान का विचार करते हैं, तो केवल मनस् कर्म है, क्योंकि सब कर्मों का समुत्थान मन से है।[२९]

कर्म के दो अन्य भेद भी बौद्धों में उपलब्ध होते हैं—विज्ञप्ति कर्म अर्थात् काय, वाक् द्वारा चित्त की अभिव्यक्ति और अविज्ञप्ति कर्म अर्थात् विज्ञप्ति से उत्पन्न कुशल-अकुशल कर्म।

'विशुद्धिमग्ग' में कर्म को अरूपी कहा गया है पर 'अभिधर्मकोश' में उसे अविज्ञप्ति अर्थात् रूपी व अप्रतिपद्य माना गया है। सौत्रान्तिक दर्शन कर्म को अरूपी मान कर जैन-दर्शन के समान उसे सूक्ष्म मानता है। बौद्ध-दर्शन में कर्म को मानसिक, वाचिक और कायिक मानकर उसे विज्ञप्ति रूप कहा है। उन्हें 'संस्कार' भी कहा जाता है। वे वासना और अविज्ञप्ति रूप भी है। मानसिक संस्कार 'वासना' कहलाता है और वाचिक तथा कायिक संस्कार 'अविज्ञप्ति' माना जाता है। ये दोनों विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति कर्म-भावों के अनुसार शुभ और अशुभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों प्रकार के होते हैं। जैन धर्म के द्रव्य कर्म और भाव-कर्म की तुलना किसी सीमा तक इनसे की जा सकती है। वासना और अविज्ञप्ति कर्म जैन धर्म का द्रव्य-कर्म और संस्कार तथा विज्ञप्ति-कर्म जैन धर्म का भावकर्म माना जा सकता है। विज्ञप्तिवादी बौद्ध कर्म को वासना के रूप में स्वीकार करते हैं। प्रज्ञाकर गुप्त के अनुसार सारे कार्य वासनाजन्य होते हैं। शून्यवादी बौद्ध-दर्शन में वासना का स्थान माया या अविद्या को दिया गया है। जैन-दर्शन के सदृश ही बौद्ध-दर्शन ने भी लोभ, द्वेष और मोह को कर्म की उत्पत्ति का कारण स्वीकार किया है। राग-द्वेष और मोहयुक्त होकर प्राणी—सत्व, मन, वचन, काय की प्रवृत्तियां करता है और राग, द्वेष, मोह को उत्पन्न करता है। इस प्रकार संसार-चक्र चलता रहता है।[३०] इस चक्र का कोई आदिकाल नहीं, यह अनादि है।[३१]

जैन एवं बौद्ध दोनों ही धर्मों में कर्म विपाक की नियतता एवं अनियतता दोनों को समान रूप से स्वीकृत किया गया है। कुछ कर्म नियत-विपाकी होते हैं और कुछ अनियत विपाकी होते हैं। जहां जैन-दर्शन में कर्म की अवस्थाएं यथा—उदीरणा, अपवर्तना, उद्वर्तना एवं संक्रमण कर्मविपाक की अनियतता को और निकाचना कर्म-विपाक की नियतता को सूचित करते हैं, वहीं बौद्ध-दर्शन में दृष्टधर्मवेदनीय नियत-विपाक कर्म, उपपद्य-वेदनीय नियत विपाककर्म, दृष्टधर्म वेदनीय अनियत विपाक-कर्म, उपपद्य-वेदनीय अनियत विपाककर्म तथा अपरपर्यायवेदनीय अनियत विपाक कर्म आदि क्रमशः कर्म विपाक की नियतता एवं अनियतता पर प्रकाश डालते हैं।[३२]

ईसाई मत

यद्यपि यह माना जाता है कि ईसाई एवं इस्लाम धर्म में कर्म की अवधारणा नहीं है किन्तु कुछ विद्वानों की मान्यता है कि उन धर्मों में भी किसी न किसी रूप में कर्म की अवधारणा है। ईसाई धर्म में कर्म के तत्त्वों को उल्लेखित करते हुए डॉ. ए. बी. शिवाजी ने लिखा—मसीही धर्म में कर्म को मान्यता दी है। जैसा कि पौलुस लिखता है—'वह हर एक को उसके कामों के अनुसार बदला देगा।'[३३] नये नियम में ही एक अन्य स्थान पर पौलुस लिखता है—'धोखा न खाओ, परमेश्वर ठट्टों में नहीं उड़ाया जाता, क्योंकि मनुष्य जो कुछ बोता है, वही काटेगा।'[३४] अर्थात् कर्म मनुष्य करता है और कर्म का न्याय कोई अदृष्ट शक्ति करती है, जिसको परमेश्वर, ईश्वर या भगवान कहते हैं। जैन धर्म और बौद्ध धर्म में तो ईश्वर को भी मान्यता प्राप्त नहीं है। इस कारण मनुष्य ही अपने कर्मों को स्वतन्त्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप से करता है और उसके परिणामों को भोगता है, किन्तु मसीही धर्म में कर्म के साथ विश्वास और ईश्वर के अनुग्रह को, जो प्रभु यीशु मसीह के द्वारा प्राप्त होता है, मान्यता दी गई है।[३५]

इस्लाम मत

इस्लाम धर्म में कर्म के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए डॉ. निजामुद्दीन कहते हैं—'इस्लाम धर्म संयम से जीवन व्यतीत करने का मार्ग प्रशस्त करता है। इस लोक के साथ परलोक पर भी उसकी दृष्टि रहती है और परलोक को इहलोक पर प्राथमिकता देता है। मनुष्य कर्म करने में पूर्णतः स्वतन्त्र है, उसे अपने कर्मों का फल भी निश्चित रूप से भोगना है और 'रोजे-मशहर' में 'अन्तिम निर्णय' के दिन अल्लाह के दरबार में हाज़िर होकर अपने कर्मों का हिसाब देना होता है। जो व्यक्ति सत्कर्म करेगा, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बशर्ते कि वह मोमिन ही, उसे हम संसार में पवित्र जीवन व्यतीत करायेंगे और परलोक में ऐसे व्यक्तियों को उनके प्रतिकार, पुण्य, उत्तम कर्मों के अनुसार प्रदान किये जायेंगे।[३६] जैसा कर्म वैसा फल मिलेगा। स्वर्ग और नरक का निर्णय लोगों के हक में कर्मों के आधार पर ही होगा। कुरान में यह उद्घोष प्राप्त होता है कि—'ए पैगम्बर। खुशखबरी सुना दीजिए उन लोगों को जो ईमान लाए और काम किये अच्छे, इस बात की कि निःसन्देह उनके लिए जन्नतें (स्वर्ग) हैं, जिनके नीचे नहरें बहती हैं।[३७]

विभिन्न दर्शनों में कर्म के प्रकार

दार्शनिकों ने विविध प्रकार से कर्म के भेद किए हैं परन्तु पुण्य-पाप, कुशल-अकुशल, शुभ-अशुभ, धर्म-अधर्म रूप भेद सभी को मान्य हैं। कर्म के पुण्य-पाप अथवा शुभ-अशुभ भेद प्राचीन हैं। कर्म-विचारणा के प्रारम्भिक काल में ही इनका उदय हो गया होगा। प्राणी जिस कर्म के फल को अनुकूल अनुभव करता है, वह पुण्य और जिसके फल को प्रतिकूल समझता है, वह पाप। इस प्रकार के भेद उपनिषद[३८], जैन[३९], सांख्य[४०], बौद्ध[४१], योग[४२], न्याय-वैशेषिक[४३]—इन सब दर्शनों में दृष्टिगोचर होते हैं। फिर भी वस्तुतः दर्शनों ने पुण्य एवं पाप—इन दोनों कर्मों को बंधन ही माना है और दोनों से मुक्त होना अपना ध्येय निश्चित किया है। अतः विवेकशील व्यक्ति कर्मजन्य अनुकूल वेदना को भी सुख रूप न मानकर दुःख रूप ही स्वीकार करते हैं।

कर्म के पुण्य-पाप रूप दो भेद वेदना की दृष्टि से किए गए हैं, किन्तु वेदना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अतिरिक्त अन्य दृष्टियों से भी कर्म के भेद किए जाते हैं। कर्म को अच्छा और बुरा समझने की दृष्टि को सम्मुख रखकर बौद्ध और योगदर्शन में कृष्ण, शुक्ल, शुक्ल-कृष्ण तथा अशुक्लाकृष्ण नामक चार भेद किए गए हैं।[४४] कृष्ण पाप हैं, शुक्ल पुण्य, शुक्ल-कृष्ण पुण्य-पाप का मिश्रण और अशुक्लाकृष्ण दोनों में से कोई भी नहीं क्योंकि यह कर्म वीतराग पुरुषों का ही होता है। इसका विपाक न सुख है और न ही दुःख। कारण यह है कि उनमें राग-द्वेष नहीं होता।[४५]

इसके अतिरिक्त कृत्य, पाकदान और पाककाल की दृष्टि से भी कर्म के भेद किए गए हैं। बौद्धों के अभिधर्म और विशुद्धिमग्ग में समान रूप से कृत्य की दृष्टि से चार, पाकदान की दृष्टि से चार और पाककाल की दृष्टि से चार—कुल बारह प्रकार के कर्मों का वर्णन हैं[४६] किन्तु अभिधर्म में पाकस्थान की दृष्टि से चार भेद अधिक प्रतिपादित किए गए हैं। योग-दर्शन में भी इन दृष्टियों के आधार पर कर्म सम्बन्धी सामान्य विचारणा है, किन्तु गणना बौद्धों से भिन्न है।[४७]

कर्मसिद्धान्त पर तुलनात्मक दृष्टि से विमर्श करने से यह स्पष्ट हो गया है कि प्रायः सभी भारतीय चिंतकों ने कर्म की अवधारणा पर व्यापक विमर्श किया है, जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त पर विशेष एवं विस्तृत विचार किया गया है। जैन साहित्य का बहुलांश कर्म की चर्चा से परिव्याप्त है।

संदर्भ

१. न्यायभाष्य : १/१/२
२. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. ४७
३. योग-दर्शन भाष्य १/५
४. (क) शाबरभाष्य, २/१/५
   (ख) तन्त्रवार्तिक, २/१/५
५. शांकर भाष्य २/१/१४
६. वही ३/२/३८-४१
७. (क) अंगुत्तर निकाय ३/३३/१
   (ख) संयुक्त निकाय १५/५/६
८. (क) न्यायसूत्र ४/१/५-६
   (ख) स कर्मजन्य संस्कारो धर्माधर्मगिरोच्यते।
९. न्यायवार्तिक ३/२/६८
१०. प्रशस्तपाद भाष्य, पृ. ४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. न्यायमंजरी, पृ. ५१३
१२. न्यायसूत्र ४/१९ ईश्वरः कारणं पुरुष कर्मफलादर्शनात्।
१३. पातंजलयोग दर्शन २/३ अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः।
१४. योगदर्शन भाष्य २/१३
१५. सांख्य का. माठरवृत्ति, ५२
१६. वही, ३९
१७. वही, ४०
१८. वही २८-३०
१९. पातञ्जल योगसूत्र २/१३ सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।
२०. पा. यो. द. भा. ३/२२ आयुर्विपाकं कर्म द्विविधम्-सोपक्रमं निरूपक्रमं च।
२१. योगभाष्य २/१३
२२. पा. यो. द. २/५२ (क) ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।
पा. यो. द. भा. २/५२ (ख) ...योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीय कर्म।
२३. पातंजल योग दर्शन भा. २/१३
२४. भारतीय दर्शन, डॉ. एन. के. देवराज, पृ. ४४३
२५. तन्त्रवार्तिक, पृ. ३९५
२६. अभिधर्मकोश ४/१ कर्मजं लोक वैचित्र्यम्।
२७. अंगुत्तर ३/४१५ चेतनामहं भिक्षवः कर्मवदामि चेतयित्वा च।
२८. अभिधर्मकोश ४/१ ...चेतना तत्कृतं च तत्।
चेतनामानसं कर्म तज्जे वाक्कायकर्मणी ॥
२९. बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ. २५०
३०. अंगुत्तरनिकाय तिकनिपात सूत्र ३३/१
३१. संयुत्तनिकाय १५/५/६
३२. बौद्ध धर्म-दर्शन, अध्याय १३, पृ. २६७
३३. रोमियो २/६
३४. गलतियों ३/७
३५. मसीही धर्म में कर्म की मान्यता (लेख—उद्धृत कर्म सिद्धान्त, पृ. २०२)
३६. कुरआन, महल १२५
३७. अलबकर २५
३८. बृहदारण्यक ३/२/१३
३९. तत्वार्थ ८/२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४०. सांख्यक का. ४४
४१. विशुद्धिमग्ग १७/८८
४२. योगसूत्र २/१४
४३. न्याय मंजरी, पृ. ४७२
४४. (क) योगदर्शन ४/७
(ख) दीघनिकाय ३/१/२
४५. योग-दर्शन ४/७
४६. (क) अभिधम्मत्थ संग्रह ५/१६
(ख) विशुद्धिमग्ग १६/१४-१६
४७. योग-सूत्र २/१२-१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. आचारमीमांसा और कर्म

सत्य की शोध में प्रस्थित तत्त्वद्रष्टा पुरुषों ने तत्त्व साक्षात्कार से प्राप्त अनुभव को प्रस्तुत किया। उनका अनुभव ही दर्शन जगत् का आधारभूत तत्त्व बन गया। ऋषियों के द्वारा दृष्ट एवं प्रतिपादित तत्त्वों का अनुसरण होने से दर्शन भी परम्परा बन गया। सत्य के अनुभव में द्वैत नहीं होता। चाहे उसका अन्वेषण किसी क्षेत्र के व्यक्ति करें। प्राचीन युग में आत्म-साधना के द्वारा उसका अन्वेषण हुआ तथा अनेक बहुमूल्य सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ। वर्तमान में विज्ञान भौतिक उपकरणों के द्वारा जगत् के रहस्यों को अनावृत करने का प्रयत्न कर रहा है, उसमें उसे सफलता भी प्राप्त हुई है। प्राचीन ऋषियों के तत्त्व साक्षात्कार के विषय आत्मवाद, कर्मवाद, सृष्टिवाद आदि थे। आधुनिक युग के दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों के अन्वेषण/चिन्तन के विषयों में भिन्नता आई है एवं यह स्वाभाविक भी है किन्तु कुछ ऐसे तत्त्व, जिनका प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों धाराओं में अन्वेषण हुआ है। आचार-शास्त्र की अवधारणा के साथ कर्मशास्त्रीय तत्त्वों का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत निबंध में काम्य है। कार्मिक तत्त्वों की अवधारणा किस रूप से समस्याओं को समाहित कर सकती हैं एवं नवीन दृष्टि प्रदान कर सकती हैं, इसका विमर्श भी यथासम्भव किया जायेगा।

भारतीय-दर्शन में आचार-मीमांसादर्शन का ही एक अंग है। प्रमाणमीमांसा, तत्त्व-मीमांसा और आचार-मीमांसा--ये तीनों ही भारतीय दर्शन में परिलक्षित होते हैं तथा तीनों ही एक लक्ष्यानुगामी है। भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा में प्रमाण, तत्त्व एवं आचार का संक्षिप्त एवं विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। नास्तिक कहलाने वाले चार्वाक दर्शन में भी इन तीनों का विवेचन प्राप्त है। पाश्चात्य-दर्शन में ज्ञान-मीमांसा, तत्त्व-मीमांसा एवं आचार-मीमांसा का समन्वित रूप तो प्राप्त नहीं होता किन्तु पृथक्-पृथक् रूप से ये सारे ही तत्त्व पाश्चात्य दार्शनिकों की चिन्तना के विषय रहे हैं। भारतीय दर्शनों में भी प्राचीनकाल में आचार-शास्त्र का स्वतन्त्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभाग था किन्तु उसकी समीचीन एवं स्वतन्त्र अभिव्यंजना न होने के कारण उसका स्वतन्त्र अस्तित्व गौण हो गया। जैन-परम्परा में चार अनुयोगों की व्यवस्था थी। इस अनुयोग-व्यवस्था के आधार पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार-शास्त्र की सर्वत्र व्यवस्था थी। वह चरणकरणानुयोग के अन्तर्गत आता था। भारतीय-दर्शन में जिसे आचार-शास्त्र कहा जाता है, उसी को पाश्चात्य-दर्शन में नीति-शास्त्र के नाम से अभिहित किया गया है। अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने स्वतन्त्र आचार मीमांसीय ग्रन्थ लिखे हैं।

आचार शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है—यथा धर्म, नीति, कर्तव्य और नैतिकता आदि। मानव के कर्तव्य के रूप में जिन बातों का अथवा जिन नियमों का होना आवश्यक है, वे सब नियम आचार में समाहित हो जाते हैं। जीवन विकास एवं समाज को स्थिर, सम्पन्न बनाने के लिए आचार की नितान्त आवश्यकता होती है।

भारतीय पाश्चात्य सभी चिन्तकों के चिन्तन-प्रवाह से आचार की स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई है। सुकरात, प्लेटो एवं अरस्तू के दर्शन में नीति को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। ज्ञान को वहां पर सर्वोच्च शुभ माना गया है। वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, मीमांसक, सांख्य, योग, बौद्ध आदि सभी दर्शनों ने आचार के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। जैन धर्म-दर्शन में भी आचार को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। आगम ग्रन्थों में अनेक आगम आचार प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। विचार एवं आचार का परस्पर सापेक्ष महत्त्व है। 'णाणस्स सारमायारो' ज्ञान का सार आचार है। यह जैन आचार शास्त्र की उद्घोषणा है।

जैन-दर्शन में आचार-मीमांसा का मूल आधार कर्म है। कर्म की अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में आचार का निर्धारण दृष्टिगोचर होता है। साधु जब दीक्षा स्वीकार करता है, उसका स्वीकृत प्रथम संकल्प होता है—सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि[1]—सम्पूर्ण पापकारी प्रवृत्तियों को छोड़ने के संकल्प के साथ ही उसकी श्रमणत्व की साधना शुरू होती है। साधु, श्रावक सबके करणीय-अकरणीय का विवेक कर्म-अवधारणा पर ही आधारित है। जिस प्रवृत्ति से शुभ कर्म का आश्रवण होता है, वह प्रवृत्ति हेय है। अकरणिज्जं पावकम्मं[2]—जिनके द्वारा कर्म का निर्जरण होता है, संचित कर्म का नाश एवं नये कर्म का उपार्जन नहीं होता, वह कार्य साधक के लिए करणीय है।

साधना का सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष है। जो कर्म मुक्ति के साथ ही जुड़ा हुआ है। जैनाचार का सम्पूर्ण स्वरूप कर्म-बन्ध एवं कर्म-मुक्ति के विचार पर अवलम्बित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। नव तत्त्वों का विश्लेषण आचार-शास्त्र का प्रमुख आधार है तथा नव तत्त्वों का विभाग कर्म पर ही आधारित है। महावीर ने सबसे पहले नौ तत्त्वों का विवेचन किया—यह आचारांग के आधार पर कहा जा सकता है।[3] साधना के क्षेत्र में नौ तत्त्वों का ही प्रयोजन है, उन्हीं के आधार पर सारी आचार-व्यवस्था का निर्धारण हुआ है।

आत्मा की त्रैकालिकता जैन-दर्शन में मान्य है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप शुद्ध है किन्तु कर्मों के कारण वह अपने मूल स्वाभाविक स्वरूप से संसारावस्था में उपलब्ध नहीं है। कर्म के कारण परिभ्रमण कर रही है। आत्मा की स्वीकृति के साथ ही यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म है, क्रिया है उनके द्वारा अनुसंचरण हो रहा है।

आचार-मीमांसा के सन्दर्भ में आयारो में प्रदत्त सूत्र—'से आयावई, लोयावई, कम्मावाई, किरियावाई'[4] बहुत महत्त्वपूर्ण है। सबसे पहला तत्त्व है—आत्मा, आत्मा के ज्ञात हो जाने पर यह ज्ञात हो जाता है कि लोक है। लोक का अर्थ है—पुद्गल। जो आत्मवादी है, वह लोकवादी भी है। आत्मा भी हो, पुद्गल भी हो किन्तु यदि उनमें कोई सम्बन्ध नहीं हो तो वे एक दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकते। यदि केवल चेतन ही होता अथवा केवल पुद्गल ही होता तो परिभ्रमण का कोई हेतु ही नहीं होता किन्तु कर्म नाम का तीसरा तत्त्व आत्मा एवं पुद्गल के सम्बन्ध का परिचायक है। यह कर्म ही आत्मा के संसार परिभ्रमण का हेतु है। आत्मा और कर्म का सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध का सेतु है—क्रिया। अक्रिय अवस्था में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। जैसे-जैसे कषाय क्षीण होते हैं, कषाय का संवरण होता है, अक्रिया की स्थिति आने लगती है, तब आत्मा और कर्म का सम्बन्ध क्षीण होने लगता है। जब चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण अक्रिया की स्थिति घटित हो जाती है, तब सारे सम्बन्ध क्षीण हो जाते हैं।

आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद एवं क्रियावाद—ये चारों वाद सम्पूर्ण आचार शास्त्र के आधार हैं।[5] कर्म आत्मा के मौलिक गुणों का आच्छादन एवं घात करता है, फलस्वरूप आत्म-विस्मृति होती जाती है और अनन्त संसार परिभ्रमण होता रहता है। आचार-मीमांसीय तत्त्व इस विजातीय सम्बन्ध को तोड़ने का प्रयत्न करते हैं। सम्यक्-दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र रूप रत्नत्रय के परम प्रकर्ष के द्वारा वह विजातीय सम्बन्ध समाप्त हो जाता है तथा आचार का परम शुभ रूप मोक्ष का लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। सम्यक्-दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रय समन्वित रूप से मोक्ष के मार्ग हैं।[6]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय आचार-शास्त्र में दो धाराओं का अनुशीलन और अनुचिन्तन हुआ है—लौकिक और आध्यात्मिक। आचार-शास्त्र के लौकिक पक्ष में काम और अर्थ पर विचार किया गया और आध्यात्मिक पक्ष में धर्म और मोक्ष पर चिन्तन किया गया है। आचार-शास्त्र का महत्त्वपूर्ण विषय है—आचार-शास्त्र की प्रेरकता। आचार-शास्त्र का प्रेरक सूत्र है—सुख की प्राप्ति एवं दुःख की निवृत्ति। आचार-शास्त्र ने सुखवादी दृष्टिकोण के आधार पर प्रतिपादित किया कि मनुष्य सुख चाहता है, दुःख नहीं।[७] भगवान् महावीर ने जिस आचार-शास्त्र का प्रतिपादन किया, उसमें सुख-दुःख की परिभाषा बदल गई। कर्म-मुक्ति सुख है एवं कर्म-बन्धन दुःख है।[८] कर्म-बन्धन एवं मुक्ति ही आचार का केन्द्रीय तत्त्व है।

मार्क्स ने कहा है—दर्शन आदमी को ज्ञान देता है पर बदलता नहीं, इसलिए ऐसा दर्शन चाहिए जो समाज को बदल सके। पश्चिमी दार्शनिकों का यह दृष्टिकोण निष्कारण नहीं था। उनके दर्शन की पृष्ठभूमि रही थी। उन्होंने तत्त्वज्ञान और आचार को विभक्त कर दिया। दर्शन और आचार को अलग नहीं किया जा सकता। महावीर ने कोरा दर्शन नहीं दिया अपितु जीवन में आचरित दर्शन प्रदान किया। भगवान् महावीर द्वारा प्रदत्त ये दो शब्द—'बुज्झेज्ज, तिउट्टेज्जा'[९] इसी ओर संकेत करते हैं। ज्ञान प्रथम आवश्यकता है। जानने के बाद आचरण करना आवश्यक है। 'जानो और करो' यह महावीर-वाणी का उद्घोष है। यही आचार-शास्त्र का स्रोत है।

शिष्य गुरु से पूछता है—जीवन-निर्वाह के लिए चलना, फिरना, खाना, सोना आवश्यक है। उनके अभाव में देह धारण करना असम्भव है। आप मेरा पथ-प्रदर्शन करें, जिससे ये क्रियायें भी की जा सकें और पाप कर्मों का बन्ध भी न हो।[१०] गुरु शिष्य को समाहित करते हुए कहते हैं—इन सारी क्रियाओं को तुम यतनापूर्वक (संयमपूर्वक) करो। तुम्हारे पाप-कर्मों का बन्ध नहीं होगा।[११] उपर्युक्त संवाद से स्पष्ट है, साधक का सारा आचरण कर्म मुक्ति की दिशा में अग्रसर है। उसके आचार एवं अनाचार का निर्धारक तत्त्व कर्म ही है। जिस आचरण से कर्म का बन्धन होता है, वह आचरण त्याज्य है एवं जो आचरण कर्मों का संवरण एवं निर्जरण करता है, वह उपादेय है।

कर्म-बन्धन के हेतुओं में भी हमें आचार-मीमांसीय दृष्टिकोण का अवबोध प्राप्त होता है। कर्म-बन्ध के कारणों के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति का दूसरे के प्रति कैसा व्यवहार है, वह यदि सम्यक् है तो उससे कर्मों का क्षय एवं शुभ कर्मों का बन्ध होगा। यदि वह आचरण असद् है तो अशुभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मों का उपार्जन होगा। यथा ज्ञानावरणीय कर्म के हेतुओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है—यदि व्यक्ति ज्ञान या ज्ञानी के प्रति असद् व्यवहार करता है, ज्ञानी से द्वेष रखता है, उसके ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है।[१३] इसी प्रकार अन्य कर्मों के निमित्त का उल्लेख भी अन्य के प्रति किया जाने वाला व्यवहार ही है। इससे स्पष्ट होता है कि कर्म-बन्ध के ये हेतु आचार निरूपण के प्रमुख तत्त्व हैं। जैन-दर्शन में अनेक स्थानों पर कहा गया है—'कडाण कम्माणं न मोक्ख अत्थि'[१४] क्रिया निष्फल नहीं होती। जैसा 'बोओगे वैसा काटोगे' ये प्रचलित लोकोक्तियां भी आचार-मीमांसा एवं कर्म-मीमांसा के सम्बन्ध को स्पष्ट करती है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि जो व्यक्ति कर्म-बन्धन से निवृत्ति का प्रयत्न एवं कर्म-मुक्ति की दिशा में अग्रसर होगा उसका आचरण स्वतः ही उत्तम होगा।

जैन-दर्शन के अनुसार जिस व्यक्ति में संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि है, वही नैतिक कर्मों का स्रष्टा है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सबके प्रति समभाव है, वह पाप-कर्म का बन्ध नहीं करता।[१५]

पिहियासवस्स दंतस्स पावं कम्मं न बंधई ॥

सभी को जीवित रहने की इच्छा होती है। कोई भी मरना नहीं चाहता। सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल है। इसलिए वही आचरण श्रेष्ठ है, जिसके द्वारा किसी भी प्राणी का हनन नहीं हो।[१६]

जैन आचार-दर्शन पुण्य कर्मों के वर्गीकरण में जिन तथ्यों पर अधिक बल देता है, वे सभी समाज-सापेक्ष हैं। वस्तुतः कर्म के शुभाशुभत्व के वर्गीकरण में सामाजिक दृष्टि प्रधान परिलक्षित होती है। यद्यपि आत्मिक शुद्धि तो उसका परम लक्ष्य है ही किन्तु आत्म-शुद्धि के क्षेत्र में सामाजिक सम्बन्धों को विस्मृत नहीं किया गया है।

कर्म सिद्धान्त की आचार के निर्धारण के लिए महती आवश्यकता है और आचार-दर्शन कर्म-सिद्धान्त के आधार पर ही व्यक्ति में नैतिकता के प्रति निष्ठा जागृत कर सकता है। प्रो. वेंकटरमण का मानना है कि कर्म-सिद्धान्त कार्यकारण-सिद्धान्त के नियमों एवं मान्यताओं का मानवीय आचरण के क्षेत्र में प्रयोग है, जिसकी उपकल्पना यह है कि जगत् में कोई भी घटना संयोग अथवा स्वच्छन्दता का परिणाम नहीं है।[१७] जगत् की घटनाएं स्वच्छन्द नहीं है, नियमाधीन है। मैक्समूलर ने भी लिखा है कि—'कोई भी अच्छा या बुरा कर्म निष्फल समाप्त नहीं होता, नैतिक जगत् का यह विश्वास ठीक वैसा ही है जैसा कि भौतिक जगत्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में ऊर्जा की अविनाशिता के नियम का विश्वास है।

कर्म-सिद्धान्त के अनुसार नैतिकता के क्षेत्र में आने वाले वार्तमानिक समस्त मानसिक, वाचिक एवं कायिक कर्म भूतकालीन कर्मों से प्रभावित होते हैं और भविष्य के कर्मों पर अपना प्रभाव स्थापित करने की क्षमता से युक्त होते हैं। प्रो. हिरियन्ना के अनुसार–'कर्म-सिद्धान्त का आशय यही है कि नैतिक जगत् में भी भौतिक जगत् की भांति, पर्याप्त कारण के बिना कुछ घटित नहीं हो सकता। यह समस्त दुःख का आदि-स्रोत हमारे अस्तित्व में अन्वेषित कर ईश्वर और प्रतिवेशी के प्रति कटुता निवारण करता है। अतीतकाल, वर्तमान व्यक्तित्व का एवं वर्तमान भविष्य के व्यक्तित्व का विधायक है।

कर्मवाद आचार-शास्त्र की समस्याओं को समाहित कर उसमें पूर्णता सम्पादित करता है। भारतीय चिन्तकों ने कर्म-सिद्धान्त की स्थापना के द्वारा नैतिक क्रियाओं के फल की अनिवार्यता प्रकट करने के साथ ही उनके पूर्ववर्ती कारकों एवं अनुवर्ती परिणामों की व्याख्या भी प्रस्तुत की तथा सृष्टि के वैषम्य का सुन्दरतम समाधान भी किया है।

संदर्भ

१. आवश्यक सूत्र ४/१
२. आचारांग १/१७४
३. वही १/७-८
४. वही १/४
५. मनन मूल्यांकन, पृ. ५
६. तत्त्वार्थ १/२ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।
७. आचा. २/६३ सव्वे पाणा पियाउया सुहसायादुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा।
८. भगवती ७/१६० जे निज्जिण्णे से सुहे।
९. सूत्रकृतांग १/१/१
१०. दशवैकालिक सूत्र ४/७ कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए।
कहं भुञ्जंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई ॥
११. दशवैकालिक सूत्र ४/८ जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई ॥
१२. तत्वार्थ ६/११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. उत्तराध्ययन ४/३

१४. दशवैकालिक सूत्र ४/६ सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ।

१५. वही ६/११ सव्वे जीवा वि इच्छंति जिविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

१६. फिलॉसॉफिकल क्वार्टरली, अप्रैल १९३२, पृ. ७२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. मनोविज्ञान और कर्म

व्यक्तित्व और कर्म

व्यक्तित्व शब्द अंग्रेजी के 'पर्सनैलिटी' शब्द का पर्याय है। पर्सनैलिटी शब्द 'पर्सोना' से लिया गया है।[1] पर्सोना का तात्पर्य वेष बदलने के लिए प्रयोग किए गए आवरण से था। नाटक के पात्र इसको पहन कर तरह-तरह के रूप बदला करते थे। इस प्रकार प्रारम्भ में पर्सोना शब्द का अर्थ बाह्य आवरण के रूप में किया जाता था, परन्तु रोमन-काल में विशेष गुण युक्त पात्र को ही पर्सोना कहा जाने लगा। यह दूसरा अर्थ ही आधुनिक मनोविज्ञान में पर्सनैलिटी शब्द से लिया जाता है। जन-साधारण में व्यक्तित्व का अर्थ व्यक्ति के बाह्य रूप से लगाया जाता है परन्तु मनोविज्ञान में व्यक्तित्व का अर्थ व्यक्ति के रूप एवं गुणों की समष्टि से है। मनोविज्ञान में व्यक्तित्व न तो बाह्य आवरण ही है और न कोरा आन्तरिक तत्त्व है बल्कि दोनों ही है। व्यक्तित्व कोई स्थिर अवस्था न होकर एक गतिशील समष्टि है जो कि परिवेश के प्रभाव से बदलती रहती है। व्यक्तित्व व्यक्ति के आचार-विचार, व्यवहार, क्रियाओं, गतिविधियों सभी में झलकता है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में व्यक्तित्व की अनेक परिभाषाएं उपलब्ध होती हैं। प्रस्तुत प्रसंग में मनोविज्ञान जगत् में मान्य व्यक्तित्व की जैव भौतिक परिभाषा पर अनुचिन्तन किया जा रहा है।

व्यक्तित्व की जैव भौतिक परिभाषाएं सम्भवतः सबसे प्राचीन हैं। इन परिभाषाओं में सामाजिक गुणों से अधिक जैविक गुणों पर बल दिया जाता है। 'गेलन' ने चित्तप्रकृति के जो चार प्रकार बताये हैं, वे शारीरिक स्रावों से संबंधित हैं। इन शारीरिक स्रावों के आधार पर गेलन ने चार प्रकार की चित्त प्रकृति वाले व्यक्तियों का उल्लेख किया है–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. उत्साही चित्त प्रकृति।

२. श्लेष्मिक चित्त प्रकृति।

३. विषादी चित्त प्रकृति।

४. कोपशील चित्त प्रकृति।

जैव भौतिक प्रकार के व्यक्तित्व सम्बन्धी परिभाषाओं के सन्दर्भ में क्रेत्समर और शैल्डन ने भी विचार किया है। क्रेत्समर ने शारीरिक संरचना और चित्त-प्रकृति को सम्मुख रखकर चार प्रकार के व्यक्तित्व का उल्लेख किया है—

कृशकाय, पुष्टकाय, तुन्दिल और मिश्रकाय।

शैल्डन ने शरीर की बनावट के आधार पर तीन प्रकार के व्यक्तित्व बताये हैं—

१. गोलाकार, २. आयताकार, ३. लम्बाकार

शैल्डन के अनुसार व्यक्तियों को शरीर की बनावट के अनुसार इन तीन वर्गों में रखा जा सकता है। गोलाकार व्यक्तित्व वाले अच्छा भोजन करना चाहते हैं और अत्यधिक आराम पसन्द होते हैं। आयताकार व्यक्तित्व वाले लोग कार्य प्रधान होते हैं। ऐसे व्यक्तित्व में शारीरिक शक्ति एवं गति की प्रधानता होती है। इनमें साहस अधिक होता है और श्रम करने के लिए तत्पर रहते हैं। लम्बाकार व्यक्तित्व वाले सेरेब्रोटोनिक अथवा प्रमस्तिष्क प्रधान होते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति बौद्धिक एवं मानसिक कार्यों में अधिक रुचि रखते हैं और अपनी विद्वता के लिए प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व की जैव भौतिक परिभाषाएं शरीर की बनावट एवं उससे सम्बन्धित लक्षणों पर विशेष बल देती है।

आयुर्वेद में भी वात, पित्त एवं कफ—इन तीन तत्त्वों के आधार पर व्यक्तित्व का विश्लेषण हुआ है। मनोविज्ञान की भाषा में नाम कर्म को व्यक्तित्व का निर्धारक तत्त्व कह सकते हैं। जैन-दर्शन में व्यक्तित्व के निर्धारक तत्त्वों को नाम कर्म की प्रकृति के रूप में जाना जाता है।

कर्म-सिद्धान्त में भी व्यक्तित्व विश्लेषक अनेक तथ्यों का प्रतिपादन प्राप्त होता है। मनोविज्ञान में सामान्य, असामान्य व्यक्तित्व आदि का जो उल्लेख प्राप्त होता है, वह वर्णन पांच भावों के साथ विवेचनीय है। कर्म के उदय एवं विलय से उत्पन्न चेतना की जो परिणति होती है उसे भाव कहा जाता है।[२] कर्म के क्षयोपशम, उपशम एवं क्षय की अवस्था को विलय कहा जाता है।[३] औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक एवं पारिणामिक के भेद से भाव के पांच प्रकार है। तत्वार्थ में इन भावों को ही जीव का स्वरूप कहा गया है।[४] इन भावों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधार पर व्यक्तित्व का सूक्ष्म विवेचन हुआ है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में इस दृष्टि से कार्य होना अभी भी अवशिष्ट है।

ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण जीव का ज्ञान स्वरूप आवृत हो जाता है। फलस्वरूप उसकी ज्ञान-चेतना विकसित नहीं हो पाती। जब आवरण कुछ हल्का होता है तब ज्ञान-चेतना का भी विकास होता है। हम देखते हैं कि प्राणियों में ज्ञान-चेतना की तरतमता दिखाई देती है। इसका हेतु ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है, जिसके क्षयोपशम अधिक होगा, उसका ज्ञान-विकास भी अधिक होगा। ज्ञान के क्षयोपशम की न्यूनता में ज्ञान कम होगा। शेल्डन ने लम्बाकार आकृति वाले व्यक्ति के व्यक्तित्व को सेरेब्रोटोनिक माना है। कर्म-सिद्धान्त ने ज्ञान के विकास के लिए विकसित शरीर की आवश्यकता को भी स्वीकार किया है। वज्रऋषभनाराच आदि छः संहननों में श्रेष्ठ संहननों में ही केवलज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। विशिष्ट ज्ञान-शक्ति का विकास अमुक प्रकार के संहनन में ही हो सकता है। कर्म-सिद्धान्त की यह मान्यता शेल्डन की व्यक्तित्व अवधारणा के साथ तुलनीय है।

मोह-कर्म के अनेक प्रकार हैं। उन विभिन्न मोह-कर्म की प्रकृतियों के उदय के अनुसार ही व्यक्ति के विचार एवं व्यवहार परिलक्षित होते हैं। गेलन ने जो विषादी, कोपशील चित्त-प्रकृतिवाले व्यक्तियों का उल्लेख किया है, उसका सम्बन्ध मोह-कर्म की प्रकृतियों के उदय से है।

कर्म-सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तित्व के और भी अनेक प्रकारों का विश्लेषण किया जा सकता है। मोहकर्म की क्षय, उपशम, क्षयोपशम की अवस्था में व्यक्तित्व भिन्न प्रकार का होगा। प्रतिदिन के अनुभव में यह तथ्य स्पष्ट होता है कि एक जैसी प्रतिकूल परिस्थिति, एक जैसी घटना, किन्तु उसमें एक तो शान्त रह सकता है और इसके विपरीत दूसरा उद्वेलित हो जाता है, इसका क्या कारण है? कर्म-सिद्धान्त की भाषा में जिसके मोहनीय कर्म विलय अवस्था में है वह खेदखिन्न नहीं बनेगा। घटना के प्रति भी वह सम्यक् दृष्टिकोण से चिन्तन करेगा किन्तु मोहनीय-कर्म की उदयावस्था में उद्वेलन हो जायेगा। आचरण, व्यवहार की जो तरतमता परिलक्षित होती है, उसका हेतु कर्म की विभिन्न अवस्थाएं ही हैं।

मानस-शास्त्र को समझने के लिए कर्म-शास्त्र को समझना भी आवश्यक है। क्योंकि कर्म-शास्त्र हमारे आचरणों की कार्य कारणात्मक मीमांसा है। हम जो भी आचरण करते हैं, उसके दो कारण होते हैं—बाह्य एवं आभ्यन्तर। बाहरी कारण बहुत स्पष्ट हैं। आन्तरिक कारण का अन्वेषण ही कर्म-सिद्धान्त का जनक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्तित्व के विकास एवं ह्रास में कर्म को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

आवेग-नियन्त्रण एवं कर्म

मानस-शास्त्र के अनुसार आवेग छह प्रकार के हैं—भय, क्रोध, हर्ष, शोक, प्रेम एवं घृणा। सारे मानवीय आचरणों की व्याख्या आवेगों के आधार पर की जाती है। आवेगों के कारण शारीरिक क्रियाओं में रासायनिक परिवर्तन, शारीरिक लक्षणों एवं अनुभूति आदि में परिवर्तन होता है। आवेगों का जीवन में बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है।

कर्मशास्त्र में मोहनीय कर्म के चार आवेग माने गये हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चार मुख्य आवेग हैं, हास्य, रति, भय आदि नौ उप-आवेग हैं। ईर्ष्या आदि को मिश्रित आवेग माना गया है। कर्मशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार भी ये मिश्रित है। मूल आवेग कषाय-चतुष्टयी हैं।

आवेगों का शोधन, परिवर्तन आदि की प्रक्रिया पर मानस शास्त्र में विचार हुआ है। जैन कर्म-शास्त्र में भी आवेग परिशोधन की विस्तृत प्रक्रिया उपलब्ध है। कर्म-शास्त्र की भाषा में आवेग-नियन्त्रण की तीन पद्धतियां हैं—उपशमन, क्षयोपशमन एवं क्षयीकरण।

१. उपशमन—मन में जो आवेग उत्पन्न हुए उनको शान्त कर देना, दबा देना उपशमन प्रक्रिया है। इसमें आवेगों का विलय नहीं होता किन्तु वे एक बार तिरोहित जैसे प्रतीत होते हैं किन्तु पुनः उभर जाते हैं। मनोविज्ञान की भाषा में इसे दमन की पद्धति कहा गया है। मनोविज्ञान दमन की प्रक्रिया को स्वस्थ नहीं मानता। कर्म-शास्त्र में यह मान्य है। दमन की पद्धति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्रोध का आवेग आया है तो तत्काल उसे एक बार दबाना होगा। बाद में उसका परिशोधन आवश्यक है। यद्यपि कर्म-शास्त्र भी मानता है, उपशमन की पद्धति लक्ष्य तक नहीं पहुंचा सकती। उपशम प्रक्रिया से चलने वाला साधक ग्यारहवें गुणस्थान में पहुंचकर भी वहां से वापस गिर जाता है।

२. क्षयोपशम—इस प्रक्रिया में दोषों का उपशमन एवं क्षय साथ-साथ चलता है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे उदात्तीकरण की पद्धति कहा गया है। यह मार्गान्तरीकरण की प्रक्रिया है।

३. क्षयीकरण—इस प्रक्रिया में आवेग पूर्ण क्षीण कर दिये जाते हैं। इसमें उपशमन नहीं होता, सबका नाश होता जाता है। आवेगों का उपशमन, क्षयोपशमन एवं क्षय होता है, यह कर्मशास्त्र की भाषा है। इसी भावना को मानस-शास्त्र,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दमन, शमन, मार्गान्तरीकरण, उदात्तीकरण, शोधन आदि शब्दों से प्रस्तुत करते हैं। आवेगों पर नियन्त्रण होना चाहिए, यह तथ्य दोनों ही शास्त्र स्वीकार करते हैं। मोह-कर्म का विश्लेषण मानस-शास्त्र के विवेचन से बहुत साम्य रखता है। कर्मशास्त्र एवं मानसशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा हम आवेग नियन्त्रण पद्धति के नये आयाम उद्घाटित कर सकते हैं।

मौलिक मनोवृत्तियां और कर्म

कर्मशास्त्र में शरीर-रचना से लेकर आत्मा के अस्तित्व तक, बन्धन से लेकर मुक्ति तक सभी विषयों पर गहन चिन्तन और मनन हुआ है। कर्मशास्त्रीय ग्रन्थ प्राचीन भाषा में सूत्रात्मक शैली में आबद्ध है। जब तक सूत्रात्मक परिभाषा में गुंथे हुए विशाल चिन्तन को परिभाषा से मुक्त कर वर्तमान के चिन्तन के साथ नहीं पढ़ा जाता, वर्तमान की शब्दावली में प्रस्तुत नहीं किया जाता, तब तक एक महान् सिद्धान्त भी अधिक उपयोगी नहीं बन सकता।

आज मनोवैज्ञानिक मन की हर समस्या पर अध्ययन और विचार कर रहे हैं। कर्मशास्त्रियों ने जिन समस्याओं पर विचार किया, आज उन्हीं समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक अध्ययन और शोध कर रहे हैं। यदि मनोविज्ञान के सन्दर्भ में कर्मशास्त्र को पढ़ा जाए तो अनेक गुत्थियां सुलझ सकती हैं।

मनोविज्ञान में मूल प्रवृत्तियों की चर्चा मुख्य रूप से होती है। डॉ. मैक्डूगल के अनुसार मूल प्रवृत्ति एक जन्मजात मनः शारीरिक क्षमता है। इस क्षमता के कारण एक प्राणी कुछ चीजों का बोध कर सकता है। उस बोध से उसमें एक प्रकार का उद्वेग या संवेग उत्पन्न होता है, जो उसे एक निश्चित ढंग से कार्य करने को प्रेरित करता है। 'गिन्सबर्ग' के अनुसार मूल प्रवृत्तियां विशिष्ट प्रेरक के प्रति प्रतिक्रिया की वे जन्मजात प्रणालियां हैं, जो अस्तित्व के लिए संघर्ष में उपयोगी होने के कारण प्रजातीय या वंशानुसंक्रमण के द्वारा हस्तांतरित होती हैं। मूल प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं।

मूल प्रवृत्तियां कितने प्रकार की होती हैं? इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। अनेक प्रकार का वर्गीकरण प्राप्त होता है। डॉ. मैक्डूगल का वर्गीकरण सबसे अधिक व्यापक माना गया है। मैक्डूगल ने चौदह मूल प्रवृत्तियां मानी हैं। उनके अनुसार प्रत्येक मूल प्रवृत्ति एक विशेष उद्वेग के द्वारा अनुगमित होती है। पलायन मूल प्रवृत्ति है तथा भय उसका सहवर्ती उद्वेग है। संघर्ष, जिज्ञासा, युयुत्सा आदि मूल प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में जब मोहनीय कर्म की अवधारणा को देखा जाता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो कर्मशास्त्रीय एवं मानस-शास्त्रीय चिन्तन एक धारा में प्रवाहित होता दृष्टिगोचर होता है। कर्मशास्त्र के अनुसार मोहनीय कर्म की अठाईस प्रकृतियां हैं और उसके उतने ही विपाक हैं। मूल प्रवृत्तियों एवं संवेगों के साथ इनकी तुलना की जा सकती है।

मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि संवेग के उद्दीपन से व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है। कर्मशास्त्र के अनुसार मोहनीय कर्म के विपाक से व्यक्ति का चारित्र और व्यवहार बदलता है।

सत्य में कोई द्वैत नहीं होता। जो सूक्ष्म रहस्य धार्मिक व्याख्याग्रन्थों में अव्याख्यात हैं अथवा जिनकी व्याख्या के स्रोत उपलब्ध नहीं है, उनकी व्याख्या वैज्ञानिक शोधों के सन्दर्भ में प्रामाणिकता से की जा सकती है। दर्शन और विज्ञान की सम्बन्धित शाखाओं का तुलनात्मक अध्ययन बहुत अपेक्षित है। ऐसा होने पर दर्शन के अनेक नये आयाम उद्घाटित हो सकते हैं।

संदर्भ

१. सामान्य मनोविज्ञान की रूपरेखा, पृ. ४७८
२. जैन सिद्धान्त दीपिका २/४२ कर्मण उदयविलयजनितः चेतनापरिणामो भावः।
३. वही, वृ. २/४२
४. तत्वार्थ सूत्र २/१ औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्व-मौदयिकपारिणामिकौ च।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. शरीरविज्ञान और कर्म

विज्ञान प्रकृति के रहस्यों को अनावृत करता जा रहा है। आज वैज्ञानिक विकास ने अनेक उद्घाटित सत्यों को प्रस्तुत किया है। हर क्षेत्र में विज्ञान के विकास का स्वर मुखरित हो रहा है। व्यक्ति आदिकाल से ही अपने बारे में जानने को लालायित रहा है। स्वयं की अवगति की जिज्ञासा ने व्यक्ति के सामने दो दिशाएं प्रस्तुत की। एक दिशा से व्यक्ति अध्यात्मोन्मुखी बना। वह आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म आदि रहस्यों को समझने का प्रयत्न करता रहा। फलस्वरूप अध्यात्म जगत् में साधना के विभिन्न प्रयोगों से अज्ञात जगत् ज्ञेय बनने लगा किन्तु यह अन्वेषण मुख्य रूप से वैयक्तिक था अर्थात् मात्र व्यक्तिगत अनुभवों पर ही आधारित था। बाह्य जगत् में उन अनुभवों पर वस्तुपरक प्रयोग नहीं हो सकते थे। दूसरी ओर विज्ञान मात्र बाह्यज्ञान एवं बाह्यप्रयोग पर आधारित होकर वस्तु सत्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा। फलस्वरूप बाह्य जगत् का प्रामाणिक, वस्तुपरक ज्ञान विज्ञान ने प्रस्तुत किया। स्वज्ञप्ति की जिज्ञासा ने शरीर को विषय बनाया एवं शरीर से सम्बन्धित अनेक अज्ञात तथ्य को इस अन्वेषण ने उद्घाटित किया। आज शरीर के बारे में इतनी अधिक अवगति शरीर वैज्ञानिकों ने प्राप्त की है कि जिसकी पूर्व में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। कोशिका जैसे शरीर के सूक्ष्मतम अंश की भी कार्यप्रणाली ज्ञात की है। जैनेटिक विज्ञान का प्रादुर्भाव शरीर-विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

शरीर के विभिन्न अवयवों की कार्य-प्रणाली के अध्ययन को शरीर-क्रिया विज्ञान (ह्यूमन फिजीओलॉजी) कहते हैं। इस विज्ञान द्वारा मनुष्य के शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों के कार्यों और उन कार्यों के होने के कारणों के साथ-साथ उनसे सम्बन्धित चिकित्सा-शास्त्र के नियमों का भी ज्ञान होता है।[1] कान सुनने का कार्य करते हैं, आंखे देखने का काम करती हैं। शरीर-क्रिया विज्ञान की अवगति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए शरीर-रचना विज्ञान (एनाटोमी) का ज्ञान आवश्यक होता है। शरीर वैज्ञानिकों ने शरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश को भी ज्ञात करने का प्रयत्न किया है तथा उसमें सफलता भी प्राप्त की है। शरीर-शास्त्रियों ने शरीर के रहस्यों का अवबोध तो प्राप्त किया है एवं कर रहे हैं किन्तु शरीर का ऐसा निर्माण क्यों होता है? किसने किया है? इन प्रश्नों का उत्तर उनके पास नहीं है, वे मात्र घटक तत्त्वों तक ही पहुंचे हैं किन्तु अध्यात्म-विज्ञान ने इन रहस्यों को भी अनावृत किया है। कर्मवाद का सिद्धान्त इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। शरीर-विज्ञान की विशेष अवगति का उपक्रम इन तीन सौ-चार सौ वर्षों से ही विज्ञान के क्षेत्र में चल रहा है, किन्तु अध्यात्म के आचार्यों ने हजारों वर्ष पूर्व ही शरीर-निर्माण के हेतु का उल्लेख कर्मवाद के सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया।

जैन कर्मवाद में ज्ञानावरण आदि आठ कर्म स्वीकृत किये गये हैं।[2] प्रत्येक कर्म के पृथक्-पृथक् कार्य का निर्धारण भी वहां पर है। शरीर-रचना का मुख्य हेतु 'नाम कर्म' को माना गया है। नाम कर्म को चित्रकार की उपमा से उपमित किया गया है जैसे चित्रकार अपनी कल्पना की उपज से नये-नये चित्रों का निर्माण करता है, वैसे ही कर्म शरीर, संस्थान की संरचना को अनेक रूप देता है। कर्मशास्त्र में नाम कर्म के अनेक भेद-प्रभेद किये गये हैं एवं उनके द्वारा विभिन्न प्रकार के शरीर संबंधी कार्य सम्पादित होते हैं।

जैसे गति नाम कर्म के प्रभाव से जीव, मनुष्य, तिर्यंच आदि गतियों में जाता है, जाति नाम कर्म के उदय से जीव को आंख, कान, आदि इन्द्रियों की प्राप्ति होती है। शरीर नाम कर्म से औदारिक आदि शरीर की प्राप्ति होती है। आज शरीरशास्त्री मानते हैं कि ग्रन्थियों के अमुक-अमुक प्रकार के स्राव से व्यक्ति का रंग सफेद, काला आदि होता है। कर्म के अनुसार वर्णनामकर्म शरीर के विविध वर्णों का निर्धारण करता है, अर्थात् इसी कर्म के कारण शरीर के कृष्ण और गौर आदि रंग होते हैं। श्वासोच्छ्वास की क्रिया विज्ञान मानता है, वह क्रिया श्वसन-तन्त्र के द्वारा होती है। कर्म के अनुसार उच्छवास नाम कर्म श्वासोच्छ्वास की क्रिया का हेतु है। कर्म ग्रन्थों में नाम कर्म के बयालीस, सड़सठ, तिरानवें याएक सौ तीन भेद उपलब्ध होते हैं।[3]

नाम कर्म की प्रकृतियां, उनके अवान्तर भेदों एवं उनके स्वरूप के विस्तृत विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इनमें जीव की शरीरगत वैचित्र्य की सम्पूर्ण विशेषताएं समाविष्ट हैं।

शरीर के घटक तत्त्व कौन से हैं? शरीर के सूक्ष्म, स्थूल आदि प्रकार, उसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचना, उसकी वृद्धि, ह्रास आदि अनेक विषयों पर शरीरशास्त्री विचार करता है। कर्मशास्त्र में भी प्रासंगिक रूप से इन्हीं शरीर सम्बन्धी विषयों का वर्णन प्राप्त होता है। अति प्राचीन कर्म-शास्त्र में भी शरीर की बनावट, उसके प्रकार, उसकी दृढ़ता और उसके कारणभूत तत्त्वों पर जो विचार उपलब्ध होते हैं, वे इस शास्त्र की महत्ता के अभिव्यञ्जक हैं। शरीरविज्ञान एवं कर्मवाद का संयुक्त शिक्षण एवं शोध इस सन्दर्भ में नवीन तथ्यों को प्रस्तुत कर सकता है। वार्तमानिक परिप्रेक्ष्य में वैसा उपक्रम अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

शरीर से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर कार्मिक दृष्टिकोण से व्याख्या की जा सकती है किन्तु प्रस्तुत निबन्ध में उसके कुछेक पहलुओं पर ही विचार किया जा रहा है।

रोग-प्रतिरोध क्षमता एवं कर्म

रोग-प्रतिरोध क्षमता शरीर की एक रक्षात्मक व्यवस्था है, जो रोगजनक तत्त्वों से शरीर की रक्षा करती है। शरीर में रोगों से अपनी रक्षा करने की बड़ी शक्ति है। इसके लिए उसमें अनेक साधन हैं। इन्हीं साधनों के कारण रोगों से शरीर की रक्षा होती रहती है। शरीर रोगग्रस्त तभी होता है, जब रक्षात्मक प्रणाली निर्बल बन जाती है। कर्म-सिद्धान्त की भाषा में जब सातावेदनीय कर्म का उदय होता है तब रोग प्रतिरोधक क्षमता सबल होती है। किसी भी परिस्थिति में वह असमर्थ नहीं बनती। यदि असातावेदनीय कर्म का उदय हो तो रोग-प्रतिरोधात्मक क्षमता निर्बल बन जायेगी। वैसी स्थिति में शरीर में रोग-उत्पत्ति शीघ्रता से होगी। विज्ञान यह व्याख्या तो कर सकता है कि शरीर में रोग-प्रतिरोधक शक्ति होती है। वह शक्ति कभी सबल बन जाती है, कभी निर्बल बन जाती है। वह श्वेत रक्त कण की जीवाणु भक्षण शक्ति है, किन्तु शरीर में वह क्यों होती है? सबल-निर्बल क्यों होती है? इसका समाधान विज्ञान के पास नहीं है। यह समाधान कर्म-सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति की सबलता एवं निर्बलता वेदनीय-कर्म से साता एवं असाता के उदय पर ही निर्भर करती है।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियां एवं कर्म

प्राचीन शरीर-विशेषज्ञ हृदय, स्नायु-संस्थान, गुर्दा आदि शरीर के प्रमुख अवयवों को शरीर का संचालक मानते थे किन्तु वर्तमान शरीर-शास्त्र की खोजों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि मूल कारण इससे भी बहुत आगे है। वर्तमान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में शरीरशास्त्र के अनुसार अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव ही शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाओं के नियामक माने जाते हैं। ग्रन्थियों से निकलने वाले स्राव शरीर और मन को जितना प्रभावित करते हैं, उतना प्रभावित हृदय, यकृत आदि स्नायु-संस्थान नहीं करते। ग्रन्थियों के स्राव की खोज ने चिकित्सा-जगत् में एक क्रान्ति उत्पन्न की है। इस अन्वेषण ने मानस विश्लेषण एवं शारीरिक विकास की विधा को एक नया आयाम प्रदान किया है।

ग्रन्थियां हमारे शारीरिक और मानसिक विकास को प्रभावित करती हैं। थायराइड (कण्ठमणि) शरीर के समूचे विकास को प्रभावित करती है। यदि इसका स्राव सन्तुलित न हो तो आदमी अत्यधिक लम्बा या बौना रह जाता है। थायराइड से उत्पादित रस का नाम थायरेक्सिन है। यह शरीर की पुष्टि, वृद्धि और मन के विकास का घटक रस है। यदि यह रस समुचित रूप से उत्पन्न नहीं होता है तो शरीर कमजोर रह जाता है और बुद्धि तथा मन का विकास नहीं होता। भय और क्रोध के संवेगों की अवस्था में इसका स्राव समुचित नहीं होता फलतः अनेक शारीरिक बीमारियां उत्पन्न हो जाती हैं।*

पीनियल की समुचित क्रिया के अभाव में प्रतिभा का विकास नहीं होता। इन ग्रन्थि के स्राव के अभाव में कोई भी व्यक्ति प्रतिभाशाली नहीं हो सकता।

एड्रीनल ग्रन्थि का असन्तुलित स्राव व्यक्ति को उद्दण्ड, क्रोधी, दब्बू आदि स्वभाव का बना देता है। अकारण ही भय, चिन्ता आदि की स्थिति इनके अनियमित स्राव के कारण होती हैं।

गोनाड ग्रन्थि से यौन-उत्तेजना तथा शारीरिक यौन-चिह्न उत्पन्न होते हैं। कर्मशास्त्र की भाषा में जिसे वेद कहा जाता है, उससे इस ग्रन्थि का सम्बन्ध है। लिंग-परिवर्तन स्त्री से पुरुष अथवा पुरुष से स्त्री हो जाना यह सारा इस ग्रन्थि के स्राव पर निर्भर है।

ग्रन्थियों के स्रावों के परिवर्तन के आधार पर अनेक प्रकार की विभिन्नताएं उत्पन्न होती हैं किन्तु ये ग्रन्थियां या इनके स्राव भी मूल कारण नहीं हैं। इनके पीछे भी सूक्ष्म कारण हैं, जिसको कर्म कहा जाता है। कर्म का सम्बन्ध स्थूल-शरीर से नहीं है। उसका सम्बन्ध सूक्ष्म-शरीर से है। कर्म के पुद्गल बहुत सूक्ष्म हैं। ग्रन्थियों के स्राव कर्म की अपेक्षा स्थूल हैं। कर्म चतुःस्पर्शी पुद्गल हैं, जबकि ग्रन्थियों के स्राव अष्ट-स्पर्शी हैं। चतुःस्पर्शी पुद्गल सूक्ष्म हैं। वे अभी तक निर्मित सूक्ष्मतम उपकरण के द्वारा अदृश्य है।

कर्म एक रासायनिक प्रक्रिया है। जैसे हमारी ग्रन्थियों की रासायनिक प्रक्रिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है, वैसे ही कर्म की भी रासायनिक प्रक्रिया होती है। कर्म पौद्गलिक है, भौतिक है। भगवान महावीर की यह महत्त्वपूर्ण स्थापना है। महावीर ही एक अकेले व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि कर्म पौद्गलिक है। अन्यान्य कर्मवादी दार्शनिकों ने कर्म को वासना एवं संस्कार के रूप में स्वीकार किया है किन्तु कर्म को पौद्गलिक नहीं माना है। भगवान महावीर की कर्म-पौद्गलिकत्व की अभिनव अवधारणा है, जो विज्ञान के तथ्यों के अधिक सन्निकट है। कर्मग्रन्थियों के स्रावों को प्रभावित करते हैं।

ग्रन्थि-विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में यदि हम कर्मों के शरीर में प्रकट होने के स्थान पर विमर्श करें तो सम्भावित प्राक्कल्पना की जा सकती है। पीनियल एवं पीच्यूटरी ग्रन्थि ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम एवं उदय का सम्भावित क्षेत्र हो सकती है। जब इन ग्रन्थियों का असन्तुलित स्राव होता है तब व्यक्ति प्रतिभा-सम्पन्न एवं बुद्धिमान नहीं हो सकता। यह विज्ञान-मान्य सिद्धान्त है। इस अवस्था की ज्ञानावरण आदि की उदयावस्था से तथा सन्तुलित या विशिष्ट स्राव आंशिक रूप से क्षयोपशम से तुलनीय है।

थायराइड ग्रन्थि मुख्य रूप से शरीर के ह्रास-विकास से सम्बन्धित विज्ञान में मानी गई है, जैन-दर्शन के कर्म-सिद्धान्त के प्रसंग में नाम कर्म से इसका सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। गोनाड, एड्रीनल ग्रन्थि मोहकर्म की प्रकृतियों के उदय के साथ काफी साम्य रखती है। कर्मशास्त्र में मोह के उपभेद—काम, क्रोध, लोभ, भय आदि के संवेगों के उदय से जीव की जो स्थिति बनती है, विज्ञान ने वैसा उल्लेख इन ग्रन्थियों के सम्बन्ध में किया है। यद्यपि कर्म सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों से चिपके हैं। आत्मा भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है अतः शरीर के किसी भी भाग से कर्म का प्रकटीकरण हो सकता है किन्तु मुख्य रूप से ग्रन्थियों के प्रभाव स्थल को कर्म का प्रभाव-क्षेत्र माना जा सकता है।

कर्म और जीन

आज का शरीर-विज्ञान मानता है कि शरीर का महत्त्वपूर्ण घटक 'जीन' है। यह संस्कार-सूत्र है। शरीर में खरबों कोशिकाएं हैं। प्रत्येक कोशिका में क्रोमोसोम है। जीन का आश्रय-स्थल क्रोमोसोम-गुणसूत्र है। क्रोमोसोम सूक्ष्म है। जीन उससे भी अधिक सूक्ष्म है। प्रत्येक गुण-सूत्र में हजारों जीन होते हैं तथा प्रत्येक जीन पर लाखों आदेश अंकित रहते हैं, ऐसा माना जाता है। कर्मशास्त्र की भाषा में कहा जा सकता है कि कर्म-स्कन्ध में अनन्तानन्त आदेश लिखे हुए होते हैं। एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बार गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—भंते विश्व में सर्वत्र तरतमता, विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, उसका क्या कारण है? भगवान ने कर्म को संसार की विचित्रता का हेतु स्वीकार किया है।[४] भगवान बुद्ध ने भी लोक-वैचित्र्य को कर्मज माना है।[५] यदि एक शरीरशास्त्री से पूछा जाये कि व्यक्तियों में पारस्परिक विषमता का कारण क्या है? तो उसका उत्तर होगा 'जीन' संस्कार सूत्र तरतमता के कारण हैं। जैसा जीन होता है, आदमी वैसा ही बन जाता है। सारे विभेदों का मूल कारण जीन को माना गया है। अभी तक विज्ञान जीन तक ही पहुंच पाया है और 'जीन' इस स्थूल शरीर का ही घटक है किन्तु कर्म सूक्ष्म-शरीर का घटक है। कार्मण शरीर सूक्ष्मतम है, उससे कर्म का सम्बन्ध है। वहां से जैसे स्पन्दन आते हैं, आदमी वैसा व्यवहार करने लगता है। कर्मशास्त्र की भाषा में कर्म-व्यवहार, तरतमता का नियामक है।

भगवान महावीर ने कर्मवाद के क्षेत्र में जो सूत्र दिये हैं, उनका दार्शनिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत बड़ा महत्त्व है। भगवान महावीर ने कहा—किया हुआ कर्म भुगतना पड़ेगा।[६] यह सामान्य सिद्धान्त है। इसके अपवाद सूत्र भी हैं। कर्मवाद के प्रसंग में भगवान महावीर ने उदीरणा, संक्रमण, उद्वर्तन और अपवर्तन के सूत्र भी दिए। उन्होंने कहा—कर्म को बदला जा सकता है, कर्म को पहले भी उदय से लाकर तोड़ा जा सकता है। उनके स्थिति एवं विपाक को कम, अधिक भी किया जा सकता है। पुरुषार्थ की सक्रियता से कर्म को बदला भी जा सकता है। संक्रमण का सिद्धान्त कर्मवाद की बहुत बड़ी वैज्ञानिक देन है। आधुनिक 'जीन-विज्ञान' की जो नई वैज्ञानिक धारणाएं और मान्यताएं आ रही हैं, वे इसी संक्रमण-सिद्धान्त की उपजीवी है। आज वैज्ञानिक इस शोध में लगे हुए हैं एवं सफलता को भी प्राप्त कर रहे हैं। संक्रमण का सिद्धान्त 'जीन' को बदलने का सिद्धान्त है। कर्म-परमाणुओं को बदला जा सकता है। कर्म की सजातीय प्रकृतियों का परस्पर परिवर्तन संक्रमण कहलाता है। संक्रमण के द्वारा शुभ कर्म अशुभ में तथा अशुभ कर्म शुभ में परिवर्तित हो सकता है। स्थानांग सूत्र में कर्म के संक्रमण सिद्धान्त की चतुर्भंगी मिलती है—चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—

'सुभे नाममेगे सुभविवागे, सुभे नाममेगे असुभविवागे,
असुभे नाममेगे सुभविवागे, असुभे नाममेगे असुभविवागे।

संदर्भ

१. शरीर-क्रिया विज्ञान, पृ. २

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. पन्नवणा २३/१
३. कर्मग्रन्थ १/३१-३२
४. कर्मवाद, पृ. १०
५. गाथा १६/१-२
६. अभिधर्म कोश ४/१ कर्मजं लोक वैचित्र्यम्।
७. उत्तराध्ययन सूत्र ४/३ कडाण कम्माण णत्थि मोक्खो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. जैन, बौद्ध, योग एवं वेदान्त के कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक विमर्श

यह दृश्यमान् चराचर जगत् हमारे सामने है, किन्तु यह क्यों है? इसका समाधायक तत्त्व हमारे सामने नहीं है। जो कारण प्रत्यक्ष नहीं होता उसके बारे में जिज्ञासा उठनी भी स्वाभाविक है। जगत् रूप कार्य हम सबके प्रत्यक्ष का विषय है किन्तु इसका कारण प्रत्यक्ष नहीं है। इसके कारण की खोज में दार्शनिक जगत् में नये-नये प्रस्थानों का आविर्भाव हुआ। जगत् है, इसमें विभिन्नता भी दिखाई दे रही है। प्राणियों के स्तर पर भी विभिन्नता है। एक ही प्रजाति के जीवों में भी परस्पर विभिन्नता है। एक मनुष्य का दूसरे से विभेद है। उसकी अपनी सुख-दुःख आदि की अनुभूति भी पृथक् प्रकार की है। शारीरिक रचना, आकार-प्रकार सबमें भेद परिलक्षित है। ज्ञान चेतना का विकास भी एक जैसा नहीं है, उसमें तरतमता स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही है। इन्हीं तथ्यों के कारण की खोज में दर्शन जगत् में काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर, कर्म आदि सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ।

जगत् एवं जगत् में उपस्थित वैविध्य का कारण कालवादी चिन्तकों ने काल को, स्वभाववादी चिन्तकों ने स्वभाव को, नियतिवादी, ईश्वरवादी, कर्मवादी चिन्तकों ने क्रमशः नियति, ईश्वर एवं कर्म को स्वीकार किया।

कर्म सिद्धान्त का प्रादुर्भाव सृष्टि वैचित्र्य, वैयक्तिक-भिन्नता एवं व्यक्ति की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों के कारण की व्याख्या के प्रयासों में ही हुआ है। वस्तुतः जगत् वैविध्य एवं वैयक्तिक भिन्नताओं की तार्किक व्याख्या ही कर्म सिद्धान्त के उद्भव एवं विकास का कारण बनी है। भारतीय चिन्तकों ने जगत् के कारण की मीमांसा के सन्दर्भ में अनेक विचार उपस्थित किये हैं। जैन दर्शन ने स्पष्ट रूप से जगत् के वैविध्य का कारण कर्म को स्वीकार किया है। भगवतीसूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में भगवान् महावीर कहते हैं जीव कर्म के द्वारा विभक्तिभाव अर्थात् विभिन्नता को प्राप्त होता है। 'कम्मओ णं जीवे णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई' बौद्ध दर्शन भी जगत् को, लोक की विचित्रता कर्म हेतुक मानता है। कर्मजं लोकवैचित्र्यं ईश्वरवादी चिन्तकों ने भी किसी-न-किसी रूप में इस प्रश्न के समाधान में सहयोगी कारण के रूप में कर्म की अवधारणा को स्वीकार किया है अतः भारतीय चिन्तन की धारा में कर्म सिद्धान्त एक सर्वमान्य विचार का बिन्दु रहा है।

कर्म का स्वरूप

कर्म का सामान्य अर्थ क्रिया/प्रवृत्ति है। कर्म अर्थात् कुछ करना। मन, वचन एवं शरीर के द्वारा की जाने वाली सम्पूर्ण क्रिया/प्रवृत्ति को कर्म कहा जा सकता है। मीमांसक परम्परा में यज्ञ-यागादि, नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं को कर्म की संज्ञा दी गयी हैं। गीता में कायिक आदि प्रवृत्तियों को कर्म कहा गया। बौद्ध विचारकों ने भी कर्म शब्द का प्रयोग क्रिया के अर्थ में किया है। बौद्ध दर्शन में यद्यपि शारीरिक, वाचिक और मानसिक इन तीनों प्रकार की क्रियाओं के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, फिर भी इन तीनों में चेतना को ही प्रधान माना गया है। योग एवं वेदान्त दर्शन को भी कर्म के विशिष्ट अर्थ के साथ उसका क्रियात्मक अर्थ भी मान्य है। जैन परम्परा में संसारी की प्रत्येक क्रिया अथवा प्रवृत्ति कर्म कहलाती है। जैन परिभाषा में इसको भावकर्म कहते हैं। इसी भावकर्म अर्थात् जीव की शरीर, वाणी एवं मन की क्रिया के द्वारा जो पुद्गल आकर आत्मा के चिपक जाते हैं उनको जैन दर्शन में द्रव्यकर्म कहा जाता है। जैन सिद्धान्त दीपिका में कहा गया—'आत्मप्रवृत्त्याकृष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्गलाः कर्म' आत्मा की प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट एवं कर्म रूप में परिणत होने योग्य पुद्गलों को कर्म कहते हैं। कार्मण वर्गणा के पुद्गलों में ही कर्म रूप में परिणत होने की योग्यता है। संसार में अलग-अलग प्रकार के कार्य करने वाले पुद्गलों का समूह उपस्थित है। एक प्रकार का कार्य करने वाले समान जाति वाले पुद्गलों के समूह को वर्गणा कहते हैं। कार्मण वर्गणा के पुद्गल स्कन्धों से ही कर्म का निर्माण हो सकता है। वे पुद्गल स्कन्ध चतुःस्पर्शी होते हैं, अर्थात् उनमें शीत, उष्ण, स्निग्ध एवं रूक्ष ये चार स्पर्श होते हैं। अनन्त प्रदेशी कार्मण वर्गणा के पुद्गलों से ही द्रव्य कर्म का निर्माण हो सकता है इसके अतिरिक्त पुद्गलों में कर्म रूप में परिणत होने की योग्यता नहीं है। प्रायः भारतीय चिन्तकों ने कर्म का क्रिया के अतिरिक्त अन्य अर्थ भी स्वीकार किया है। प्रस्तुत निबंध में जैन कर्म सिद्धान्त के साथ बौद्ध,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग एवं वेदान्त दर्शन के कर्म सिद्धान्त की तुलना का प्रयत्न किया जायेगा।

बौद्ध दर्शन

जैन एवं बौद्ध दोनों ही दर्शन सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार जगत् की विविधता कर्मकृत है। कर्म का कर्ता प्राणी है। वह कर्म का बन्धन करता है फिर कर्म उसे अपना फल देते हैं इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है।

कर्म के भेद

बौद्ध दर्शन में मुख्यरूप से कर्म के दो प्रकार हैं—१. चेतना और २. चेतयित्वा। चेतना मानस कर्म है। चेतना से जो उत्पन्न होता है वह चेतयित्वा कर्म है। चेतयित्वा कर्म दो प्रकार का है—कायिक और वाचिक। इस प्रकार मानसिक, वाचिक एवं कायिक के भेद से कर्म के तीन प्रकार हो जाते हैं। आश्रय, स्वभाव और समुत्थान की दृष्टि से इन तीनों कर्मों का अपना विशिष्ट स्थान है। आश्रय की दृष्टि से कायकर्म प्रधान है क्योंकि सब कर्म काय पर आश्रित है। स्वभाव की दृष्टि से विचार करें तो वाक् कर्म ही एक कर्म है, अन्य दो का कर्मत्व नहीं होगा क्योंकि काय, वाक् और मन इन तीन में से केवल वाक् स्वभावतः कर्म है। यदि समुत्थान की दृष्टि से चिन्तन करें तो केवल मनस् कर्म है क्योंकि सब कर्मों का प्रारम्भ मन से ही होता है। इस प्रकार विशेष प्रकार की अपेक्षा से अलग-अलग कर्म की प्रधानता हो जाती है। कर्म के ये तीन भेद प्राचीन माने जाते हैं।

जैन दर्शन में इस मन-वचन एवं काया की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। इससे कर्म का आकर्षण होता है उसे द्रव्यकर्म कहा जाता है। द्रव्य कर्म के ज्ञानावरणीय आदि अनेक भेद-प्रभेद हैं।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म के दो प्रकार हैं—द्रव्यकर्म एवं भावकर्म। भावकर्म आत्मा की प्रवृत्ति है एवं द्रव्यकर्म उस प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट होकर आत्मा के चिपकने वाले कर्म पुद्गल हैं। राग, द्वेष, मोह आदि भावकर्म हैं। जैनों के सदृश बौद्ध ने भी कर्म की उत्पत्ति में राग, द्वेष एवं मोह को कारण रूप से मान्य किया है। बौद्ध दर्शन में कर्म मात्र चैतसिक है। जैन के अनुसार कर्म चैतसिक तो है ही किन्तु द्रव्यकर्म पौद्गलिक है। कर्मों को पौद्गलिक मानना जैन दर्शन की मौलिक अवधारणा है।

कर्म के दो अन्य भेद भी बौद्ध दर्शन में उपलब्ध होते हैं—विज्ञप्ति कर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् काय एवं वाणी के द्वारा चित्त की अभिव्यक्ति और अविज्ञप्ति कर्म अर्थात् विज्ञप्ति से उत्पन्न कुशल और अकुशल कर्म। विशुद्धिमग्ग में कर्म को अरूपी कहा है तथा अभिधर्मकोश में उसे अविज्ञप्ति रूप माना गया है। बौद्ध दर्शन में कर्म को मानसिक वाचिक और कायिक मानकर उसे विज्ञप्ति रूप कहा है। विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति कर्म भावों के अनुसार शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। जैन धर्म के द्रव्य एवं भावकर्म की तुलना एक अपेक्षा से इनके साथ की जा सकती है। वासना और अविज्ञप्ति कर्म को जैन धर्म का द्रव्य कर्म तथा विज्ञप्ति कर्म को जैनधर्म का भावकर्म कहा जा सकता है।

कर्मविपाक की अवधारणा

जैन दर्शन के अनुसार कृत कर्मों का फल भोग किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्राप्त होता है। 'कडाण कम्माण णत्थि मोक्खो' जो कर्म किये हैं उनका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता। किन्तु कर्म की अवस्थाओं में समय, शक्ति, रस आदि के विपाक को कम, अधिक एवं परिवर्तित भी किया जा सकता है। जैन के अनुसार कुछ कर्म नियत विपाकी होते हैं कुछ अनियत विपाकी होते हैं। जिनका विपाक नियत है, उनमें किसी भी प्रकार से हेराफेरी नहीं की जा सकती है। वे कर्म जैन परिभाषा में निकाचित कर्म कहलाते हैं। जिन कर्मों का बंध तीव्र कषाय के द्वारा हुआ है वे प्रगाढ़ कर्म है, उनका विपाक नियत होता है। इसके विपरीत जिन कर्मों के बंधन के समय कषाय की अल्पता होती है वे अनियत-विपाकी कर्म हैं अर्थात् उनके फल एवं समय में परिवर्तन किया जा सकता है। जैन कर्म सिद्धान्त की संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा एवं उपशमन की अवस्थाएं कर्मों के अनियत विपाक की ओर संकेत करती है।

बौद्ध दर्शन में भी कर्मों के विपाक की नियतता और अनियतता पर विमर्श किया गया है। बौद्ध दर्शन में कर्मों को नियत विपाकी और अनियत विपाकी दोनों प्रकार का माना गया है।

नियत विपाकी अर्थात् जिनका फलभोग उसी रूप में भोगना अनिवार्य होता है, अनियत विपाकी जिनका फल भोग नियत नहीं होता परिवर्तित हो सकता है। कुछ बौद्ध आचार्यों ने नियत विपाकी और अनियतविपाकी कर्मों में प्रत्येक को चार-चार भागों में विभक्त किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियतविपाकी कर्म

१. दृष्टधर्मवेदनीय—वह कर्म जिसका इसी जन्म में अनिवार्य रूप से फल प्राप्त होता है।

२. उपपद्यवेदनीय—वह कर्म जिसका फल समनन्तर अर्थात् इस जन्म के बाद में होने वाले जन्म में अनिवार्य रूप से प्राप्त होता है।

३. अपरपर्यायवेदनीय—वह कर्म जो विलम्ब से अनिवार्य फल देता है।

४. अनियत वेदनीय किन्तु नियत विपाक—वह कर्म जिसका स्वभाव तो बदला जा सकता है किन्तु उसका भोग अनिवार्य है। यह कर्म जैन मान्य कर्म की संक्रमण अवस्था जैसा है। अर्थात् कर्म का बंध जिस रूप में हुआ है उसको बदलकर भोगा जा सकता है।

अनियतविपाक कर्म

१. दृष्टधर्मवेदनीय—वह कर्म जो इसी भव में फल देने वाला है किन्तु जिसका फल भोग आवश्यक नहीं है।

२. उपपद्यवेदनीय—वह कर्म जो उपपन्न होकर समनन्तर जन्म में फल देने वाला है किन्तु जिसका फलभोग हो ही यह आवश्यक नहीं है।

३. अपरपर्यायवेदनीय—वह कर्म जो विलम्ब से फल देने वाला है किन्तु जिसका फल भोग आवश्यक नहीं है।

४. अनियतवेदनीय-अनियतविपाक—वह कर्म जो अनुभूति एवं विपाक दोनों दृष्टियों से अनियत है।

इस प्रकार बौद्ध विचारक कर्मों की नियतता एवं अनियतता की विस्तृत व्याख्या करते हैं। जिसकी तुलना जैन कर्म सिद्धान्त के निकाचित एवं दलिक कर्मों के साथ होती है। जैनदर्शन के अनुसार निकाचित कर्म नियतविपाकी होते हैं तथा दलिक कर्म अनियत विपाकी होते हैं।

कर्मफल संविभाग

कर्म सिद्धान्त के संदर्भ में एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या व्यक्ति अपने किये हुये शुभ-अशुभ कर्मों का फल दूसरे व्यक्ति को दे सकता है अथवा नहीं दे सकता? कर्मफल के संविभाग संदर्भ में जैन, बौद्ध विचारधारा में भिन्नता परिलक्षित होती है।

जैन विचारणा के अनुसार प्राणी के शुभ-अशुभ कर्मों के प्रतिफल में कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भागीदार नहीं बन सकता। जो कर्म करता है उसी को उसका फल भोगना पड़ता है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि उसके दुःख को न ज्ञातिजन बांट सकते हैं और न मित्र, पुत्र, बंधुजन। वह स्वयं अकेला ही प्राप्त दुःखों को भोगता है क्योंकि कर्म कर्ता के पीछे चलता है। भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि प्राणी स्वकृत सुख-दुःख का भोग करते हैं परकृत सुख-दुःख का भोग नहीं करते हैं।

बौद्ध दर्शन के अनुसार कर्मफल संविभाग में दूसरे को सम्मिलित किया जा सकता है। बौद्ध दर्शन में बोधि-सत्व का आदर्श कर्मफल संविभाग के विचार को पुष्ट करता है। बोधि-सत्व तो सदैव कामना करते हैं कि उनके कुशल कर्मों का फल विश्व के समस्त प्राणियों को मिले। बौद्ध दर्शन यह मानता है कि केवल शुभकर्मों के फल में दूसरे को सम्मिलित किया जा सकता है। पापकर्म का फल तो कर्म के कर्ता को ही भोगना पड़ता है। कर्मफल के संविभाग के संदर्भ में आचार्य नरेन्द्रदेव लिखते हैं कि सामान्य नियम यह है कि कर्म स्वकीय है, जो करता है, वही उसका फल भोगता है। किन्तु पालिनिकाय में पुण्य-परिणामना का उल्लेख है। बौद्धों के अनुसार व्यक्ति अपने पुण्य कर्म में दूसरे को सम्मिलित कर सकते हैं पाप में नहीं कर सकते।

कर्मफल का नियामक

कर्मफल की प्राप्ति के विषय में न्याय, वैशेषिक दर्शन एवं शंकराचार्य आदि चिन्तकों का मन्तव्य है कि कर्म अचेतन होते हैं अतः वे अपना फल स्वतः नहीं दे सकते। कर्मों का फल सर्वशक्तिमान ईश्वर के अधीन है किन्तु जैन एवं बौद्ध दोनों ही दर्शन कर्मफल के संदर्भ में ईश्वर को स्वीकार नहीं करते हैं। कर्म स्वयं ही अपने फल को देने में समर्थ है। उसके लिए अन्य कर्मफल प्रदाता की आवश्यकता नहीं है।

जैन एवं बौद्ध दोनों ही कर्म को सूक्ष्म मानते हैं। उनको स्थूल पदार्थों की तरह इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनाया जा सकता। जैन एवं बौद्ध दोनों ही श्रमण परम्परा के है। इन परम्पराओं में कर्म को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

योगदर्शन

योगदर्शन की कर्म प्रक्रिया की जैन दर्शन से बहुत समानता है। योग दर्शन के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश ये पांच क्लेश हैं–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः'। इन पांच क्लेशों के कारण क्लिष्टवृत्ति चित्त व्यापार की उत्पत्ति होती है और उससे धर्म-अधर्म रूप संस्कार उत्पन्न होते हैं। जैन परिभाषा में क्लेशों को भावकर्म, वृत्ति को योग एवं संस्कार को द्रव्य-कर्म समझा जा सकता है। योग दर्शन में संस्कार को वासना, कर्म और अपूर्व भी कहा गया है। यहां क्लेश और कर्म का कार्य-कारणभाव जैनदर्शन के समान बीज अंकुरवत् अनादि स्वीकार किया गया है। सांख्य दर्शन की भी मान्यता योग दर्शन जैसी है।

जैन मतानुसार मोह, राग, द्वेष आदि के कारण अनादिकाल से आत्मा के साथ पौद्गलिक कार्मण शरीर का सम्बन्ध है। इसी प्रकार सांख्य मत में लिंग शरीर अनादिकाल से पुरुष के संसर्ग में है। इस लिंग शरीर की उत्पत्ति राग, द्वेष, मोह जैसे भावों से होती है तथा भाव एवं लिंग शरीर में भी बीज एवं अंकुर की तरह कार्य-कारण-भाव है। जैसे जैन औदारिक स्थूल शरीर को कार्मण शरीर से भिन्न मानते हैं, वैसे ही सांख्य भी लिंग (सूक्ष्म) शरीर को स्थूल शरीर से पृथक् मानते हैं। जैनों के कार्मण शरीर एवं सांख्य के लिंग शरीर में बहुत कुछ समानता है। जैन सम्मत भावकर्म की तुलना सांख्य सम्मत भावों से, योग की तुलना वृत्ति से तथा द्रव्यकर्म अथवा कार्मण शरीर की तुलना लिंग शरीर से की जा सकती है। जैन तथा सांख्य दोनों ही कर्मफल अथवा कर्म निष्पत्ति में ईश्वर जैसे किसी कारण को स्वीकार नहीं करते हैं। जैन और योग में अन्तर यह है कि योगदर्शन की प्रक्रिया के अनुसार क्लेश, क्लिष्टवृत्ति और संस्कार इन सबका सम्बन्ध आत्मा से नहीं है अपितु चित्त अथवा अन्तःकरण के साथ है और यह अन्तःकरण प्रकृति का विकार है। जैन के अनुसार इनका सम्बन्ध आत्मा से है जो परिणामी नित्य है।

कर्म के प्रकार

योग दर्शन में कर्म चार प्रकार का माना गया है—कृष्ण, शुक्ल, शुक्ल-कृष्ण और अशुक्लाकृष्ण। कृष्ण को पापकर्म तथा शुक्ल को पुण्य कर्म कहा जाता है। इनमें दुरात्माओं का कर्म कृष्ण है, कृष्ण-शुक्ल कर्म बाह्य व्यापार से साध्य होता है, उसमें परपीड़न तथा परानुग्रह से कर्माशय संचित होता है। तपस्वी, स्वाध्यायी और ध्यानी व्यक्तियों का कर्म शुक्ल है, यह केवल मन के अधीन होने के कारण बाह्यसाधन शून्य है, अतः यह कर्म पर-पीड़नपूर्वक नहीं होता है। क्लेशहीन, चरमदेह संन्यासियों का कर्म अशुक्लाकृष्ण है। योगियों का कर्मफल संन्यास के कारण अशुक्ल और निषिद्ध कर्म-त्याग के कारण अकृष्ण होता है। अन्य प्राणियों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म अशुक्लाकृष्ण को छोड़कर तीन प्रकार के होते हैं। जैन परिभाषा में कृष्ण को पाप एवं शुक्ल को पुण्यकर्म कहा जा सकता है। जैन कर्म सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार व्यक्ति जैसी प्रवृत्ति करता है उसके अनुसार ही उसके कर्मों का बंध होता है। यदि प्राणी की प्रवृत्ति शुभ है जिसको जैन परिभाषा में शुभयोग कहा जाता है, उससे शुक्ल अर्थात् पुण्यकर्म का आकर्षण होगा। एक व्यक्ति के एक ही प्रकार के कर्म का बंध होगा ऐसी जैन अवधारणा नहीं है। यद्यपि जैन परम्परा में भी यह माना जाता है कि ईर्यापथिकी क्रिया अर्थात् वीतराग की क्रिया से केवल शुक्ल कर्मों का ही बंध होता है, किन्तु वीतराग के शुक्ल कर्मों का बंध भी दो समय वाला होता है, पहले समय में वह उसे बांधता है, दूसरे में भोग लेता है, उस कर्म की कोई वासना या संस्कार नहीं बनते अतः एक अपेक्षा से वीतराग के कर्मबंध को अशुक्लाकृष्ण कह सकते हैं। सम्परायक्रिया अर्थात् सकषायी प्राणी की क्रिया से शुक्ल एवं कृष्ण, पुण्य एवं पाप दोनों ही प्रकार के कर्मों का बंध होता है।

ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र एवं अन्तराय ये मुख्य रूप से आठ कर्म जैनदर्शन में माने गये हैं। उनमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय ये चार कर्म एकान्त रूप से कृष्ण पापकर्म है। जैनदर्शन में इन चार कर्मों को घाती कर्म कहा जाता है। वेदनीय, आयुष्य, नाम एवं गोत्र कर्म शुक्ल एवं कृष्ण/पुण्य एवं पाप उभयरूप है। इन चार कर्मों को जैन दर्शन में अघाती कर्म कहा जाता है।

कर्म का विपाक

योग दर्शन के अनुसार कर्म का फल/विपाक जाति, आयु और भोग रूप से तीन प्रकार का होता है। जाति पद मनुष्य, पशु, देव आदि योनियों का सूचक है। एक निश्चित अवधि तक देह तथा प्राण के संयोग की सूचना आयु पद से हो रही है तथा भोग शब्द सुख-दुःख रूप अनुभूति को अभिव्यञ्जित कर रहा है। योग सम्मत ये तीनों पद एक-दूसरे से इतने आबद्ध हैं कि एक के अभाव में दूसरे की संभावना ही असंभव है क्योंकि व्यक्ति अपने द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार सुख दुःख का भोग तभी कर सकता है जब उसके पास आयु हो और आयु वह तभी धारण कर सकता है जब उसने जन्म लिया हो। इस प्रकार जाति (जन्म) आयु (उम्र) एवं भोग रूप तीनों फल परस्पर सम्बद्ध है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि योग सम्मत जाति जैनदर्शन के नाम कर्म के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपाक से तुलनीय है। आयु विपाक की तुलना जैनदर्शन के आयुष्यकर्म के विपाक से की जा सकती है। योग एवं जैनदर्शन दोनों में ही सोपक्रम एवं निरूपक्रम के भेद से आयुविपाक को उभयरूप स्वीकार किया है। किसी बाह्य निमित्त को प्राप्त कर यदि आयु समाप्त हो जाती है तो वह सोपक्रम आयु है और यदि बाह्य निमित्त से आयु समाप्त नहीं की जा सके वह निरूपक्रम आयु है। सुख, दुःख, रूप भोग की तुलना वेदनीय कर्म से की जा सकती है। पातञ्जल योगदर्शन में प्रकाशावरण एवं विवेक ज्ञानावरणीय कर्म का उल्लेख हुआ है उसकी तुलना जैन सम्मत ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म से की जा सकती है।

योगदर्शन में जैनदर्शन की भांति कर्माशय को नियत-विपाकी एवं अनियत विपाकी उभयविध माना है। योगदर्शन में कर्म विपाक की अनियतता पर अधिक बल दिया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वजन्म की पाप राशि वर्तमान जन्म के पुण्य प्रभाव से बिना विपाक दिये हुए ही नष्ट हो जाती है। विपाक के सम्बन्ध में जैन मत में प्रत्येक कर्म का विपाक नियत है वैसे योगदर्शन में नियत नहीं है। योग मत के अनुसार सभी संचित कर्म मिलकर उक्त जाति, आयु और भोगरूप विपाक का कारण बनते हैं।

कर्माशय का विपाक दो प्रकार का है—अदृष्टजन्म वेदनीय और दृष्टजन्म वेदनीय। जिसका विपाक दूसरे जन्म में मिले वह अदृष्टजन्म वेदनीय कहलाता है तथा जिसका फल इस जन्म में मिल जाए वह दृष्टजन्म वेदनीय कहलाता है। योगदर्शन के अनुसार अदृष्टजन्म वेदनीय के जाति, आयु एवं भोग ये तीनों विपाक होते हैं किन्तु दृष्टजन्म वेदनीय के आयु तथा भोग अथवा केवल भोग रूप विपाक ही होता है। जन्म रूप विपाक नहीं हो सकता यदि दृष्टजन्म वेदनीय में भी जन्म रूप विपाक स्वीकार कर लिया जाये तो वह भी अदृष्टजन्म वेदनीय ही हो जायेगा। योगदर्शन के अनुसार कृष्ण कर्म की अपेक्षा शुक्ल कर्म अधिक बलवान् होते हैं। शुक्ल कर्म का उदय होने पर कृष्ण कर्मफल दिये बिना ही नष्ट हो जाते हैं।

कर्म की अवस्था

जैनदर्शन में कर्म की बंध आदि दश अवस्थाएं मानी गयी हैं। पातञ्जल योग दर्शन में भी क्लेशों की विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख है। जैन न्याय के विशिष्ट विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी ने भावों के साथ पांच क्लेशों के आविर्भाव एवं तिरोभाव की तुलना की है। उन्होंने अविद्या, अस्मिता आदि पांच क्लेशों को मोहनीय कर्म का उदयरूप माना है। पतञ्जलि के अनुसार क्लेश प्रसुप्त, तनु,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विच्छिन्न एवं उदार इन चार रूपों में विद्यमान रहते हैं। उपाध्यायजी के अनुसार क्लेश की प्रसुप्तावस्था जैन मान्य अबाधाकाल सदृश है। तनु अवस्था उपशम एवं क्षयोपशम स्थानीय है। विच्छिन्न विरोधी प्रकृति के उदय से व्यवहित स्थानीय है। उदार अवस्था उदय स्थानीय है।

योगदर्शन एवं जैनदर्शन के कर्म सिद्धान्त के विमर्श से अवबोध प्राप्त होता है कि इन दोनों परम्पराओं में कर्म की अवधारणा के संदर्भ में निकटता है। गंभीरता से विचार करने से इस सम्बन्ध में अनेक नये तथ्य उपलब्ध हो सकते हैं।

वेदान्त दर्शन

वैदिक परम्परा में कर्म के अनेक रूप परिलक्षित होते हैं। उपनिषदों के पूर्व के ग्रंथों में कर्म का तात्पर्य मात्र यज्ञ, यागादि, नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं से माना गया है। यज्ञ आदि से उत्पन्न अपूर्व पदार्थ की स्वीकृति भी उस दर्शन में हुई। शंकराचार्य ने मीमांसक सम्मत इस अपूर्व की कल्पना का अथवा सूक्ष्मशक्ति की कल्पना का खण्डन किया है और यह बात सिद्ध की है कि ईश्वर कर्म के अनुसार फल प्रदान करता है। उन्होंने इस पक्ष का समर्थन किया है कि फल की प्राप्ति कर्म से नहीं अपितु ईश्वर से होती है।

कर्म स्वरूप की एकता

कर्म स्वरूप के विमर्श से यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि भावकर्म के विषय में किसी भी दार्शनिक को आपत्ति नहीं है। सभी के मत में राग-द्वेष और मोह कर्म अथवा कर्म के कारण है। वेदान्त दर्शन में अविद्या या माया कर्म स्थानीय है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार बंधन का मूल कारण अविद्या या अज्ञान है। अविद्या आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है अपितु वह जीव की मिथ्या कल्पना का परिणाम है।

शंकराचार्य का मन्तव्य है कि यदि हम यह स्वीकार कर लें कि अविद्या आत्मा का स्वाभाविक गुण है तो ऐसी स्थिति में अज्ञान का कभी भी अन्त ही नहीं होगा, जीव की मुक्ति ही नहीं हो सकेगी, वह निरन्तर बंधन में ही पड़ा रहेगा। बंधन केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है। पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव न कभी बंधन में पड़ता है तथा न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है। शंकर के अनुसार बंधन और मोक्ष दोनों ही व्यावहारिक है। शंकर की अविद्या की अवधारणा जैनदर्शन सम्मत भावकर्म के सदृश है। उस अविद्या से होने वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंधन को द्रव्यकर्म स्थानीय स्वीकार किया जा सकता है।

वेदान्त ज्ञान-मीमांसा पर आधृत है उसे उत्तर-मीमांसा कहा जाता है। उसने कर्म के संदर्भ में पूर्व मीमांसा के मन्तव्य को ही प्रायः स्वीकार किया है। पूर्व मीमांसा कर्म की मीमांसा पर आधृत दर्शन है।

पूर्व मीमांसा में यज्ञ आदि को कर्म कहा गया है। मुख्य कर्म तीन प्रकार के हैं—

१. नित्यकर्म—जिनका अनुष्ठान प्रतिदिन करना अनिवार्य है। जिनके नहीं करने से पाप का बन्ध होता है।

२. नैमित्तिक कर्म—सूतक, पातक आदि निमित्तों के आधार पर किये जाने वाले कर्म।

३. काम्यकर्म—पुत्र आदि की प्राप्ति से किये जाने वाले कर्म।

इन यज्ञ आदि कर्म से अपूर्व नाम के पदार्थ की उत्पत्ति होती है। मनुष्य जो कुछ भी अनुष्ठान करता है वह क्रिया रूप होने के कारण क्षणिक है अतः उस अनुष्ठान से अपूर्व नामक पदार्थ का जन्म होता है जो यज्ञ आदि अनुष्ठान का फल प्रदान करता है। वेदविहित कर्म से जिस शक्ति अथवा संस्कार का प्रादुर्भाव होता है उसी को अपूर्व कहा जाता है। अन्य दार्शनिक जिसे संस्कार, योग्यता, शक्ति कहते हैं उसे मीमांसक अपूर्व शब्द के प्रयोग से व्यक्त करते हैं। मीमांसक यह भी मानते हैं कि अपूर्व अथवा शक्ति का आश्रय आत्मा है और आत्मा के समान अपूर्व भी अमूर्त्त है।

मीमांसक के अनुसार कार्य निष्पादन का क्रम यह होता है—कामना, कामना से यज्ञ आदि की प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से अपूर्व की उत्पत्ति। जैन परिभाषा में कामना या तृष्णा को भावकर्म, यज्ञ आदि की प्रवृत्ति को योग और अपूर्व को द्रव्यकर्म कहा जा सकता है। मीमांसक अपूर्व को अमूर्त्त मानता है यद्यपि जैन का द्रव्य कर्म अमूर्त्त नही है तथापि वह अपूर्व के समान अतीन्द्रिय तो है ही।

कर्म की अवस्था

जैन दर्शन में बंध, सत्ता आदि कर्म की दश अवस्थाएं मानी गयी हैं। इनमें कुछ अवस्थाओं का नामान्तर से उल्लेख वैदिक परम्परा में भी प्राप्त होता है। वैदिक परम्परा में कर्म की संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण—ऐसी तीन अवस्थाएं मानी गयी है। पूर्व एवं वर्तमान जीवन के उन कर्मों को संचित कहते हैं जिनका फलोपभोग अभी शुरू नहीं हुआ है। संचित अवस्था की तुलना जैन कर्म की सत्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामक अवस्था से की जा सकती है।

जिन कर्मों का फल भोग प्रारम्भ हो जाता है उसे प्रारब्ध कहते हैं। यह उदय स्थानीय है। जो कर्म किये जा रहे हैं उनको क्रियमाण कहते हैं इसकी तुलना बध्यमान कर्म से की जा सकती है। डॉ. टाटिया संचित कर्म की तुलना जैन कर्म की सत्ता से, प्रारब्ध की तुलना उदय एवं क्रियमाण कर्म की तुलना बध्यमान कर्म से करते हैं। दोनों परम्परा की कर्म की अवस्थाओं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उनका परस्पर नाम का भेद है, स्वरूप में कोई भेद प्रतीत नहीं होता।

कर्मफल संविभाग

कर्मफल संविभाग का अभिप्राय एक व्यक्ति के किये हुए कर्म के फल का दूसरे को मिलने से है। इस परम्परा में कर्म संविभाग की अवधारणा स्वीकृत है। पितरों आदि के श्राद्ध-तर्पण आदि की व्यवस्था इसी आधार पर है। जैनदर्शन कर्मफल के संविभाग को स्वीकार नहीं करता है।

कर्म-विपाक

कृत कर्मों का फल प्राप्त होता है। ये कर्म नियत एवं अनियत विपाकी होते हैं। कर्म को मानने वाली प्रायः सभी परम्पराओं ने कर्म को नियत एवं अनियतविपाकी माना है।

चार्वाक के अतिरिक्त सभी भारतीय परम्पराओं ने कर्म को स्वीकार किया है। कर्म के सिद्धान्त के बिना पुनर्जन्म की व्यवस्था ही नहीं की जा सकती है। कर्म की कतिपय अवधारणाओं के सम्बन्ध में उनमें परस्पर मतैक्य है तथा अनेक अवधारणाओं के संदर्भ में मतभेद भी है।

कर्म का विस्तृत एवं व्यवस्थित वर्णन जैसा जैन दर्शन में हुआ है वैसा अन्य परम्परा में दृष्टिगोचर नहीं होता। जैन परम्परा में कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या करने वाले अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं। जैन कर्म सिद्धान्त का इतर दर्शनों के कर्म सिद्धान्त से तुलनात्मक विवेचन एक नयी दृष्टि प्रदान करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. जैन, बौद्ध एवं वेदान्त दर्शन के अनुसार सत् की अवधारणा

विश्व का वैविध्य दृग्गोचर है। जगत् के विस्तार को देखकर उसके मूल स्रोत की जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है। विश्व का विस्तार एवं मूल सत् रूप है अथवा असत् रूप है। यह जिज्ञासा भी दार्शनिकों के चिन्ता का विषय रही है। एक समान दृष्टिगोचर होने वाले जगत् के बारे में चिन्तकों में विचार भेद रहा है।

विश्व के संदर्भ में विचार करने वाली दृष्टियों की परस्पर भिन्नता होने के कारण उससे प्राप्त परिणाम में भिन्नता होनी स्वाभाविक ही है। तत्त्व के संदर्भ में विमर्श करने वाली मुख्यतः दो दृष्टियां हैं—अभेददृष्टि एवं भेददृष्टि। अभेद दृष्टि अनेकता में एकता का दर्शन करती है। वह सामान्यग्राहिणी दृष्टि है। यह दृष्टि प्रारम्भ में विश्व के समस्त पदार्थों में समानता का दर्शन करती है और धीरे-धीरे अभेद की ओर उन्मुख होते हुए अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण विश्व का एक कारण स्वीकार कर लेती है और निश्चय करती है कि जो कुछ प्रतीति में आ रहा है वह तत्त्व वास्तव में एक ही है अनेक नहीं है, अविद्या के कारण अनेक की प्रतीति हो रही है। इस प्रकार वह अभेदगामिनी दृष्टि समानता की प्राथमिक भूमिका को छोड़कर अन्त में तात्विक एकता की भूमिका पर अवस्थित हो जाती है। इस दृष्टि के अनुसार एकत्व ही एकमात्र सत् है। अभेदग्राही होने के कारण यह विचारसरणी या तो भेदों की तरफ ध्यान ही नहीं देती, यदि भेद पर विचार करती भी है तो उन्हें व्यावहारिक या अपारमार्थिक या बाधित कहकर छोड़ देती है। इस दृष्टि के अनुसार भेद मिथ्या या काल्पनिक है। अभेद या एकत्व ही वास्तविक सत् है। इस दृष्टि का आधार समन्वय मात्र है। इस सामान्यग्राहिणी दृष्टि के द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समग्र देश-काल-व्यापी तथा देश-काल-विनिर्मुक्त एक मात्र सत्-तत्त्व या ब्रह्माद्वैतवाद के अनुसार भेद तथा भेद के ग्राहक प्रमाण मिथ्या हैं। सत् अभेद रूप है तथा वह तर्क एवं वाणी का विषय नहीं है, मात्र अनुभवगम्य है।

विश्व के बारे में अनुभव करने वाली दूसरी दृष्टि विशेषग्राहिणी दृष्टि है। उसकी तत्त्वमीमांसा में भेद ही प्रमुख तत्त्व है। इस दृष्टि के अनुसार विश्व में समानता एवं अभेद नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। यह दृष्टि विश्व में असमानता ही असमानता देखती है और शनैः शनैः असमानता के मूल का अन्वेषण करती हुई अन्त में वह विश्लेषण की उस भूमिका पर आरूढ़ हो जाती है जहां उसे एकत्व की अनुभूति तो होती ही नहीं बल्कि वह समानता को भी मिथ्या या कृत्रिम ही स्वीकार करती है। इस दृष्टि के अनुसार संसार के सम्पूर्ण पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं। विश्व भेदों का पुञ्ज मात्र है। विश्व में एक तत्त्व या साम्य का वास्तविक अस्तित्व ही नहीं है। अविद्या के कारण व्यक्ति विभिन्नता में एकता का दर्शन करता है। जैसे दीपक की लौ निरन्तर नई-नई पैदा होती रहती है मात्र दृष्टि भ्रम से व्यक्ति उसे एक मानता रहता है। वैसे ही यह सम्पूर्ण विश्व परस्पर अत्यन्त भिन्न है। मिथ्याज्ञान के कारण उसमें एकत्व का अध्यारोप कर लिया जाता है। इस दृष्टि के अनुसार सत् पदार्थ केवल देश एवं काल से ही भिन्न नहीं है बल्कि स्वरूप से भी भिन्न है तथा वे मात्र अनुभवगम्य है।

एकान्त अभेदग्राहिणी दृष्टि से अद्वैत वेदान्त का मत प्रादुर्भूत हुआ तथा एकान्त भेदग्राहिणी दृष्टि के द्वारा बौद्ध दर्शन का क्षणभंगवाद उत्पन्न हुआ। ये दोनों परस्पर विरोधी दृष्टियां एकान्त का आश्रय लेने के कारण विश्व के मूलभूत तत्त्व के संदर्भ से सर्वथा विरोधी हो जाती है तथा एक-दूसरे पर आक्षेप-प्रत्याक्षेप करती रही हैं।

दर्शन जगत् में विश्व के बारे में चिन्तन करने वाली एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि का विकास हुआ जिसे अनेकान्त दृष्टि कहा जाता है। इस दृष्टि के अनुसार विश्व में दृष्टिगोचर होने वाला भेद एवं अभेद दोनों ही अपनी विशेष प्रकार की अपेक्षा से सत्य है। अभेद एवं भेद दोनों ही दृष्टियां अपने विषय क्षेत्र में सत्य हैं एवं उनसे उपलब्ध तथ्य में सत्यांश अवश्य है। अभेदात्मक एवं भेदात्मक दोनों ही प्रतीतियां वास्तविक हैं किन्तु उनकी वास्तविकता परस्पर सापेक्ष होने से ही हो सकती। यदि अभेद या भेद दृष्टि अपने को पूर्ण एवं अन्य को अवास्तविक मानती है तो वे स्वयं ही अप्रामाणिक हो जाती हैं।

सामान्य एवं विशेष की प्रतीति अपने विषय में यथार्थ होने पर भी पूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाण नहीं है, प्रमाण का अंशमात्र है। वस्तु का पूर्ण स्वरूप तो भेदाभेदात्मक है। वह न केवल अभेदरूप है एवं न केवल भेदरूप अपितु उभय रूप है। वस्तु अनेक विरोधी धर्मों का समुदाय है। उसमें नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, सामान्य-विशेष आदि परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले धर्म युगपत् एक समय में रहते हैं। यह वस्तु मात्र का स्वरूप है। संग्रह नय का आश्रय लेने वाली अभेददृष्टि के अनुसार सत् को अभेदरूप माना जा सकता है किन्तु ऋजुसूत्र नय का आश्रय लेने वाली भेददृष्टि से प्राप्त वस्तु का स्वरूप भी यथार्थ है। तात्पर्य यह है कि अनेकान्त दृष्टि के अनुसार भेद एवं अभेद दोनों ही वास्तविक सत् हैं। जलराशि में अखण्ड एक समुद्र की प्रतीति भी सत्य है एवं अंतिम जलकण की प्रतीति भी सम्यक् है। एक इसलिए वास्तविक हैं कि अभेद दृष्टि भेदों को अलग-अलग रूप से ग्रहण न करके सबको एक साथ सामान्यरूप से देखती है। स्थान, समय आदि कृत भेद जो एक-दूसरे से व्यावृत्त है उनको अलग-अलग रूप से विषय करने वाली बुद्धि भी वास्तविक है। एकमात्र सामान्य की प्रतीति के समय सत् शब्द का अर्थ इतना विशाल हो जाता है कि उसमें कोई शेष बचता ही नहीं है किन्तु जब हम विश्व को गुण, धर्मकृत भेदों से विभाजित करते हैं, तब विश्व एक सत् रूप न रहकर अनेक सत् रूप प्रतीत होने लगता है। 'विश्वमेकं सतोऽविशेषात्' की ध्वनि भी यथार्थ है एवं विश्व की अनेकता भी यथार्थ है। अनेकान्त दृष्टि विरोधी का समाहार करके वस्तु की सम्यक् व्यवस्था करती है। इस दृष्टि का पक्षकार जैनदर्शन रहा है। इसके अनुसार भिन्न-भिन्न अपेक्षा से एक ही वस्तु नित्य, अनित्य, सामान्य-विशेष रूप है।

इस दर्शन में सत् के स्वरूप का विमर्श भी अनेकान्त दृष्टि से ही हुआ है। विभिन्न दर्शनों का अवलोकन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभी ने 'सत्' रूप में पदार्थों को पहले स्वीकार कर लिया फिर उसके लक्षण एवं स्वरूप पर विमर्श किया है। वेदान्त दर्शन ने ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार करके उसके स्वरूप को कूटस्थ नित्य अपनी अभेदग्राहिणी दृष्टि से स्वीकार किया है। बौद्ध ने भेदग्राही दृष्टि के द्वारा सत् के स्वरूप को क्षणिक स्वीकार किया है। जैन दर्शन ने अनेकान्त दृष्टि के आधार पर सत् को उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्ययुक्त स्वीकार किया। प्रस्तुत निबन्ध में वेदान्त, बौद्ध एवं जैन दृष्टि से सत् के स्वरूप के बारे में विमर्श किया जायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदान्त दर्शन में सत् का स्वरूप

सभी भारतीय दर्शनों में सत् के स्वरूप, संख्या आदि के विषय में विमर्श हुआ है। यद्यपि उनकी 'सत' के स्वरूप एवं संख्या सम्बन्धी अवधारणा में मतैक्य नहीं है। सभी चिन्तकों ने स्वमन्तव्य पोषक 'सत्' की विचारणा प्रस्तुत की है।

वेदान्त दर्शन से हमारा तात्पर्य शंकर अद्वैत वेदान्त से है। इस दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण विश्व ब्रह्ममय है। संसार में नानात्व नहीं है। एकत्व ही यथार्थ है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन' ब्रह्म की ही वास्तविक सत्ता है। जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म स्वरूप ही है, ब्रह्म से भिन्न उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, यह वेदान्त दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है।

इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म परमार्थ सत्ता है। यथार्थ परम सत् ब्रह्म ही है। ब्रह्म मूल तत्त्व है। ब्रह्म को व्याख्यायित करते हुये कहा गया जिससे इन सब भूतों की उत्पत्ति हुई है और उत्पन्न होने के बाद जिससे ये जीवन धारण करते हैं तथा मृत्यु के समय जिसमें समाहित हो जाते हैं वही ब्रह्म है। संसार के पदार्थ सदा अपनी आकृतियां बदलते रहते हैं अतः परमार्थ रूप से संसार को सत् नहीं कहा जा सकता। इस परिवर्तनशील पदार्थों से युक्त नामरूपात्मक विश्व की पृष्ठभूमि में ऐसी सत्ता है जो स्थिर है, सर्वदा एवं सर्वथा अपरिवर्तनशील है वही ब्रह्म है एवं परमार्थ सत् है। शंकर के अनुसार ब्रह्म विशुद्ध, सब गुणों से मुक्त निरुपाधिक सत्ता है, जिसे निर्गुण ब्रह्म भी कहा जाता है। वह अव्याख्येय, अनिर्वचनीय यथार्थ सत्ता है। ब्रह्म एक, अनन्त एवं कूटस्थ नित्य है। ब्रह्म विशुद्ध है, नितान्त आत्मस्वरूप, एक एवं अद्वितीय है अर्थात् उस जैसी कोई दूसरी सत्ता नहीं है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म ही मौलिक तत्त्व है। संसार में दृष्टिगोचर होने वाली अनेक आत्माएं तथा अन्य पदार्थ उस एक मौलिक ब्रह्म रूप आत्मा के कारण ही है उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। प्रत्येक जीवात्मा ब्रह्म का ही अंश है। अविद्या के नाश होने पर पुनः वे ब्रह्म में ही विलीन हो जाती हैं।

शंकराचार्य का कथन है कि मूलरूप से ब्रह्म एक होने पर भी अनादि अविद्या के कारण वह अनेक जड़ एवं चेतन पदार्थों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार विपर्यय ज्ञान के कारण रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है। रस्सी सर्प रूप में न तो उत्पन्न होती है और न ही वह सर्प को उत्पन्न करती है फिर भी रज्जु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में सर्प का भ्रमज्ञान होता है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म अनेक जीवों के रूप में उत्पन्न भी नहीं होता है फिर भी अनेक जीवों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इस अनेकता की प्रतीति माया के कारण है। जीवों की अनेकता मिथ्या है। यदि जीव का अज्ञान दूर हो जाये तो उसे ब्रह्मभाव की अनुभूति हो सकती है। शंकर के मत को 'केवलाद्वैतवाद' भी कहा जाता है क्योंकि वे केवल एक अद्वैत ब्रह्म आत्मा को ही सत्य मानते हैं, शेष समस्त पदार्थों को मायारूप अथवा मिथ्या मानते हैं। जगत् को मिथ्या मानने के कारण इनके मत को मायावाद भी कहा गया है, जिसका दूसरा नाम विवर्तवाद भी है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि शंकर के अनुसार ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता है। शेष पदार्थ व्यावहारिक या प्रतिभासित सत् हैं। वेदान्त दर्शन में सत्ता तीन प्रकार की मानी गयी है—

१. पारमार्थिक, २. व्यावहारिक एवं ३. प्रातिभासिक।

१. पारमार्थिक सत्—वेदान्त के अनुसार एक, सर्वव्यापक, अपरिवर्तनशील, कूटस्थ, नित्य ब्रह्म ही पारमार्थिक सत् है।

२. व्यावहारिक सत्—दृश्यमान चराचर जगत् ब्रह्म का विवर्तमात्र है। इसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। यह व्यावहारिक सत् है। जगत् में अनुभव में आने वाले घट पट आदि पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता है।

३. प्रातिभासिक सत्—स्वप्न आदि में प्रतिभासित होने वाला पदार्थ पारमार्थिक एवं व्यावहारिक सत् भी नहीं है। उनका प्रतिभास मात्र होता है अतः वे प्रातिभासिक सत् है।

वेदान्त प्रत्ययवादी दर्शन है। इसकी अवधारणा के अनुसार जो दृश्य जगत् है, वह वास्तविक नहीं है। पारमार्थिक सत्य इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है तथा उसको वाणी के द्वारा अभिव्यक्त भी नहीं किया जा सकता।

'यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

अतीन्द्रिय चेतना के द्वारा गृहीत ब्रह्म तत्त्व ही वास्तविक है स्थूल जगत् की पारमार्थिक सत्ता नहीं है।

बौद्ध दर्शन में सत् की अवधारणा

बौद्ध दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण चराचर जगत् क्षणिक है। क्षणभङ्गवाद बौद्ध दर्शन का मूल सिद्धान्त है। संसार के समस्त पदार्थ क्षणिक हैं। वे प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं। पहले क्षण के पदार्थ का दूसरे क्षण में निरन्वय विनाश हो जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। दूसरे क्षण का पदार्थ प्रथम क्षण के पदार्थ से सर्वथा भिन्न हो जाता है। अविद्या/अज्ञान के कारण पदार्थों में समानता दिखाई देती है वस्तुतः वह होती नहीं है। संसार का प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। वस्तु का प्रत्येक क्षण में स्वाभाविक नाश होता है। क्षणभंग के कारण ही बौद्ध दर्शन विनाश को निर्हेतुक मानता है। प्रत्येक क्षण में विनाश स्वयं होता है। विनाश के लिए किसी बाह्य हेतु की आवश्यकता नहीं होती है। तर्कभाषा में कहा—'नश्वरमेव तद्वस्तु स्वहेतोरूपजात-मङ्गीकर्त्तव्यम्, तस्मादुत्पन्नमात्रमेव विनश्यति, उत्पत्तिक्षण एव सत्त्वात्'। बौद्धदर्शन के अनुसार जो सत् रूप है, वह एकान्त रूप से क्षणिक है। यथा घटः। सब अस्तित्ववान् पदार्थ क्षणिक हैं। अक्षणिक/नित्य पदार्थ की कल्पना शशशृंगवत् निरर्थक है। नित्य पदार्थ क्रम अथवा युगपत् दोनों ही प्रकार से अर्थक्रिया नहीं कर सकता। जिसमें अर्थक्रिया नहीं होती वह सत् रूप भी नहीं हो सकता। सत् वही है जो अर्थ क्रिया करे।

बौद्ध दर्शन के अनुसार क्षणिक पदार्थ ही अर्थक्रिया करने में समर्थ है अतः एकमात्र क्षणिक पदार्थ/वस्तु ही सत् रूप है।

वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक ये चार बौद्धदर्शन के प्रमुख सम्प्रदाय हैं। बौद्ध दर्शन में इन दार्शनिक शाखाओं की उत्पत्ति 'सत्ता' के प्रश्न को लेकर ही हुई है। बौद्ध के अनुसार सम्पूर्ण प्रमेय क्षणिक है, यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है किन्तु प्रमेय के स्वरूप के सम्बन्ध में इन दार्शनिक विचारधाराओं में गंभीर भिन्नता है। सत् के विवेचन के संदर्भ में इन चारों ही विचारधाराओं के संक्षिप्त मंतव्य को प्रस्तुत प्रकरण में अभिव्यक्त किया जायेगा।

वैभाषिक मत के अनुसार इस नानात्मक जगत् की वास्तविक सत्ता है। बाह्य तथा आभ्यन्तर समस्त धर्मों का स्वतंत्र अस्तित्व है। बाह्य पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव हमें प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा प्रतिक्षण हो रहा है। उदाहरणार्थ चक्षु इन्द्रिय के द्वारा घट नामक पदार्थ का ज्ञान हुआ। घटज्ञान प्राप्त करके हम घटनामक पदार्थ को प्राप्त करते हैं उस घट पदार्थ से जल आहरण आदि अर्थक्रिया होती है। अर्थक्रियाकारिता के कारण यह घट यथार्थ है और इस यथार्थता का ज्ञान हमें इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष से हो रहा है अतः जगत् की स्वतंत्र सत्ता प्रत्यक्षगम्य है। वैभाषिक मत के अनुसार बाह्य एवं आभ्यन्तर के भेद से जगत् भी दो प्रकार का है। दोनों प्रकार के जगत् की सत्ता परस्पर निरपेक्ष है।

स्थूल रूप से यह जगत् 'नामरूपात्मक' है। 'नाम' मन तथा मानसिक प्रवृत्तियों की साधारण संज्ञा है, जिन्हें वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञानरूप से विभक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने पर नाम के चार स्कन्ध बन जाते हैं तथा 'रूप' जगत् के जड़ पदार्थों का सामान्य अधिवचन है, रूप से रूप नामक स्कन्ध का अवबोध हो रहा है। इस प्रकार 'नाम रूप' जगत् का ही विस्तृत विभाजन करने से 'पञ्चस्कन्ध' की अवधारणा सम्पुष्ट हो जाती है। संक्षेप में वैभाषिक मत के अनुसार सत् बाह्य एवं आभ्यन्तर उभयरूप है एवं वह क्षणिक है।

जैसा कि कहा भी गया है कि–

'तत्र ते सर्वास्तिवादिनो बाह्यमान्तरं च वस्तु अभ्युपगच्छति भूतं च भौतिकं च चित्तं चैत्तं च'

बाह्य एवं आभ्यन्तर जगत् को वास्तविक सत् मानने के साथ ही इस दर्शन का यह मुख्य सिद्धान्त है कि बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष हो सकता है।

सौत्रान्तिक विचारधारा भी बाह्य एवं आभ्यन्तर जगत् को वास्तविक/सत् रूप स्वीकार करती है। इनके अनुसार केवल चित्त (विज्ञान) की ही वास्तविक सत्ता नहीं है अपितु बाह्य पदार्थों की भी सत्ता निर्विवाद है। वैभाषिक की तरह ही यह बाह्य जगत् को तो वास्तविक मानता है किन्तु उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता है वह अनुमानगम्य है यह सौत्रान्तिकों का अभिमत है। उनका मन्तव्य है कि बाह्य वस्तु का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं अतः किसी भी वस्तु के स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं है। जिस क्षण में किसी वस्तु के साथ हमारी इन्द्रियों का सम्पर्क होता है, उस क्षण में वह वस्तु प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर अतीत के गर्भ में चली जाती है। केवल तज्जन्यसंवेदन शेष रहता है। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों के नील, पीत आदि चित्र चित्त के पट पर खींच जाते हैं। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब को देखकर बिम्ब की सत्ता का अनुमान किया जाता है वैसे ही मन पर जो प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है उसी को वह देखता है और उसके द्वारा वह उसके उत्पादक बाहरी पदार्थों का अनुमान करता है। सर्वसिद्धान्तसंग्रह में इस तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि–

नीलपीतादिभिश्चित्रैर्बुद्‌ध्याकारैरिहान्तरैः ।
सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यार्थस्त्वनुमीयते ॥

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि इस विचारधारा के अनुसार बाह्य जगत् का अस्तित्व वास्तविक है एवं उसका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगाचार

योगाचार के अनुसार विज्ञान ही एकमात्र परमार्थ सत् है। बाह्य पदार्थ की सत्ता ही नहीं है। चित्त को छोड़कर अन्य कोई भी पदार्थ मृग-मरीचिका के समान निःस्वभाव तथा स्वप्न के समान निरुपाख्य है। जिसे बाह्य पदार्थ कहा जाता है उनका विश्लेषण करें तो वहां आंख से देखे गये रंग-आकार हाथ से स्पर्श किये गये रुक्षता-स्निग्धता आदि गुण ही मिलते हैं इसके अतिरिक्त किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता है। विज्ञान ही वास्तविक है। लंकावतारसूत्र में कहा है–

चित्तं वर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते।
चित्तं हि जायते चित्तं नान्याच्चित्तमेव निरुध्यते ॥

चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है। चित्त को छोड़कर दूसरी वस्तु न तो उत्पन्न होती है न ही उसका नाश होता है चित्त ही एकमात्र तत्त्व है। इस जगत् में न तो भाव पदार्थ विद्यमान न ही अभाव। चित्त के अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ सत् नहीं। बाह्य दृश्य जगत् का अस्तित्व ही नहीं है। चित्त एकाकार है तथा वही इस जगत् में विचित्र रूपों में दिखाई देता है–

दृश्यते न विद्यते बाह्यं, चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
देहयोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम् ॥

चित्त ही कभी देह रूप में और कभी उपयोग की वस्तुओं के रूप में प्रतिष्ठत रहता है, अतः चित्त की ही वास्तविक सत्ता है। जगत् उस चित्त का ही परिणमन है। यह सम्पूर्ण जगत् को विज्ञानमय मानता है, अतः यह विज्ञानाद्वैतवादी है।

सत्तास्वरूप विमर्श

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध पारमार्थिक एवं व्यावहारिक के भेद से सत्ता को दो प्रकार की मानते हैं। व्यावहारिक सत्ता पुनः दो भागों में विभक्त हैं–१. परिकल्पित सत्ता और २. परतन्त्र सत्ता। परमार्थ को परिनिष्पन्न सत्ता कहा जाता है। इनके अनुसार सत्ता के तीन रूप बन जाते हैं–

१. परिनिष्पन्न सत्ता (परमार्थ, वास्तविक)
२. परिकल्पित सत्ता (व्यावहारिक)
३. परतन्त्र सत्ता (व्यावहारिक)

व्यावहारिक सत्ता को संवृत्ति सत् भी कहा जाता है। विज्ञानवाद के अनुसार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगत् का समस्त व्यवहार आरोप या उपचार से संचालित है। वस्तु में अवस्तु के आरोप को अध्यारोप कहते हैं—जैसे रस्सी में सर्प का आरोप। इस दृष्टांत से ज्ञात होता है कि रज्जु में जो सर्प का आरोप किया है वह मिथ्या है क्योंकि जैसे ही उस भ्रान्ति का निराकरण होगा रज्जु का रज्जुत्व ज्ञाता के सम्मुख उपस्थित हो जायेगा। यहां सर्प की भ्रान्ति का ज्ञान परिकल्पित है। रज्जु की सत्ता परतन्त्र शब्द से अभिहित की जाती है तथा वह वस्तु जिससे रज्जु बनकर तैयार हुई है वह परिनिष्पन्न सत्ता कहलाती है।

परिकल्पित सत् कल्पनामात्र है परतन्त्र सत्ता वाह्य वस्तु सापेक्ष है। परतन्त्र शब्द का ही अर्थ है दूसरे के उपर अवलम्बित होने वाला। इसका तात्पर्य यह है कि परतन्त्र सत्ता स्वयं उत्पन्न नहीं होती अपितु हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होती है।

परिकल्पित सत्ता में ग्राह्य-ग्राहक भाव का स्पष्ट आभास होता है किन्तु यह भेद की कल्पना नितान्त भ्रान्त है। ग्राह्य एवं ग्राहक भाव दोनों ही परिकल्पित है क्योंकि विज्ञान तो एकाकार है उसमें न तो ग्राहकत्व और न ग्राह्यत्व। अविद्या के कारण ऐसी परिकल्पना होती रहती है। जब तक यह संसार है तब तक यह द्विविध कल्पना चलती रहती है जिस समय ये दोनों भाव निवृत्त हो जाते हैं उस समय परिनिष्पन्न सत्ता की अवस्था प्राप्त हो जाती है। परतन्त्र सदा परिकल्पित लक्षण के साथ मिश्रित होकर हमारे सामने उपस्थित होता है। जिस समय उनका मिश्रण समाप्त हो जाता है और वह अपने विशुद्ध रूप में प्रतीत होने लगता है वही उसकी परिनिष्पन्नावस्था है।

योगाचार मत में सत्/सत्य त्रिधा विभक्त है। जैसा कि मैत्रेयनाथ ने कहा भी है—

कल्पितः परतन्त्रश्च परिनिष्पन्न एव च।
अर्थादभूतकल्पाच्च द्वयाभावाच्च कथ्यते॥

माध्यमिक (शून्याद्वैतवादी)

माध्यमिक दर्शन की विचारधारा के अनुसार शून्य ही परमार्थ सत् है। माध्यमिक मत के प्रसिद्ध आचार्य नागार्जुन के अनुसार यह जगत् मायिक है। स्वप्न में दृष्ट पदार्थों की सत्ता के समान जगत् के समग्र पदार्थों की सत्ता काल्पनिक है। विश्व व्यावहारिक रूप से सत्य है, परमार्थ रूप से वह शून्य है। समग्र जगत् स्वभाव-शून्य है। यहां शून्य का अर्थ अभाव नहीं है किन्तु शून्य का अर्थ है तत्त्व की अवाच्यता। शून्य (तत्त्व) सत्, असत्, उभय एवं अनुभय रूप नहीं है वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है। जैसा कि माध्यमिक कारिका में कहा गया—

न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिनिर्मुक्तं, तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः ॥

माध्यमिक मत के अनुसार सत् दो प्रकार का है—

१. संवृत्ति सत् (अविद्याजनित व्यावहारिक सत्ता)

२. पारमार्थिक सत् (प्रज्ञाजनित सत्य)

आर्य नागार्जुन का अभिमत है कि भगवान बुद्ध ने इन दो सत्यों को लक्ष्य करके ही धर्म का उपदेश दिया था—

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृत्तिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥

सांवृतिक सत्य वह है जो संवृत्ति के द्वारा उत्पन्न हो। संवृति शब्द की व्याख्या कई प्रकार से की जाती है उसका एक अर्थ है—अविद्या। जो सत्य के ऊपर आवरण डाल देती है। 'संव्रियत आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणाद् आवृतप्रकाशनाच्चानयति संवृतिः' अविद्या, मोह तथा विपर्यास संवृति के ही पर्यायवाची नाम हैं।

अविद्या या मोह के द्वारा उत्पादित काल्पनिक सत्य को सांवृतिक सत्य कहा जाता है। यह सत्य दो प्रकार का है—

१. लोकसंवृति तथा २. अलोक संवृति। लोकसंवृति वह है जिसे साधारण जनमानस सत्य मानकर व्यवहार करता है, जैसे घट, पट आदि पदार्थ। अलोक संवृति उसे कहते हैं जिसे कुछ व्यक्ति ही ग्रहण कर सकते हैं जैसे शंख का पीत रंग। प्रज्ञाकरमति ने लोकसंवृति को तथ्यसंवृति एवं अलोकसंवृति को मिथ्यासंवृति की संज्ञा दी है। लोकदृष्टि से प्रथम संवृति सत्य एवं दूसरी प्रकार की संवृति असत्य है किन्तु परमार्थ रूप से तो दोनों ही असत्य हैं। परमार्थ सत्—परमार्थ सत्य संवृति सत् से सर्वथा भिन्न होता है। वस्तु का अकृत्रिम स्वरूप ही परमार्थ है। उस सत् का ज्ञान होने से संवृतिजन्य क्लेशों का नाश हो जाता है। परमार्थ सत् अवाच्य है। शून्यता, तथता, भूतकोटि और धर्मधातु ये पर्यायवाची हैं। परमार्थ सत् अवक्तव्य है उसका कथन नहीं किया जा सकता। परम तत्त्व न तो वाणी का विषय है न चित्त का। वाक् और मन—दोनों ही उस तत्त्व तक नहीं पहुंच सकते अतः वह अचिंत्य एवं अवाच्य है। उस तत्त्व की मात्र अनुभूति की जा सकती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है अतः वह 'प्रत्यात्म वेदनीय' है। संवृति एवं परमार्थ सद् को व्याख्यायित करते हुये कहा गया–

यत्र भिन्ने न तद् बुद्धिरन्यापोहे धिया च तत्।
घटाम्बुवत् संवृति सत् परमार्थसदन्यथा ॥

जैन दर्शन में सत् का स्वरूप

भारतीय दर्शन जगत् में सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मतभेद हैं। वेदान्त दर्शन सत् (ब्रह्म) को एक एवं कूटस्थ नित्य मानता है। बौद्ध के अनुसार सत् क्षणिक है, मात्र उत्पाद-विनाशशील है, नित्यतायुक्त किसी पदार्थ का जगत् में अस्तित्व ही नहीं है। सांख्यदर्शन चेतन तत्त्व रूप सत् पदार्थ को कूटस्थ नित्य एवं प्रकृति रूप सत् को परिणामी नित्य मानता है। नैयायिक-वैशेषिक दर्शन अनेक पदार्थों में से आत्मा, परमाणु काल आदि सत् तत्त्वों को कूटस्थ नित्य मानता है तथा घट, पट आदि कुछ पदार्थों को मात्र उत्पाद एवं व्यय युक्त ही मानता है नित्य रूप नहीं मानता है।

जैन दर्शन के अनुसार सत्/वस्तु नित्यानित्यात्मक उभय रूप है। वस्तु केवल कूटस्थ भी नहीं है और केवल निरन्वयविनाशी भी नहीं है। सांख्य दर्शन की तरह उसका एक तत्त्व सर्वथा नित्य एवं दूसरा तत्त्व परिणामि नित्य भी नहीं है। न्याय-वैशेषिक की भांति आत्मा आदि कुछ पदार्थ नित्य एवं घट, पट आदि कुछ अनित्य है ऐसा भी नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार चेतन और जड़, अमूर्त और मूर्त्त, सूक्ष्म और स्थूल सभी सत् पदार्थ उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्ययुक्त हैं। सम्पूर्ण वस्तु जगत् त्रयात्मक है। वाचक उमास्वाति ने कहा भी है–

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'

अद्वैत वेदान्त ने द्रव्य को पारमार्थिक सत्य मानकर पर्याय को काल्पनिक कहकर उसके अस्तित्व को ही नकार दिया। बौद्धों ने पर्याय को पारमार्थिक मानकर द्रव्य को काल्पनिक मान लिया। जैनदर्शन के अनुसार द्रव्य और पर्याय दोनों पारमार्थिक सत्य है। हमारा ज्ञान जब संश्लेषणात्मक होता है तब द्रव्य उपस्थित रहता है और पर्याय गौण हो जाता है और जब ज्ञान विश्लेषणात्मक होता है तब पर्याय प्रधान एवं द्रव्य गौण हो जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए कहा है–

'अपर्ययं वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानं'

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक अर्थात् सामान्य-विशेषात्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। सामान्य एवं विशेष का परस्पर अविनाभाव है। वे एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते अर्थात् एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य हुआ पर्याय रहित द्रव्य एवं द्रव्य रहित पर्याय सत्य नहीं है।

द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्यवर्जिताः।
क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा ॥

जैन दर्शन के मन्तव्यानुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वस्तु में एक ही काल में अनन्त विरोधी धर्म युगपत् रहते हैं। एक ही वस्तु एक ही समय में उत्पत्तिशील, विनश्वर एवं ध्रुवता युक्त है। उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्ययुक्त त्रयात्मक वस्तु ही अर्थ क्रिया करने में समर्थ है। एकान्त द्रव्यवाद, एकान्त पर्यायवाद एवं निरपेक्ष द्रव्य एवं पर्यायवाद के आधार पर वस्तु की व्यवस्था नहीं हो सकती। अर्थक्रियाकारित्व वस्तु का लक्षण है एवं वह लक्षण एकान्त नित्य एवं अनित्य तथा निरपेक्ष नित्य एवं अनित्य पदार्थ में घटित ही नहीं हो सकता। अर्थक्रियाकारित्व द्रव्यपर्यायात्मक उभयस्वभाववाली वस्तु में घटित हो सकता है अतः उभयात्मक वस्तु की ही वास्तविक सत्ता है।

जैन दर्शन में सत्, तत्त्व, तत्त्वार्थ एवं पदार्थ इन शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में होता रहा है। जो सत् रूप पदार्थ हैं, वे ही द्रव्य हैं, तात्त्विक हैं। दर्शन शास्त्र में सर्वप्रथम स्वयं के दर्शन से सम्मत तत्त्वों का निर्देश प्रारम्भ में कर दिया जाता है। वैशेषिक सूत्र में द्रव्य आदि छः पदार्थ स्वीकार किये गये हैं। उनमें से द्रव्य गुण एवं कर्म इन तीनों को 'सत्' इस पारिभाषिक संज्ञा से अभिहित किया गया है। न्यायसूत्र में प्रमाण आदि सोलह तत्त्वों को भाष्यकार ने सत् शब्द से व्यवहृत किया है। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। जैन आगमों में संक्षेप में जीव एवं अजीव ये दो तत्त्व तथा विस्तार में नवतत्त्वों का उल्लेख प्राप्त है।

जैनधर्म के प्रमुख आचार्य तत्त्वव्याख्याता वाचकमुख्य ने सत् का बीज जो भगवान महावीर की वाणी में था, उसका पल्लवन किया। आगमों में तिर्यक् और ऊर्ध्व दोनों प्रकार के पर्यायों का आधार द्रव्य को माना है। जो सर्वद्रव्यों का अविशेष है। 'अविसेसिए दव्वे विसेसिए जीव दव्वे अजीव दव्वे' किन्तु आगमों में द्रव्य की सत् संज्ञा नहीं थी। जब अन्य दर्शनों में 'सत्' इस संज्ञा का समावेश हुआ तब जैन दार्शनिकों के समक्ष भी 'सत्' किसे कहा जाए यह प्रश्न उपस्थित हुआ।

उमास्वाति ने कहा द्रव्य ही सत् है। 'सद् द्रव्यलक्षणम्' सत् को परिभाषित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हुए उन्होंने कहा 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' ऐसी परिभाषा होने से जैन दर्शन का सत् अन्य दर्शनों से स्वतः ही विलक्षण हो गया तथा जैन दृष्टि से सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ। वाचक ने सत्य को नित्य कहा किन्तु नित्य की स्वमन्तव्य पोषक परिभाषा करके उसे एकान्त के आग्रह से मुक्त रखा। 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' उत्पाद और व्यय के होते हुए भी जिसका सद्रूप समाप्त नहीं होता यही सत् की नित्यता है। पर्यायों के बदल जाने पर भी द्रव्य की सत्ता समाप्त नहीं होती। वह निरन्तर-पूर्व-उत्तर पर्यायों में अनुस्यूत होती रहती है।

उमास्वाति ने चतुर्विध सत् की कल्पना की है। सत् को उन्होंने चार भागों में विभक्त किया है—१. द्रव्यास्तिक, २. मातृकापदास्तिक, ३. उत्पन्नास्तिक, ४. पर्यायास्तिक। सत् का इस प्रकार का विभाजन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है। यह उनकी मौलिक अवधारणा है। उमास्वाति ने इस चतुर्विध सत् की विशेष व्याख्या नहीं की है। ज्ञान की स्थूलता एवं सूक्ष्मता के आधार पर सत् के चार पदों का निरूपण किया। टीकाकार सिद्धसेनगणी ने इनकी कुछ स्पष्टता की है। प्रथम दो सत् (द्रव्याश्रित) द्रव्यनयाश्रित है तथा अंतिम दो भेद पर्यायनयाश्रित है। सत् के चार विभागों के अन्तर्गत आचार्य उमास्वाति ने सत् की सम्पूर्ण अवधारणा को समाहित करने का प्रयत्न किया है। द्रव्यास्तिक सत् का कथन द्रव्य के आधार पर है, मातृकापदास्तिक का कथन द्रव्य के विभाग के आधार पर, उत्पन्नास्तिक का व्याकरण तात्कालिक वर्तमान पर्याय के आधार पर है तथा पर्यायास्तिक का कथन भूत एवं भावी पर्याय के आधार पर हुआ है ऐसा प्रतीत होता है। द्रव्यास्तिक के अनुसार—'असन्नाम नास्त्येव द्रव्यास्तिकस्य' असत् कुछ होता ही नहीं वह सत् को ही स्वीकार करता है। 'सर्ववस्तु सल्लक्षणत्त्वादसत्प्रतिषेधेन सर्वसंग्रादेशो द्रव्यास्तिकम्।' द्रव्यास्तिक सत् संग्रह नय के अभिप्राय वाला है। 'सर्वमेकं सदविशेषात्' इस सत् के द्वारा सप्तभंगी का प्रथम भंग 'स्यात् अस्ति' फलित होता है।

मातृकापदास्तिक सत् के द्वारा द्रव्यों का विभाग होने से अस्तित्व एवं नास्तित्व धर्म प्रकट होता है। मातृकापद व्यवहारनयानुसारी है द्रव्यास्तिक के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों को सत् कह देने मात्र से वह व्यवहार उपयोगी नहीं हो सकता। व्यवहार विभाग के बिना नहीं हो सकता। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय का द्रव्यत्व तुल्य होने पर भी वे परस्पर भिन्न स्वभाव वाले हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय नहीं हो सकती यही मातृकापदास्तिक का कथन है। विभक्ति का निमित्त होने के कारण मातृकापद, व्यवहार उपयोगी है—

'स्थूलकतिपयव्यवहारयोग्यविशेषप्रधानमातृकापदास्तिकम्'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्नास्तिक सत् का सम्बन्ध मात्र वर्तमान काल से है। वह अतीत एवं अनागत को स्वीकार करता है। अतः यह नास्ति रूप है। वर्तमान को स्वीकार करता है अतः अस्ति है। इससे सप्तभंगी का अवक्तव्य नाम का भंग फलित होता है। पर्यायनयानुगामी होने से इसकी दृष्टि भेदप्रधान है। सम्पूर्ण व्यवहार की कारणभूत वस्तु निरन्तर उत्पाद-विनाशशील है। कुछ भी स्थितिशील नहीं है, यह उत्पन्नास्तिक का कथन है। इसकी मान्यता उत्पत्ति में ही है। 'उत्पन्नास्तिक-मुत्पन्नेऽस्तिमतिः' अनुत्पन्न स्थिति को यह स्वीकार ही नहीं करता।

पर्यायास्तिक सत् विनाश को स्वीकार करता है। जो उत्पन्न हुए हैं वे अवश्य ही विनश्वर स्वभाव वाले हैं। जितना उत्पाद है उतना ही विनाश। 'विनाशेऽस्तिमति-पर्यायास्तिकम्' कुछ मानते हैं कि पर्यायास्तिक उत्पद्यमान पर्याय को ही मानता है। 'उत्पद्यमानाः पर्यायाःपर्यायास्तिमुच्यते' इन दोनों मतों का समन्वय करने से फलित होता है कि पर्यायास्तिक नय भूत एवं अनागत को स्वीकार करता है तथा वर्तमान का निषेध करता है अतः यह अस्ति-नास्ति रूप है। भूत भविष्य की अपेक्षा अस्ति वर्तमान की अपेक्षा नास्ति है। इससे भी अवक्तव्य भंग का कथन होता है। क्योंकि अस्ति-नास्ति को एक-साथ नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में द्रव्यास्तिक से परम संग्रह का विषय भूत सत् द्रव्य और मातृकापदास्तिक से सत् द्रव्य के व्यवहाराश्रित धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य का विभाग उनके भेद-प्रभेद अभिप्रेत है। प्रत्येक क्षण में नवनवोत्पन्न वस्तु का रूप उत्पन्नास्तिक और प्रत्येक क्षण में होने वाला विनाश या भेद पर्यायास्तिक से अभिप्रेत है। प्रत्येक क्षण में नवनवोत्पन्न वस्तु का रूप उत्पन्नास्तिक और प्रत्येक क्षण में होने वाला विनाश या भेद पर्यायास्तिक से अभिप्रेत है। उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य इस त्रिपदी का समावेश चतुर्धा विभक्त सत् में हो जाता है।

जैन दर्शन वस्तुवादी दर्शन है। वह जगत् की वास्तविक सत्ता स्वीकार करता है। सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों ही जगत् का तात्विक अस्तित्व है। वस्तुवाद के अनुसार सत् को बाह्य, आभ्यन्तर, पारमार्थिक, व्यावहारिक, परिकल्पित, परतन्त्र, परिनिष्पन्न आदि भेदों में विभक्त नहीं किया जा सकता। सत्य, सत्य ही है, उसमें विभाग नहीं होता। प्रमाण में अवभासित होने वाले सारे तत्त्व वास्तविक है। इन्द्रिय, मन एवं अतीन्द्रिय ज्ञान इन सब साधनों से ज्ञात होने वाला प्रमेय वास्तविक है। इन साधनों से प्राप्त ज्ञान में स्पष्टता-अस्पष्टता, न्यूनाधिकता हो सकती है किन्तु इनसे ज्ञात पदार्थों का अपलाप नहीं किया जा सकता अर्थात् सत् पारमार्थिक, सांवृतिक के भेदों में विभक्त नहीं किया जा सकता। द्रव्य एवं पर्याय, नित्यता एवं अनित्यता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये सब वस्तु के स्वरूप हैं। इनमें से किसी एक का अपलाप करना जैन दर्शन के अनुसार वस्तु सत्य का अपलाप करना है। जैन के अनुसार सत् अर्थात् वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. तत्त्वसंरक्षण का साधन वाद

तत्त्व की जिज्ञासा से किसी विषय पर जो चर्चा की जाती है, उसको वाद कहा जाता है। 'तत्त्वसंरक्षणार्थप्राश्निकादिसमक्षं साधनदूषणवदनं वादः' वाद का उद्देश्य तत्त्वनिर्णय होता है। इसमें पक्ष विपक्ष की बौद्धिक श्रेष्ठता या दुर्बलता का प्रतिपादन मुख्य नहीं होता किंतु सम्बद्ध वस्तु को, तत्त्व को स्पष्टता से जानने की जिज्ञासा होती है। वाद कथा में वादी प्रतिवादी ज्ञान-पिपासु होते हैं, मात्र जय पराजय के इच्छुक विजिगीषु नहीं होते हैं।

गौतम ने वाद की कसौटियों का निर्धारण किया है—

१. वाद में स्वपक्ष सिद्धि एवं परपक्ष निराकरण में प्रमाण एवं युक्ति का ही प्रयोग किया जाए छल, जाति आदि असद् उपाय का प्रयोग वाद में वर्जित है।

२. सिद्धान्त अविरुद्ध चर्चा ही वाद में हो सकती है।

३. पंचावयववयुक्त अनुमान का प्रयोग वाद में अपेक्षित है।

'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताऽविरुद्धः
पंचावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः'

वाद का उद्देश्य विचार-विनिमय के द्वारा तत्त्वज्ञान करना है अतः वादी प्रतिवादी इसे एकान्त में भी कर सकते हैं। इसके लिए चतुरंग सभा की आवश्यकता नहीं है।

आचार्य हेमचन्द्र ने वाद का उद्देश्य तत्त्व संरक्षण ही प्रस्तुत किया है किंतु उनके मंतव्य के अनुसार वाद प्राश्निक आदि के समक्ष ही होता है। वाद के समय वादी, प्रतिवादी, सभापति एवं सभ्य ये चारों उपस्थित होने चाहिए, क्योंकि इन्होंने वादमात्र को ही कथा कहा है तथा कथा चतुरंग होती है। एक अवयव के भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न होने पर वह कथा नहीं हो सकती। 'सेयं चतुरङ्ग कथा, एकस्याप्यङ्गस्य वैकल्ये कथात्वानुपपतेः' (प्रमाण मीमांसा वृत्ति २/१/३०)

भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार वाद, जल्प एवं वितण्डा तीनों संयुक्त होकर कथा कहलाते हैं जबकि आचार्य हेमचन्द्र ने जल्प एवं वितण्डा को कथा नहीं माना है उनके अनुसार वाद ही कथा है। इस तथ्य पर उन्होंने प्रमाण मीमांसा में विस्तृत ऊहापोह किया है तथा निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहा है कि—

'तस्माज्जल्पवितण्डानिराकरणेन वाद एवैकः
कथाप्रथां लभत इति स्थितम्'
(प्र. मी. २/१/३०/७१)

चरक संहिता में कथा को सम्भाषा कहा गया है तथा वहां पर सम्भाषा के दो भेद निर्दिष्ट हैं—१. संधाय सम्भाषा २. विगृह्य सम्भाषा।

सौमनस्य से किया जाने वाला विचार विनिमय संधाय सम्भाषा तथा जय-पराजय के ध्येय से किया जाने वाला विचार विनिमय विगृह्य सम्भाषा कहलाता है। प्रथम सम्भाषा के अंतर्गत न्यायशास्त्रीय वाद का एवं द्वितीय में जल्प एवं वितण्डा का समावेश किया जा सकता है। जैन के अनुसार यथार्थ कथा तो संधाय संभाषा ही है। जैन तार्किक जल्प एवं वितण्डा को कथा मानते ही नहीं है। अतएव जैन परम्परा में वाद शब्द का वही अर्थ है जो चरक में संधाय सम्भाषा और न्याय परंपरा में वाद कथा का है। प्राचीन बौद्ध तार्किक वाद, जल्प एवं वितण्डा तीनों को कथा का भेद मानते थे किंतु उत्तरवर्ती बौद्ध तार्किकों ने जैन तार्किकों के समान ही जल्प और वितण्डा को कथा के क्षेत्र से पृथक् कर 'वाद' को ही कथा रूप में मान्य किया अतः उत्तरवर्ती बौद्ध मान्यता और जैन परंपरा के मध्य 'वाद' शब्द के अर्थ में कोई अन्तर नहीं रहा, यह स्पष्ट ही है।

जैन परम्परा के अनुसार चतुरङ्गवाद के अधिकारी विजिगीषु है। न्याय-वैद्यक परंपरा सम्मत विजिगीषु से जैन विजिगीषु का बहुत बड़ा अंतर है। न्याय-वैद्यक परंपरा के अनुसार न्याय, अन्याय, छल, जाति आदि किसी का भी प्रयोग करके जो वादी को परास्त कर दे, वही विजिगीषु है जबकि जैन परंपरा के अनुसार विजिगीषु वह है जो प्रमाण एवं तर्क के द्वारा अपने पक्ष की सिद्धि करे उसके लिए छल जाति आदि का प्रयोग न करे। इस दृष्टि से जैन परंपरा सम्मत विजिगीषु न्याय-वैद्यक परंपरा सम्मत तत्त्वबुभुत्सु की कोटि में आ जाता है क्योंकि वह विजिगीषु होने पर भी अपनी विजय के लिए अशुद्ध साधनों का उपयोग नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है।

भासर्वज्ञ ने कथा के वाद आदि तीन भेद न मानकर प्रकारान्तर से उसके भेद किए हैं। भासर्वज्ञ के अनुसार कथा के दो प्रकार हैं—१. वीतराग कथा, २. विजिगीषु कथा।

वीतराग कथा को वाद कहा है तथा विजिगीषु कथा के जल्प और वितण्डा ये दो भेद किए हैं। वीतराग कथा दो वीतरागों के मध्य होती है और उनमें से एक पक्ष की स्थापना करता है तथा दूसरा उसका तर्क के द्वारा निराकरण करता है किंतु इस खण्डन-मण्डन में विजय की इच्छा का उद्देश्य नहीं रहता है अपितु इसका उद्देश्य तत्त्व-निश्चय करना ही होता है इसलिए ही कहा जाता है 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'

जैन परम्परा के प्राचीन तार्किकों ने वीतराग व्यक्तियों के भी वाद होता है, यह स्वीकार किया है, यद्यपि वे विजिगीषु नहीं होते हैं फिर भी तत्त्व जिज्ञासा तो करते ही हैं। उनका वाद चतुरंग नहीं होता, क्योंकि वे असूयामुक्त होते हैं अतः पक्ष-प्रतिपक्ष लेकर प्रवृत्त होने पर भी उन्हें सभापति या सभ्यों के शासन की अपेक्षा नहीं रहती है—

परार्थाधिगमस्तत्रानुद्भवद्रागगोचरः ।
जिगीषुगोचरश्चेति द्विधा शुद्धधियो विदुः ॥
सत्यवाग्भि विद्यातव्यः प्रथमस्तत्ववेदिभिः ।
यथाकथाञ्चिदित्येष चतुरङ्गो न सम्मतः ॥
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. २७७

ब्राह्मण, बौद्ध और जैन परंपरा के अनुसार कथा का मुख्य प्रयोजन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति या प्राप्त तत्त्व ज्ञान की संरक्षा ही है। कथा के साध्य में किसी को मतभेद नहीं है किंतु साधन के प्रयोग में मतभेद परिलक्षित है। न्याय परम्परा कथा में छल जाति आदि के प्रयोग को मान्य करती है जबकि जैन एवं उत्तरवर्ती बौद्ध तार्किक छल, जाति आदि के प्रयोग को अनुचित मानते हैं।

जैन परंपरा में जब छल आदि का प्रयोग मान्य ही नहीं है तब जल्प या वितण्डा को कथा माना ही नहीं जा सकता, अतः सभी जैन तार्किकों ने वाद को ही कथा माना है। जैन तार्किकों ने साध्य प्राप्ति में साधन की शुद्धता को अनिवार्य माना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. अनुमान में प्रयुक्त उदाहरण की अयथार्थता

भारतीय प्रमाण मीमांसा में अनुमान प्रमाण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनुमान के पांच अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय एवं निगमन। प्रस्तुत निबंध में अनुमान के तीसरे अवयव दृष्टान्त की चर्चा की जा रही है। लोक व्यवहार को जानने वाले तथा शास्त्र में निपुण लोग जिस विषय में एकमत हो, वह दृष्टान्त कहलाता है। जैसा कि न्याय सूत्र में कहा है—'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः (१/१/२५) इसका तात्पर्य यह है कि लौकिक पुरुष जिस अर्थ को जिस रूप में जानते हैं यदि परीक्षक पुरुष भी उसको वैसा ही स्वीकार करें तो वह दृष्टान्त माना जाता है। केशव मिश्र के अनुसार जिस अर्थ में वादी एवं प्रतिवादी की सहमति है वह दृष्टांत कहलाता है—

'वादीप्रतिवादिनो संप्रतिपतिविषयोऽर्थो दृष्टान्तः।'

सर्वदर्शनसंग्रहकार के अनुसार जिसके आधार पर व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान होता है वह दृष्टान्त कहलाता है।

दृष्टान्त दो प्रकार के होते हैं—साधर्म्य एवं वैधर्म्य। इनको क्रमशः अन्वय एवं व्यतिरेक दृष्टांत भी कहा जाता है। साध्य के साथ, समानधर्मता से, जिस अधिकरण में, साध्य का धर्म अर्थात् साधन रहता हो, उसे साधर्म्य दृष्टांत तथा उसके कथन को साधर्म्य उदाहरण कहा जाता है। साध्य के साथ, विरुद्ध-धर्मता से, जिस अधिकरण में साध्य के धर्म अर्थात् साधन का अभाव हो वह वैधर्म्य दृष्टांत तथा उसके कथन को वैधर्म्य उदाहरण कहा जाता है। धूम के द्वारा पर्वत में अग्नि के सद्भाव को सिद्ध करने में पाकशाला साधर्म्य दृष्टांत है एवं जलाशय वैधर्म्य दृष्टांत है। सारांश यह है कि साध्य-साधनभाव रूप अन्वय व्याप्ति का प्रतिपादन होने से साधर्म्य दृष्टांत को अन्वय दृष्टांत तथा साध्याभाव-साधनाभाव रूप व्यतिरेक व्याप्ति के प्रतिपादक वैधर्म्य दृष्टांत को व्यतिरेक दृष्टांत कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टांत के बोधक वाक्य को उदाहरण कहा जाता है। भासर्वज्ञ ने दृष्टांत के सम्यक् अभिधान को उदाहरण कहा है जबकि हेमचन्द्राचार्य आदि ने दृष्टांत वचन को ही उदाहरण कहा है। उन्होंने सम्यक् शब्द का प्रयोग नहीं किया है। भासर्वज्ञ ने सम्यक् पद का सलक्ष्य प्रयोग किया है। सम्यक् पद से यहां नियत अविनाभाव ही अभिप्रेत है अतः नियत अविनाभाव से युक्त दृष्टांत के कथन को ही उदाहरण कहा जा सकता है अन्य को नहीं।

'सम्यग्दृष्टांतवचनमुदाहरणम्' इस उदाहरण लक्षण में सम्यक् पद उदाहरणाभासों की व्यावृत्ति के लिए ही प्रयुक्त किया गया है।

दृष्टांत और उदाहरण में वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध होता है इसीलिए दृष्टांत वचन को उदाहरण कहा जाता है। दोषों का आरोपण दृष्टांत में ही होता है, इसलिए उदाहरणाभास भी वस्तुतः दृष्टांताभास ही है। तर्कशास्त्र में उदाहरणाभास तथा दृष्टांताभास दोनों ही नाम प्रचलित हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने दृष्टान्ताभास का प्रयोग किया है। उन्होंने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि परार्थानुमान का प्रसंग होने से उदाहरण के दोष दृष्टान्त से उत्पन्न होते हैं अतः उन्हें दृष्टान्त दोष कहना उचित है।

न्यायसार में भासर्वज्ञ ने उदाहरणाभास का लक्षण देते हुए कहा है कि—'उदाहरणलक्षणरहिताः उदाहरणवदवभासमाना उदाहरणाभासाः' जो उदाहरण के लक्षण से रहित होते हैं किंतु उदाहरण जैसे प्रतीत होते हैं उन्हें उदाहरणाभास, दृष्टान्ताभास अथवा निदर्शनाभास कहते हैं। जिस प्रकार साधर्म्य एवं वैधर्म्य के भेद से दृष्टान्त के दो प्रकार हैं वैसे ही दृष्टान्ताभास भी दो प्रकार का है तथा इनके अवान्तर भेद अनेक होते हैं।

परार्थ अनुमान के प्रसंग में हेत्वाभास का निरूपण बहुत प्राचीन है। हेत्वाभास का विशद वर्णन कणादसूत्र एवं न्यायसूत्र दोनों में उपलब्ध है किंतु उदाहरणाभास का उल्लेख हेत्वाभास जितना प्राचीन नहीं है क्योंकि न्यायसूत्र, न्यायभाष्य तथा न्यायवार्तिक में उदाहरणाभासों का उल्लेख उपलब्ध नहीं है। प्रशस्तपाद के वैशेषिक भाष्य में दृष्टांताभास की चर्चा उपलब्ध है। उन्होंने इसके लिए निदर्शन शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि उन्होंने निदर्शनाभास सामान्य का पृथक् से कोई लक्षण नहीं दिया है किंतु उनके 'अनेन निदर्शनाभासा निरस्ता भवन्ति' इस वाक्य में निदर्शनाभास का उल्लेख हुआ है।

दृष्टांताभासों की संख्या विभिन्न आचार्यों ने अलग-अलग स्वीकार की है। दिङ्नागकृत न्याय प्रवेश में पांच साधर्म्य और पांच वैधर्म्य ऐसे दस दृष्टान्ताभासों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का उल्लेख है। उन्होंने उभयासिद्ध दृष्टान्ताभास के दो अवान्तर भेद और किए हैं जिससे वस्तुतः न्यायप्रवेश के अनुसार छह साधर्म्य एवं छह वैधर्म्य दृष्टांताभास फलित होते हैं। प्रशस्तपाद ने भी इन्हीं बारह दृष्टांताभासों का उल्लेख किया है। जयन्तभट्ट ने दोनों प्रकार के उदाहरणाभासों के पांच-पांच भेदों का सोदाहरण उल्लेख किया है। जयन्तभट्ट ने प्रथम तीन भेदों को वस्तुदोषकृत तथा शेष दो को वचनदोषकृत माना है। धर्मकीर्ति ने दोनों प्रकार के उदाहरणाभासों के नौ-नौ भेद किए हैं। कुमारिल ने चार दृष्टान्तभासों का उल्लेख किया है। प्रभाकरमतानुयायी शालिकानाथ ने चार प्रकार के साधर्म्यदृष्टांताभास बताए हैं। इन्होंने वैधर्म्य दृष्टान्तभासों का उल्लेख ही नहीं किया है क्योंकि इनके अनुसार वैधर्म्य-दृष्टान्ताभास की कोई उपयोगिता ही नहीं है।

जैमिनी, शवर, योग और वेदान्त में दृष्टांतभासों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। सांख्य में भी केवल माठर ने दृष्टान्ताभासों की दस संख्या बताई है पर उनका निरूपण नहीं किया है।

ज्ञात तथ्यों के आधार पर जैन परंपरा में सर्वप्रथम दृष्टांताभास का उल्लेख सिद्धसेन के न्यायावतार में मिलता है। सिद्धसेन ने दृष्टांताभास की संख्या का निर्देश नहीं किया है। माणिक्यनंदी ने साधर्म्य, वैधर्म्य दृष्टांताभास के चार-चार भेद माने हैं। वादीदेवसूरि ने धर्मकीर्ति की तरह अठारह दृष्टांताभास स्वीकार किए हैं। धर्मकीर्ति एवं वादिदेवसूरि के दृष्टांताभासों के उदाहरणों में जहां साम्प्रदायिक अभिनिवेश झलकता है, वहीं हेमचन्द्राचार्य ने विशुद्ध तार्किक दृष्टि का ही अनुगमन किया है।

हेमचन्द्राचार्य ने आठ साधर्म्य के एवं आठ वैधर्म्य के इस प्रकार सोलह दृष्टांताभास स्वीकार किए हैं। उन्होंने अनन्वय एवं अव्यतिरेक को पृथक् दृष्टांताभास नहीं माना है, उनका मंतव्य है कि आठ साधर्म्य के दृष्टांताभास वस्तुतः अनन्वय रूप एवं आठ वैधर्म्य के दृष्टांताभास अव्यतिरेक रूप हैं अतः उनका पृथक् से उल्लेख करना उचित नहीं है। सोलह दृष्टांताभासों का समावेश इन दो में ही हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. शास्त्रार्थ में जय-पराजय की व्यवस्था के नियम

प्राचीन शास्त्रों में तत्त्व-चर्चा के नियमों का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रारम्भ में ज्ञान की वृद्धि, तत्त्व-निर्णय आदि के लिए चिंतकों में परस्पर चर्चा-परिचर्चा/वाद-विवाद होते थे। कालान्तर में उस चर्चा के उद्देश्य में परिवर्तन हो गया, जो कथा वीतराग कथा होती थी, वह विजिगीषु कथा में परिणत हो गई। जय-पराजय वाद का मुख्य प्रयोजन बन गया। जब वाद में जय-पराजय की प्रमुखता हो गई तब निर्णय किया गया कि कथा चतुरंग होनी चाहिए अर्थात् सभापति, सभ्य, वादी एवं प्रतिवादी ये चार पक्ष कथा के समय अनिवार्य रूप से उपस्थित होने चाहिए। इनमें से एक भी यदि अनुपस्थित हो तो कथा नहीं हो सकती।

वादी, प्रतिवादी का पक्ष परस्पर विरोधी होता है। एक-दूसरे से विपरीत होता है। वादी, प्रतिवादी सभा के मध्य अपने-अपने पक्ष का अपने तर्कों के द्वारा समर्थन करते हैं। एक-दूसरे के पक्ष का निराकरण करते हैं। उसके द्वारा परस्पर एक-दूसरे की जय अथवा पराजय होती है। प्राचीन ग्रंथों में उस जय/पराजय के नियम बने हुए हैं।

नैयायिक दर्शन में जय-पराजय के नियमों को निग्रहस्थान कहा गया है। निग्रह अर्थात् तिरस्कार। वाद के समय वादी का कर्तव्य होता है कि वह सम्यक् साधन के प्रयोग के द्वारा स्वपक्ष की सिद्धि करें तथा प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत किए गए दूषणों का उद्धार करें। प्रतिवादी का यह कर्तव्य होता है कि वादी के पक्ष को दूषित बताकर स्वपक्ष की सिद्धि करे। जब वादी या प्रतिवादी कथा के समय अपने कर्तव्य निर्वहन में स्खलित हो जाते हैं तब वे निगृहित हो जाते हैं, पराजय को प्राप्त हो जाते हैं।

नैयायिकों के अनुसार सामान्यतया पराजय के दो हेतु बनते हैं—विप्रतिपत्ति एवं अप्रतिपत्ति। विरुद्ध या कुत्सित प्रतिपत्ति को विप्रतिपत्ति कहते हैं। प्रमाण-मीमांसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में विप्रतिपति को परिभाषित करते हुए कहा—साधनाभासे साधनबुद्धिर्दूषणाभासे च दूषणबुद्धिः विप्रतिपतिः अर्थात् साधनाभास को साधन मानना तथा दूषणाभास को दूषण मानना विप्रतिपति नाम का निग्रह स्थान है। अप्रतिपतित्वारम्भविषयेऽनारम्भः अर्थात् जो करना चाहिए वह नहीं करना तथा जो नहीं करना चाहिए उसे करना अप्रतिपति नाम का निग्रह-स्थान है। इन दो मुख्य निग्रहस्थान के प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञासंन्यास आदि बाईस भेद किए गए हैं। जिनमें अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप एवं पर्यनुयोज्योपेक्षण अप्रतिपत्ति के भेद हैं तथा अवशिष्ट सतरह विप्रतिपति के भेद हैं।

न्याय परम्परा में अक्षपाद ने जिन बाईस निग्रह स्थानों का वर्णन किया था, आज तक वे ही निग्रहस्थान बिना किसी परिवर्तन एवं परिवर्धन के न्याय परम्परा में स्वीकृत है, चरक ने भी निग्रह स्थान की चर्चा की है, उनकी अक्षपादवर्णित निग्रहस्थानों से अक्षरक्षः समानता तो नहीं है किंतु उन दोनों के वर्णन की आधारभूमि एक ही है।

बौद्ध परम्परा के प्राचीन ग्रंथों में निग्रहस्थान की चर्चा अक्षपाद तथा कहीं-कहीं पर चरक जैसी है। न्यायदर्शन वर्णित निग्रहस्थानों को ही उन्होंने स्वीकार किया किंतु उत्तरवर्ती बौद्ध विद्वानों को पराजय की यह व्यवस्था उचित नहीं लगी अतः उन्होंने न्यायसम्मत निग्रहस्थान का निराकरण कर स्वसम्मत निग्रहस्थान का निरूपण किया। बौद्ध विद्वान धर्मकीर्ति ने अपने 'वाद-न्याय' नामक ग्रन्थ में निग्रहस्थान का लक्षण एक कारिका में स्वतंत्र रूप से निरूपित किया है तथा अक्षपाद के निग्रहस्थान के विचार का निराकरण किया है।

आचार्य धर्मकीर्ति ने वाद-न्याय में अक्षपादसम्मत निग्रहस्थान के निराकरण करते हुए लिखा कि सम्यक् साधना को प्रस्तुत करने वाले वादी की इसलिए पराजय नहीं हो सकती कि वह कुछ कम या ज्यादा वक्तव्य दे दे अथवा किसी अमुक प्रकार के नियम का पालन न करे। यदि उसके पक्ष की सिद्धि हो जाती है तो उसे पराजित कैसे किया जा सकता है? अतः वादी के लिए असाधनाङ्गवचन और प्रतिवादी के लिए अदोषोद्भावन ये दो ही निग्रहस्थान/पराजय के हेतु मानने चाहिए। वादी का यह कर्तव्य है कि वह निर्दोष और पूर्ण साधन बोले। इसी प्रकार प्रतिवादी का भी यह कर्तव्य है कि वह यथार्थ दोषों की उद्भावना करे। यदि वादी निर्दोष साधन का कथन नहीं करता है अथवा जो साधन के अंग नहीं है ऐसे वचनों को बोलता है तो वह असाधनाङ्ग नाम के निग्रह-स्थान से निगृहीत हो जाता है। प्रतिवादी यदि यथार्थ दोषों का उद्भावन न करे अथवा जो दोष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है उनका दोष रूप में कथन करे तो वह अदोषोद्भावन निग्रहस्थान से निगृहीत हो जाता है। आचार्य धर्मकीर्ति द्वारा निरूपित निग्रहस्थान भी पराजय की सम्यक् व्यवस्था नहीं कर सकते। उन्होंने असाधनाङ्गवचन की विविध प्रकार की व्याख्या की है। उनके अनुसार अन्वय या व्यतिरेक दृष्टान्त में से केवल एक दृष्टान्त से ही साध्य की सिद्धि सम्भव है तो दोनों दृष्टांतों का प्रयोग करना असाधनाङ्गवचन है। त्रिरूपवचन ही साधनाङ्ग है, उनमें से किसी एक का भी कथन न करना असाधनाङ्गवचन है। प्रतिज्ञा, निगमन आदि जो साधन के अंग नहीं है उनका कथन भी असाधनाङ्गवचन है। इसी प्रकार जो दूषण नहीं है उन्हें दूषण रूप में प्ररूपित करना एवं जो दूषण हैं उनका उद्भावन/प्रकटीकरण न करना अदोषोद्भावन है। आचार्य धर्मकीर्ति ने इन दो निग्रहस्थानों का विशद विवेचन करके भी अन्त में लिखा है कि जय लाभ के लिए स्वपक्ष सिद्धि एवं परपक्ष का निराकरण करना आवश्यक है।

न्याय परंपरा में छल, जाति आदि का प्रयोक्ता अपने पक्ष की सिद्धि किए बिना छल आदि के द्वारा ही जय को प्राप्त कर लेता है अर्थात् न्याय परंपरा के अनुसार जय लाभ के लिए स्वपक्ष की सिद्धि करना अनिवार्य शर्त नहीं है। आचार्य धर्मकीर्ति ने इस सिद्धांत को मान्य नहीं किया। उन्होंने कहा छल आदि का प्रयोग सत्यमूलक नहीं है अतः वर्ज्य है।

तत्त्वरक्षणार्थं सद्भिरूपहर्त्तव्यमेव छलादि
तस्मान्न ज्यायानयं तत्त्वरक्षणोपायः
वादन्याय पृ. ७१

छल आदि के द्वारा किसी को गौण कर देने मात्र से जय नहीं हो सकती है अतएव धर्मकीर्ति के कथनानुसार एक की पराजय से दूसरे की जय होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार धर्मकीर्ति ने न्यायदर्शन सम्मत जय-पराजय की व्यवस्था में संशोधन किया किंतु उनके द्वारा प्रदत्त असाधनाङ्गवचन एवं अदोषोद्भावन की व्यवस्था भी अत्यंत जटिल एवं दुरूह हो गई उसमें संशोधन जैनाचार्य भट्ट अकलंक ने किया।

जैन तार्किकों ने न्यायपरम्परा सम्मत एवं बौद्धपरम्परा सम्मत निग्रह स्थानों को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने जय-पराजय की व्यवस्था निग्रहस्थान के द्वारा नहीं की अतः अक्षपाद सम्मत बाईस एवं बौद्ध सम्मत दो निग्रहस्थानों की उन्होंने समीक्षा की। भट्ट अकलंक ने सर्वप्रथम जैन परम्परा में जय-पराजय की स्वतंत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवस्था की। उनके अनुसार स्वपक्ष की सिद्धि कर देना जय एवं स्वपक्ष की सिद्धि न कर पाना पराजय है। निर्दुष्ट साधन बोल कर स्वपक्ष सिद्धि करने वाला वादी यदि कुछ कम या अधिक बोल भी जाता है तो उसकी पराजय नहीं हो सकती। प्रतिवादी द्वारा विरुद्ध हेत्वाभास की उद्भावना कर देने से ही उसकी जय हो जाती है फिर उसे स्वतन्त्र रूप से अपने पक्ष को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती है। प्रतिवादी द्वारा वादी के हेतु में असिद्ध अथवा अनेकान्तिक-हेत्वाभास की उद्भावना करने पर वादी की तो पराजय हो जाती है किंतु प्रतिवादी की जय तब ही होती है जब वह अपने पक्ष की भी सिद्धि करे।

आचार्य अकलंक द्वारा स्थापित जय-पराजय की व्यवस्था को उनके उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। आचार्य हेमचन्द्र भी अकलंक की उसी परम्परा का अनुगमन करते हुए कहते हैं कि 'स्वपक्षस्य सिद्धिर्जयः, असिद्धिः पराजयः'। जैनतार्किकों की जय-पराजय की व्यवस्था नवीन प्रकार की थी तथा न्याय विकास के सम्पूर्ण इतिहास में यह अन्तिम व्यवस्था है। इस व्यवस्था का किसी ने निराकरण अभी तक नहीं किया है। जय-पराजय के सम्बन्ध में जैनों की यह महत्त्वपूर्ण उपलब्धि एवं स्वीकृति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. जात्युत्तर एवं उसका समाधान

साधन में विद्यमान असिद्ध, विरुद्ध आदि दोषों का प्रकटीकरण दूषण कहलाता है, जैसा कि प्रमाण-मीमांसा में आचार्य हेमचन्द्र ने दूषण को परिभाषित करते हुए कहा—'साधनदोषोद्भावनं दूषणं।' अनुमान में कोई दोष नहीं है फिर भी अविद्यमान दोषों का प्रकाशन करना दूषणाभास कहलाता है। जिसको आचार्य हेमचन्द्र ने जात्युत्तर भी कहा है। अभूतदोषोद्भावनानि दूषणाभासा जात्युत्तराणि। जात्युत्तर को संक्षेप में जाति भी कहा जाता है।

असद् उत्तर को जाति कहा जाता है। न्याय के क्षेत्र में दूषणाभासों अर्थात् जाति की विशद् चर्चा उपलब्ध होती है। दूषण एवं दूषणाभासों के निरूपण का प्राथमिक श्रेय गौतम की न्याय सूत्र परम्परा को है। वैदिक ग्रंथों में ही इनका सबसे प्राचीन उल्लेख मिलता है। बौद्ध साहित्य में इनका प्रवेश वैदिक ग्रंथों एवं वैदिक विद्वानों के साथ संपर्क होने से ही हुआ है। जैन परम्परा में तो इनका प्रवेश बहुत बाद में हुआ। बौद्ध के साथ वाद, चर्चा के दौरान ही (इनका) जाति आदि का जैनन्याय के साहित्य में प्रवेश हुआ है। जैन परम्परा में सिद्धसेन के न्यायावतार में जाति का प्रथम उल्लेख प्राप्त होता है, तत्पश्चात् तो अधिकांश जैन तार्किकों के ग्रंथों में इनका उल्लेख हुआ है।

उपालम्भ, प्रतिषेध, दूषण, खण्डन, उत्तर इत्यादि परस्पर पर्यायवाची शब्द हैं। दूषण अर्थ में इनका प्रयोग हुआ है। विभिन्न दार्शनिकों ने एक ही अर्थ में इन विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया है। उपालम्भ, प्रतिषेध आदि शब्द न्याय-सूत्र में प्रयुक्त हुए हैं। दूषण आदि शब्दों का प्रयोग इनके भाष्य में हुआ है। बौद्ध साहित्य में खण्डन एवं दूषण शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन साहित्य में भिन्न-भिन्न ग्रंथों में उपालम्भ, दूषण आदि सभी शब्दों के प्रयोग उपलब्ध होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाति, असदुत्तर, असम्यक् खण्डन, दूषणाभास आदि परस्पर एकार्थवाची शब्द हैं। जाति का प्रयोग प्रमुख रूप से न्याय परम्परा के साहित्य में हुआ है। बौद्ध के प्राचीन ग्रंथों में असम्यक् खण्डन तथा जाति शब्द का प्रयोग मिलता है। दिङ्नाग से लेकर सभी बौद्ध तार्किकों के ग्रंथों में दूषणाभास के प्रयोग का प्राधान्य रहा है। जैन तर्क ग्रंथों में जाति, मिथ्योत्तर और दूषणाभास आदि शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है।

सभी परम्पराओं के तर्क ग्रंथों में दूषण तथा दूषणाभासों की चर्चा का मुख्य उद्देश्य यही माना गया है कि इनका यथार्थज्ञान प्राप्त हो जाए, जिससे वादी स्वयं अपने स्थापना वाक्य में उन दोषों से बच जाए और प्रतिवादी द्वारा उद्भावित दूषणाभासों में दोष दिखाकर अपने पक्ष को निर्दुष्ट स्थापित कर दे। इसी प्रयोजन के आधार पर सभी परम्परा के तार्किकों ने अपने ग्रंथों में इनका यथायोग्य वर्णन किया है।

तर्कग्रंथों में इनका विवेचन होने पर भी इनके प्रयोग के विषय में तार्किकों का मतैक्य नहीं है। वैदिक परम्परा में छल, जाति आदि के प्रयोग की स्वीकृति प्रारंभ से ही रही है। न्यायदर्शन में तो छल, जाति एवं निग्रहस्थान को सोलह तत्त्वों के अन्तर्गत स्वीकार किया है। बौद्ध परम्परा के प्राचीन ग्रंथ उपाय-हृदय आदि में जात्युत्तर के प्रयोग का समर्थन प्राप्त होता है किन्तु उत्तरवर्ती बौद्ध परम्परा में जात्युत्तर का उल्लेख तो है किन्तु उनके प्रयोग का सर्वथा निषेध है। जैन परम्परा के तर्क ग्रंथों में जाति आदि का उल्लेख तो प्राप्त होता है किन्तु इनके प्रयोग का प्रारंभ से ही निषेध रहा है। छल, जातियुक्त कथा करणीय है या नहीं? इस प्रश्न के समाधान में जैन तार्किकों ने एक स्वर से कहा—छल, जातियुक्त कथा करणीय नहीं है, वह सर्वथा त्याज्य है। यद्यपि कुछ-कुछ जैन तर्क ग्रंथों में उनके आंशिक स्वीकृति का क्षीण स्वर सुनाई देता है किन्तु यह सुझाव कभी भी जैन तार्किकों को स्वीकार नहीं हो सकता। आचार्य हेमचन्द्र ने भी छल, जाति आदि के स्वरूप का विमर्श किया किन्तु इनके प्रयोग की अनुमति नहीं दी तथा जैन की प्रकृति ही ऐसी है कि वह इनके प्रयोग की अनुमति अपनी वैराग्य प्रधान आचार-मीमांसीय पृष्ठभूमि के कारण दे ही नहीं सकता।

जाति की संख्या अनन्त है अतः उनकी गणना संभव नहीं है फिर भी न्यास-सूत्रों में २४ जाति का उल्लेख अक्षपाद ने किया है। हेमचन्द्राचार्य ने भी उन्हीं का उल्लेख किया है। असम्यक् उत्तर को ही जाति कहा जाता है। जब कोई वादी उदाहरण साधर्म्य से अपने साध्य की सिद्धि करता है तब प्रतिवादी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याप्ति की उपेक्षा करके उदाहरण वैधर्म्य से वादी के साध्य की असिद्धि दिखलाता है अथवा वादी उदाहरण के वैधर्म्य से अपने साध्य को सिद्ध करता है, तब प्रतिवादी उदाहरण के साधर्म्य से वादी के साध्य की असिद्धि दिखलाता है, इस प्रकार वादी के कथन में प्रतिवादी मिथ्या दोष की उद्भावना करता है, उसे जाति कहा जाता है। भासर्वज्ञ ने जाति का सामान्य लक्षण करते हुये कहा है कि—'प्रयुक्ते हि हेतौ समीकरणाभिप्रायेण प्रसंगो जाति' अर्थात् किसी साध्य विशेष के अनुमान के लिए वादी द्वारा हेतु का प्रयोग करने पर प्रतिवादी वादी के पक्ष के साथ समानता के अभिप्राय से जो दोषोद्भावन करता है, उसे जाति कहते हैं।

जाति के चौबीस ही भेदों के पीछे सम शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे—साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम आदि। सम शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। उदयनाचार्य के अनुसार जातिवादी दूसरे के साधन के समान अपना भी विरोध करता है, अतः दूसरे के समान अपना व्याघात करने के कारण यह उत्तरसम कहलाता है। यद्यपि प्रतिवादी का उत्तर हेतु से अधिक उत्तम नहीं है, तथापि यदि वादी जाति (असद् उत्तर) से घबराकर उत्तर न दे सके तो उसे भी प्रतिवादी के समान निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान का पात्र बनना होगा। जिससे वादी और प्रतिवादी दोनों समान हो जाएंगे। सम शब्द का प्रयोग यह अभिप्राय भी अभिव्यक्त करता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने छल को भी जाति की तरह असदुत्तर होने के कारण जात्युत्तर ही माना है। आचार्य हेमचन्द्र के मन्तव्य के अनुसार छल अथवा जाति इन सबका प्रतिसमाधान यथार्थ उत्तर के द्वारा ही करना चाहिए। प्रमाण-मीमांसा में इस मंतव्य का स्पष्ट उल्लेख हुआ है—'प्रतिसमाधानं तु सर्वजातीनामन्यथानुपपत्ति-लक्षणानुमानपरीक्षणमेव।' प्रमाणमीमांसा में प्रत्येक जाति का अलग-अलग उत्तर नहीं दिया गया है जबकि अक्षपाद, भासर्वज्ञ आदि ने सभी जातियों का पृथक्-पृथक् उत्तर दिया है। जात्युत्तर एवं उनके समाधान को संक्षेप में यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

१-२ साधर्म्य एवं वैधर्म्य जाति

साधर्म्य के द्वारा निरास करना साधर्म्यसमा जाति है। जैसे—शब्द अनित्य है, कृतक होने से, घट की तरह। ऐसा अनुमान करने पर साधर्म्य प्रयोग के द्वारा ही उसका निरास कर देना, जैसे शब्द नित्य है क्योंकि निरवयव हैं, जैसे आकाश। घट के समान कृतक होने से शब्द अनित्य है तो आकाश के समान निरवयव होने से शब्द नित्य है अर्थात् शब्द घट की तरह कृतक होने से अनित्य है तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरवयव होने से आकाश की तरह नित्य भी होना चाहिए। वैधर्म्य के द्वारा खण्डन करना वैधर्म्यसमा जाति है। जैसे—शब्द अनित्य है कृतक होने से वैधर्म्य से इसी अनुमान का प्रयोग करने पर वही विरोधी हेतु प्रयुक्त करना, जैसे—शब्द नित्य हैं, क्योंकि निरवयव है जो अनित्य होता है, वह सावयव देखा जाता है जैसे—घट आदि। घट के समान कृतक होने से यदि शब्द अनित्य है तो घट के विपरीत निरवयव होने से नित्य है अर्थात् घट से असदृश अर्थात् निरवयव होने से शब्द नित्य है, ऐसा प्रयोग ही वैधर्म्यसमा जाति है।

जाति समाधान

साधर्म्यसम एवं वैधर्म्यसमजाति

वादी द्वारा अनुमान प्रयोग—अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्
प्रतिवादी द्वारा अनुमान प्रयोग—'नित्यः शब्दो निरवयवत्वादाकाशवत्'

वादी ने यहां पर अन्वयव्याप्ति के आधार पर हेतु का उत्थान किया है।

शब्द और घट के कृतकत्व रूप साधर्म्य के आधार पर शब्द को वादी द्वारा अनित्य बतलाने पर प्रतिवादी शब्द और आकाश में निरवयवता के साधर्म्य से शब्द को नित्य बतलाता है अतः यहां पर प्रतिवादी के द्वारा साधर्म्य से प्रयुक्त हेतु का साधर्म्य से प्रतिषेध करने से यह साधर्म्यसम जाति कहलाती है।

वैधर्म्य

वादी—अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् यन्न कृतकं तन्नानित्यम्, यथा आकाशः

प्रतिवादी—नित्यः शब्दः निरवयवत्वात् यन्न निरवयवं तन्न नित्यं, यथा घटः यदनित्यं तद् सावयवं, यथा—घटः

साध्य के अविनाभावी साधन विशेष से ही साध्य की सिद्धि हो सकती है, दृष्टांत की साम्यता मात्र से साध्य सिद्ध नहीं हो सकता। साध्य सिद्धि के लिए हेतु का निर्दुष्ट होना अनिवार्य है।

साधर्म्य एवं वैधर्म्यसम जाति में जातिवादी द्वारा प्रयुक्त हेतु अपने साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से नहीं रहता है जबकि वादी द्वारा प्रयुक्त हेतु अपने साध्य में अविनाभाव से रह रहा है।

वादी द्वारा प्रयुक्त कृतकत्व हेतु अपने स्वसाध्य अनित्यत्व में अविनाभाव से रहता है अर्थात् जो कृतक होगा वह अनित्य होगा ही जबकि प्रतिवादी द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयुक्त 'निरवयवत्व' हेतु अपने साध्य नित्यत्व के साथ अविनाभावी नहीं है क्योंकि अनित्य वस्तुएं भी निरवयव देखी जाती हैं, जैसे—ज्ञान। ज्ञान निरवयव होने पर भी अनित्य है। अतः समस्त अनित्यों में विद्यमान तथा समस्त नित्यों में अविद्यमान अविनाभूत कृतकत्वादि धर्म ही अनित्यत्व को सिद्ध करने में समर्थ है, न कि अविनाभाव रहित निरवयत्वादि धर्म, क्योंकि निरवयवत्व हेतु नित्य एवं अनित्य दोनों में रह रहा है अतः यह हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास से दूषित है तथा जैन दर्शन के अनुसार शब्द पौद्गलिक है अतः सावयव है, इसीलिए प्रतिवादी द्वारा प्रयुक्त हेतु पक्षासिद्ध भी है, क्योंकि वह पक्ष शब्द में रह ही नहीं रहा है तथा आकाश का दृष्टांत भी साधन विकल है क्योंकि आकाशप्रदेशों की अपेक्षा से तथा घटाकाश, पटाकाश आदि की अपेक्षा से आकाश भी सावयव है अतः निरवयवत्व हेतु से आकाश रूप दृष्टांत रहित है।

३-४ उत्कर्ष अर्थात् अधिकता और अपकर्ष अर्थात् न्यूनता के द्वारा निरसन करना क्रमशः उत्कर्षसमा एवं अपकर्षसमा जाति है। 'शब्द अनित्य है कृतक होने से' इस अनुमान में दृष्टांत के किसी धर्म का प्रतिवादी साध्य धर्मी में जोड़कर उत्कर्षसमा जाति का प्रयोग करता है जैसे—यदि घट की तरह कृतक होने से शब्द अनित्य है तब शब्द को घट की तरह मूर्त भी होना चाहिए यदि शब्द मूर्त नहीं है तो घट की तरह अनित्य भी नहीं होना चाहिए। इस प्रकार शब्द में दृष्टांत के अन्य धर्म की अधिकता का समावेश करते हैं अर्थात् शब्द में मूर्तता धर्म को और जोड़ते हैं। इसी को उत्कर्षसमा जाति कहते हैं। अपकर्ष के द्वारा निरास करते हुए कहते हैं कि घट कृतक होता है तथा अश्रावण भी है, सुनाई नहीं देता है। इसी प्रकार शब्द को भी अश्रावण होना चाहिए। यदि घट की तरह शब्द अश्रावण नहीं है तो उसे घट की तरह अनित्य भी नहीं होना चाहिए। इस प्रकार शब्द के श्रावणत्व धर्म का अपकर्ष करते हैं। यही अपकर्षसमा जाति है।

५-६ वर्ण्य एवं अवर्ण्य द्वारा खण्डन करना (क्रमशः) वर्ण्यसमा एवं अवर्ण्यसमा जाति है जिसका कथन किया जाता है उसे वर्ण्य और जिसका कथन नहीं किया जाता है उसे अवर्ण्य कहते हैं। सिद्ध करने योग्य साध्य का धर्म वर्ण्य एवं दृष्टांत का धर्म अवर्ण्य कहलाता है। साध्य एवं दृष्टांत के धर्म रूप इन वर्ण्य और अवर्ण्य का विपर्यय करता हुआ अर्थात् साध्य धर्म को दृष्टांत धर्म एवं दृष्टांत धर्म को साध्य धर्म बनाता हुआ प्रतिवादी क्रमशः वर्ण्य एवं अवर्ण्य जाति का प्रयोग करता है, जिस प्रकार से कृतकत्व शब्द का धर्म है उस प्रकार से घट का धर्म नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तथा जैसे वह घट का धर्म है वैसे शब्द का धर्म नहीं है अर्थात् शब्द का कृतकत्व अन्य प्रकार का है तथा घट का कृतकत्व अन्य प्रकार का है। शब्द अन्य प्रकार से उत्पन्न है तथा घट अन्य प्रकार से उत्पन्न होता है।

समान धर्म वाले अन्य पदार्थ के धर्म के भेद से खण्डन करना विकल्पसमा जाति है, जैसे कोई-कोई कृतक पदार्थ मृदु देखा जाता है, जैसे मृगचर्म की शय्या। कोई-कोई कृतक पदार्थ कठोर देखे जाते हैं, जैसे कुठार आदि, वैसे ही कोई कृतक पदार्थ अनित्य होंगे, घट आदि। कोई कृतक पदार्थ नित्य होंगे, जैसे शब्द आदि।

७ समान धर्म वाले पदार्थों में विद्यमान धर्मभेद के साम्य से प्रकृत में भी धर्मभेद मानकर अनिष्ट धर्म का आपादन करना विकल्पसमा जाति है। जैसे--बुद्धि, पट और घट तीनों कृतक हैं परन्तु जैसे बुद्धि अमूर्त है, पट मूर्त, घट कठिन। इस तरह कृतक पदार्थों में धर्मभेद अनुभव सिद्ध है। इसी प्रकार घट की तरह शब्द के कृतक होने पर भी उनमें नित्यत्व एवं अनित्यत्व अवान्तर धर्मभेद मानकर शब्द में कृतकत्व के अवान्तर धर्म नित्यत्व का आपादन विकल्पसमा जाति है।

८ साध्य के साथ समानता दिखलाकर निरास करना साध्यसमा जाति है। यथा--यदि जैसा घट है वैसा ही शब्द है, तब तो इसका अर्थ हुआ जैसा शब्द है वैसा ही घट है और शब्द जब साध्य है तब घट को भी साध्य होना चाहिए अर्थात् घट एवं शब्द को सदृश बताकर एक के साध्य होने से दूसरों को भी साध्य बताना साध्यसमा जाति है। जबकि दोनों को एकत्र साध्य बनाना काम्य नहीं है। जब दोनों ही साध्य हैं तब एक साध्य दूसरे साध्य का दृष्टान्त नहीं हो सकता। यदि ऐसा नहीं है तब दोनों एक दूसरे से विलक्षण होने के कारण घट का अदृष्टांत होना ही यौक्तिक है अर्थात् घट रूप दृष्टांत शब्द से विलक्षण होने के कारण शब्द की अनित्यता सिद्धि में दृष्टान्त नहीं बन सकता।

जाति समाधान

उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम एवं साध्य सम इन छहों जातियों का प्रयोग जातिवादी साध्य एवं दृष्टान्त के आधार पर करता है अतः न्यायसूत्रकार ने एक ही सूत्र से इन छहों का निराकरण किया है--'किंचित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः (न्यायसूत्र ५/१/६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्र में आगत उपसंहार शब्द क्रमशः दृष्टान्त तथा साध्य का बोधक है। सिद्धि का अर्थ निश्चय है। महानस आदि सपक्ष तथा पर्वत आदि पक्ष में धूमवत्त्वरूप साधन का किञ्चित् साधर्म्य ही है पूर्ण साधर्म्य नहीं है। किञ्चित् साधर्म्य से इनमें उपसंहार अर्थात् साध्यदृष्टान्तभाव व्यवस्था हो जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि पर्वत आदि पक्ष एवं महानस आदि दृष्टांत के सभी धर्म समान हो। पक्ष एवं सपक्ष में सर्वथा साधर्म्य न होने पर भी उनमें सर्वलोक प्रसिद्ध साध्य दृष्टान्त व्यवस्था होने में कोई आपत्ति नहीं है। इसीलिए यह मानना होगा कि साध्य और दृष्टान्त में किञ्चित् साधर्म्य से साध्य, दृष्टान्त भाव व्यवस्था हो जाने पर अन्य असमानताओं के आधार पर उस व्यवस्था का प्रतिषेध उचित नहीं है।

शब्द रूप साध्य एवं घट रूप दृष्टानत में किञ्चित् साधर्म्य है उसी के आधार पर उनकी साध्यदृष्टान्तभाव व्यवस्था हो जाती है अतः उत्कर्ष, अपकर्ष आदि जात्युत्तर इस अनुमान के उत्थान को दूषित नहीं कर सकते हैं। 'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्' यह निर्दोष अनुमान है।

९-१० प्राप्ति और अप्राप्ति के विकल्प के द्वारा निरास करना क्रमशः प्राप्ति समा और अप्राप्ति समा जाति है। यथा—शब्द को सिद्ध करने के लिए जो कृतकत्व हेतु साधन रूप में प्रयुक्त किया गया है तो क्या वह कृतकत्व साधन, साध्य को प्राप्त करके सिद्ध करता है अथवा बिना प्राप्त किये ही साध्य को सिद्ध कर देता है? यदि प्राप्त करके सिद्ध करता है तब प्राप्ति तो दो विद्यमान पदार्थों की ही होती है। एक विद्यमान हो एक अविद्यमान हो तो प्राप्ति नहीं हो सकती और दोनों के ही विद्यमान होने से कौन किसका साध्य एवं साधन बनेगा, यदि ऐसा कहा जाये कि यह कृतकत्व हेतु साध्य को प्राप्त किये बिना ही साधन बन जाता है? यह कथन युक्ति संगत नहीं है। ऐसा होने से अतिप्रसंग हो जायेगा अर्थात् कोई किसी को भी सिद्ध कर देगा।

जाति समाधान

प्राप्तिसम और अप्राप्तिसम जाति का निराकरण करते हुए न्यासूत्रकार ने कहा है कि—घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिघ्रादप्रतिषेधः (न्या. सू. ५/१/८) इस सूत्र के प्रथमार्ध में प्राप्तिसम का खण्डन है और उत्तरार्ध में अप्राप्तिसम का खण्डन है।

प्राप्तिसम—जैसे मृत्पिण्ड और कुम्भकार संयुक्त है तथापि कुम्भकार आदि के द्वारा मृत्पिण्ड ही घटरूप से निर्मित होता है न कि मृत्पिण्ड कुम्भकार का निर्माण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है। प्रदीप और घट संयुक्त है परन्तु प्रदीप ही घट को प्रकाशित करता, घट प्रदीप को प्रकाशित नहीं कर सकता। इसी प्रकार वह्नि धूम संयुक्त है। परन्तु साधकत्व धूम में ही है, वह्नि में नहीं है—यह लोक व्यवस्था है। इससे यह स्पष्ट है कि कुछ कार्य प्राप्ति से होते हैं जैसे घट का निष्पादन। कर्ता—कुम्भकार, करण-दण्ड, चक्र आदि तथा अधिकरण-भूतल आदि, इन सबका मृत्पिण्ड के साथ संयोग प्राप्ति होने से ही होता है।

अप्राप्तिसम—शत्रु पीडन के लिए जो अभिचार-मारण क्रियायें की जाती हैं उनमें क्रियाकारक के साथ शत्रु का सम्मेलन नहीं होता है फिर भी अभिचार कर्म दूरस्थ पुरुष से संयुक्त न होता हुआ भी उसे पीडित कर देता है अतः यह कोई ऐकान्तिक नियम नहीं है कि हेतु साध्य से संयुक्त अथवा असंयुक्त होकर ही साध्य की सिद्धि करे अतः प्राप्ति या अप्राप्ति से साध्य साधनभाव का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता।

११ अतिप्रसंग को उपस्थित करके निरास करना प्रसंगसमा जाति है। जैसे—यदि अनित्यत्व को सिद्ध करने में कृतकत्व साधन है तब कृतकत्व को सिद्ध करने के लिए क्या हेतु है और उस कृतकत्व को सिद्ध करने वाले हेतु को सिद्ध करने के लिए भी कौन-सा हेतु है? इस प्रकार हेतु का कहीं अन्त ही नहीं होगा। अनवस्था दोष होने से यह प्रसंगसमाजाति है।

१२ विरोधी दृष्टान्त के द्वारा खण्डन करना प्रतिदृष्टान्तसमा जाति है। जैसे—शब्द अनित्य है क्योंकि प्रयत्नजन्य है जैसे—घट। वादी के द्वारा ऐसा कहने पर जातिवादी कहता है जैसे—घट प्रयत्नजन्य होने से अनित्य देखा जाता है वैसे ही व्यतिरेक दृष्टान्तरूप आकाश नित्य होते हुए भी प्रयत्नजनित देखा जाता है क्योंकि कूप खनन के प्रयत्न के पश्चात् आकाश का उपलंभ अर्थात् प्राप्ति होती है।

जाति समाधान

प्रसंगसमा जाति का निराकरण करते हुए न्यायसूत्रकार ने कहा कि—'प्रदीपोपादानप्रसंगनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः' (न्यायसूत्र ५/१/१०)

जिस प्रकार घट आदि के प्रकाशन के लिए उपादीयमान प्रदीप के स्वप्रकाशी होने से उस प्रदीप को प्रकाशित करने के लिए अन्य प्रदीप की अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार दृष्टान्त में अनित्य आदि धर्म की सिद्धि के लिए अन्य दृष्टांत की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि उसमें अनित्यता अन्य दृष्टान्त के बिना प्रत्यक्ष प्रमाण से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही सिद्ध है और प्रत्यक्ष में किसी दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं है।

प्रतिदृष्टान्त सम जाति का निराकरण सूत्रकार ने 'प्रतिदृष्टान्त हेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टांतः' (न्यायसूत्र ५/१/११) सूत्र से किया है अर्थात् प्रतिवादी ने वादी के अनुमान में प्रतिदृष्टान्त का कथन मात्र किया है, किन्तु दृष्टान्त में किसी प्रकार के दोष का उद्भावन नहीं किया है अतः दृष्टांत निर्दुष्ट है और वह साध्य का साधक है। प्रतिदृष्टान्त के कथन मात्र से दृष्टान्त साध्य का असाधक नहीं हो सकता है तथा प्रतिदृष्टान्त का साधकत्व मानने वाले को दृष्टान्त का साधकत्व मानना ही पड़ेगा। जब तक दृष्टान्त किसी बलवत्तर प्रमाण से बाधित न हो तब तक प्रतिदृष्टान्त के रहते हुए भी दृष्टान्त का साधकत्व स्वीकार करना होगा।

१३ अनुत्पत्ति अर्थात् अजन्यत्व के द्वारा खण्डन करना अनुत्पत्ति समा जाति है। जैसे—शब्द नाम के धर्मी के उत्पन्न नहीं होने पर कृतकत्व नाम का धर्म कहां रहता है? अर्थात् वह हेतु होता ही नहीं है। इस प्रकार हेतु का अभाव होने से अनित्यत्व की सिद्धि भी नहीं होती।

१४ पहले जो साधर्म्यसमा एवं वैधर्म्यसमा जाति कही गयी थी, उनका ही संशय के द्वारा उपसंहार होने से संशयसमाजाति होती है। जैसे—क्या घट के समान कृतक होने से शब्द अनित्य है अथवा घट से विलक्षण एवं आकाश के सदृश निरवयव होने से नित्य है? अर्थात् शब्द की नित्यता एवं अनित्यता के बारे में संदेह बना रहता है।

जाति समाधान

अनुत्पत्तिसम जाति का समाधान सूत्रकार ने 'तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः' (न्यायसूत्र ५/१/१३) सूत्र के द्वारा किया है। किसी वस्तु को नित्य या अनित्य तभी कहा जा सकता है, जब उसका स्वरूप सिद्ध हो। खपुष्प के समान जिसका स्वरूप ही सिद्ध नहीं हो, उसे नित्य या अनित्य कुछ भी नहीं कह सकते अतः उत्पत्ति से पूर्व शब्द रूप धर्मी की सत्ता न होने से उसमें नित्यत्व धर्म की सत्ता कैसे कही जा सकती है? प्रयत्नपूर्वक उच्चारित शब्द का स्वरूप जब निष्पन्न हो जाता है तब उसमें अनित्यता का साधक कार्यत्व हेतु उत्पन्न हो जाता है, अतः नित्य शब्द की उत्पत्ति अनुपपन्न होने से हेतु को अनुत्पत्ति सम बतलाना अनुचित है।

संशयसम जाति का समाधान सूत्रकार ने 'साधर्म्यात्संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वा संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसंगो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः (न्यायसूत्र ५/१/१५) इस सूत्र द्वारा किया है। किसी साधर्म्य के कारण संशय होने पर वैधर्म्य के द्वारा संशय की निवृत्ति हो जाती है। साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनों से ही संशय मानने पर अत्यन्त संशय होगा और उसकी निवृत्ति नहीं होगी तथा सामान्य सर्वदा संशय का कारण नहीं होता अर्थात् विशेष दर्शनकाल में सामान्य दर्शन संशय का कारण नहीं होता है अन्यथा सिर, हाथ, पांव आदि विशेष दर्शन काल में ऊर्ध्वता आदि धर्म पुरुष में संशय के कारण हो जायेंगे किन्तु ऐसा होता नहीं है। तात्पर्य यह है कि सामान्यधर्म दर्शन से संशय तभी तक होता है जब तक विशेष दर्शन न हो। जब पुरुष में व्याप्त सिर, हाथ आदि विशेष का दर्शन हो जाने पर ऊर्ध्वता आदि सामान्य सामग्री संशय को जन्म नहीं दे सकती। प्रस्तुत अनुमान में कृतकत्व हेतु विशेष दर्शन है अतः उसके सद्भाव में शब्द कृतक होने से घट की तरह अनित्य है अथवा निरवयव होने से आकाश की तरह नित्य है इस संशय का उत्थान ही नहीं हो सकता।

१५ दूसरे अर्थात् प्रतिपक्षी पक्ष को उपस्थित करने वाली बुद्धि के द्वारा प्रयुक्त वही साधर्म्यसमा अथवा वैधर्म्यसमा जाति प्रकरणसमा हो जाती है। वहीं पर अर्थात् उसी अनुमान वाक्य में शब्द अनित्य है कृतक होने से घट की तरह ऐसा वादी के द्वारा प्रयोग करने पर जातिवादी कहता है, शब्द नित्य है क्योंकि वह श्रावण-सुना जाता है जैसे—शब्दत्व। प्रकटीकरण के प्रकार का भेद मात्र होने से इस जाति को भिन्न कहा गया है।

प्रकरणसमा जाति में जातिवादी एक नये पक्ष को उपस्थित करके साधन का खण्डन करता है। वादी कृतकत्व हेतु के द्वारा शब्द की अनित्यता सिद्ध करता है और उसके समर्थन में घट का दृष्टान्त देता है। वादी का यह अनुमान निर्दुष्ट है फिर भी प्रतिवादी उसे निराकृत करने का प्रयत्न करता है। वादी ने शब्द विशेष को साध्य बनाकर कृतकत्व हेतु से अनित्यता सिद्ध की है। प्रतिवादी शब्द के सामान्य और विशेष इन दो रूपों में से शब्द के सामान्य रूप को सामने रखकर नया पक्ष स्थापित कर देता है। अपने अनुमान को प्रस्तुत करते हुए वह कहता है कि शब्द नित्य है क्योंकि सुनाई देता है। जैसे—शब्दत्व। शब्दत्व सामान्य है। सामान्य नित्य होता है इस कारण शब्द भी नित्य होगा।

१६ हेतु की त्रैकालिक अनुपपत्ति के द्वारा खण्डन करना अहेतुसमा जाति है। हेतु अर्थात् साधन। वह साधन साध्य से पहले होता है, या साध्य के पश्चात् होता है अथवा साध्य के साथ ही होता है? यदि वह साधन साध्य से पहले होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तो बताये कि साध्य के अभाव में वह किसका साधन होगा? जब साध्य ही नहीं है तो साधन कैसा? यदि साधन, साध्य के बाद में होता है, तब इसका अर्थ हुआ कि साध्य, साधन से पहले ही विद्यमान है, साधन से पहले ही साध्य के सिद्ध हो जाने पर बाद में साधन की क्या आवश्यकता है? यदि साध्य और साधन एक साथ युगपत् होते हैं, तब गौ के दाये बायें सींग के समान साथ-साथ वाले दो पदार्थों में साध्य-साधन भाव ही नहीं होगा अर्थात् त्रिकाल में ही कोई वस्तु किसी का हेतु बन ही नहीं सकेगी।

जाति समाधान

प्रकरणसम दोष का परिहार सूत्रकार ने 'प्रतिपक्षात्प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेद्यानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः' (न्यायसूत्र ५/१/१७) इस सूत्र से किया है। वादि सम्मत प्रथम साधन से वादिपक्ष की सिद्धि हो जाने पर उस हेतु की निर्दोषता के कारण द्वितीय पक्ष का उत्थान ही नहीं हो सकता अतः प्रकरण सम की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। शब्द की अनित्यता का साधक कृतकत्व हेतु निर्दोष है, इस निर्दुष्ट हेतु के द्वारा शब्द की अनित्यता सिद्ध हो जाने पर शब्द की नित्यता को सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त निरवयव हेतु का उत्थान ही संभव नहीं है अतः यहां पर 'प्रकरणसम जाति' के द्वारा दोष की उद्भावना ही नहीं की जा सकती है।

अहेतुसम जाति का समाधान करते हुए सूत्रकार ने 'न हेतुतः साध्य सिद्धे त्रैकाल्यासिद्धिः' (न्यायसूत्र ५/१/१९) इस सूत्र का उल्लेख किया है।

वस्तु की त्रैकालिक असिद्धि नहीं है क्योंकि हेतु से साध्य की सिद्धि हो जाती है। कार्य का करना तथा ज्ञाप्य का ज्ञापन ये दोनों ही जिस समय होते हैं उस समय वे अपने कारण से ही होते हैं, यह अनुभव सिद्ध है। यदि लोक सिद्ध साध्य साधनभाव का कुतर्क से अपलाप किया जाये तब तो फिर सभी हेतु अहेतु हो जाएंगे और किसी की भी कहीं पर भी प्रवृत्ति, निवृत्ति ही नहीं हो सकेगी अतः हेतु से साध्य की सिद्धि माननी ही होगी। साध्यों के साथ हेतुओं का पूर्वभाव, अपरभाव और सहभाव अनुभव के अनुसार माना जाता है। जैसे—कारक हेतु सदा साध्य कार्य से पहले ही होते हैं। कोई ज्ञापक हेतु साध्य से पूर्व तथा कोई पश्चात् भावी भी होता है।

ज्ञायमान रूप आदि के ज्ञापक चक्षु, सूर्य आदि पूर्वभावी हेतु हैं। अग्नि तथा आत्मा के ज्ञापक हेतु धूम, इच्छा आदि गुण साध्य अग्नि आदि के कार्य होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से पश्चाद्भावी हैं। कोई ज्ञापक हेतु साध्य सहभावी होता है। जैसे—रूप आदि स्पर्शादि के ज्ञापक हैं और वे ज्ञाप्य, ज्ञापक द्रव्य में साथ उत्पन्न होने से सहभावी हैं अतः कृतकत्व आदि हेतु की त्रैकालिक असिद्धि न होने से 'अहेतुसम जाति' से दोष उद्भावन असंभव है।

१७ अर्थापत्ति द्वारा खण्डन करना अर्थापत्तिसमा जाति है। यदि अनित्य के साधर्म्य से कृतक होने से शब्द अनित्य है तो इसका अर्थ यह हुआ कि नित्य के साधर्म्य से शब्द नित्य भी है। इस शब्द की नित्य आकाश के साथ निरवयवता के कारण समानता है। दोष प्रकटीकरण के प्रकार के भेद से ही इसको पृथक् जाति कहा गया है वस्तुतः भिन्न नहीं है।

१८ अविशेष अर्थात् विशेषता का अभाव दिखलाकर खण्डन करना अविशेषसमा जाति है। जैसे—यदि शब्द और घट का एक ही धर्म कृतकत्व मानते हो, तब समान धर्म होने से उनमें घट और शब्द में कोई विशेषता नहीं है। जैसे घट और शब्द इन दोनों में कोई विशेषता नहीं है। वैसे ही सारे ही पदार्थों में विशेषता का अभाव हो जायेगा क्योंकि सभी पदार्थों में परस्पर कुछ न कुछ तो समानता रहती ही है।

जाति समाधान

अर्थापत्तिसम जाति का समाधान न्यायसूत्रकार ने 'अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्त्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः' (न्यायसूत्र ५/१/२२) इस सूत्र से किया है। अर्थात् अर्थापत्ति द्वारा अनुक्त का भी अर्थादापादन मानने वाले को अपने पक्ष की हानि उठानी पड़ेगी क्योंकि उसके पक्ष में भी जो अनुक्त है उसका ग्रहण किया जा सकता है अतः उत्पन्न होने से 'शब्द अनित्य है' इसका अर्थापत्ति से यह अर्थ निकालना कि नित्य साधर्म्य से शब्द नित्य है, यह कथन सर्वथा असंगत है अर्थात् जिस प्रकार अनुक्त नित्यत्व पक्ष की सिद्धि अर्थापत्ति से प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार अनुक्त अनित्यत्व पक्ष की भी सिद्धि अर्थापत्ति से हो जायेगी तथा अर्थापत्ति अनैकान्तिक दोष से भी दूषित है, क्योंकि यह अर्थापत्ति दोनों पक्षों में समान रूप से उपस्थित की जा सकती है। यदि नित्य साधर्म्य तथा निरवयवत्व से आकाश की तरह शब्द का नित्यत्व सिद्ध किया जा सकता है तो प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने से वह अनित्य भी सिद्ध किया जा सकता है। एक हेतु और है कि अर्थापत्ति विपर्ययमात्र का सहारा लेकर सर्वत्र नहीं उठायी जा सकती। जैसे—'ठोस शिलाद्रव्य का पतन होता है' यह कहने पर द्रव द्रव्यों का पतन नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता, इस अर्थ की अवगति होती है तथा यह अर्थ व्यभिचारी है क्योंकि जलरूप द्रव्य का पतन भी अनुभव सिद्ध है अतः ऐसी अनैकान्तिक अर्थापत्ति के द्वारा अनिष्टापादन संभव नहीं है।

अविशेषसम जाति का समाधान सूत्रकार ने 'क्वचिद्धर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः' (न्यायसूत्र ५/१/२४) इस सूत्र से किया है। समस्त पदार्थों में साम्य सिद्ध करने पर प्रत्यक्षादि से विरोध उपस्थित होता है। यदि नित्यत्व अथवा अनित्यत्व से सभी के साम्य का कथन किया जाये, तो वह अनुमान आदि प्रमाण से विरुद्ध है अर्थात् कहीं कार्यत्व रूप प्रमाण से घट आदि में अनित्य धर्म की युक्ति युक्तता है तथा कहीं पर अन्य हेतु से वस्तु में नित्यधर्मता भी है अतः सभी पदार्थों में अविशेष रूप अनिष्ट का आपादन प्रमाण विरुद्ध होने से सम्भव नहीं है। तथा घट आदि में एवं शब्द में अनित्यत्व के साधक कार्यत्व धर्म की कारणत्वेन उपपत्ति संभव है, अतः उसमें साम्यता का आपादन किया जा सकता है किंतु सभी पदार्थों में अविशेषता के आपादक किसी धर्म की कारणत्वेन उपपत्ति संभव नहीं है अतः उन सब में समानता का स्वीकरण संभव नहीं है।

१९ उपपत्ति—युक्ति के द्वारा निरास करना उपपत्तिसमा जाति है। जैसे—यदि कृतकत्व की युक्ति से शब्द अनित्य है तो निरवयवत्व की युक्ति से नित्य भी क्यों नहीं होगा? नित्यता एवं अनित्यता इन दोनों पक्षों की युक्ति से सिद्धि होने से तथ्य की अनिश्चय में समाप्ति होती है। यह जाति भी दोष के प्रकटीकरण के प्रकार के कारण ही भिन्न है।

२० उपलब्धि के द्वारा निराकरण करना उपलब्धिसमा जाति है। जैसे—शब्द अनित्य है क्योंकि प्रयत्नजनित है ऐसा वादी के द्वारा कहने पर जातिवादी खण्डन करते हुए कहता है—प्रयत्नजन्यता अनित्यत्व सिद्ध करने में साधन नहीं है क्योंकि साधन वही कहलाता है जिसके बिना साध्य की उपलब्धि ही न हो किंतु विद्युत् आदि में प्रयत्नजन्यता के बिना भी अनित्यता उपलब्ध होती है तथा वायुवेग से टूटने वाली वनस्पति आदि से उत्पन्न शब्द में भी प्रयत्नजन्यता के बिना भी अनित्यता पाई जाती है। इसलिए कृतकत्व अनित्यता का हेतु नहीं है।

जाति समाधान

'उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः' (न्यायसूत्र ५/२६) इस सूत्र के द्वारा उपपत्तिसम जाति का समाधान किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जातिवादी 'दोनों कारणों की उपपत्ति' अर्थात् कृतकत्व हेतु से अनित्यत्व एवं निरवयवत्व हेतु से नित्यत्व की युक्ति संगता से उपपत्ति समदोष की उद्भावना करता है किंतु यह उचित नहीं है क्योंकि कार्यत्व हेतु से अनित्यता सिद्ध है अतः उसका प्रतिषेध नहीं हो सकता तथा यदि वह प्रतिषिद्ध होती है तो 'उभयकारणोपपत्ति नहीं बनेगी। 'उभयकारणोपपत्ति' से आप अनित्यत्व की उपपत्ति स्वीकार करते ही है, अतः इस स्वीकृति से अनित्यता का प्रतिषेध नहीं हो सकता अतः उपपत्तिसम जाति बन ही नहीं सकती। कृतकत्व हेतु अव्यभिचारी है, उससे अनित्यता सिद्ध होती है जबकि निरवयवत्व हेतु व्यभिचारी है उससे नित्यता सिद्ध हो सकती।

इस जाति का साधर्म्यसम एवं वैधर्म्यसम से नाममात्र का अन्तर है अतः भासर्वज्ञ ने इस जाति का उल्लेख नहीं किया है।

उपलब्धिसमा जाति का समाधान करते हुए सूत्रकार कह रहे है कि 'कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः' अर्थात् शब्द के अनित्यत्व के प्रसंग में कृतकत्व हेतु से अनित्यता बतलायी गयी है न कि कार्य कारण का नियम बतलाया गया यदि वहां कृतकत्व हेतु भिन्न किसी अन्य हेतु से अनित्यता सिद्ध हो जाये तब कृतकत्व हेतु का प्रतिषेध करने से क्या प्रयोजन? चाहे अन्य हेतु से ही सही साध्य तो सिद्ध हो ही गया अतः उपलब्धिसमा जाति उपस्थित करना व्यर्थ है।

२१ अनुपलब्धि के द्वारा खण्डन करना अनुपलब्धिसमा जाति है वादी के द्वारा यह कहे जाने पर कि शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रयत्नजन्य है तब जातिवादी कहता है—शब्द प्रयत्न का कार्य नहीं है क्योंकि उच्चारण से पहले भी वह रहता है किन्तु आवरण के कारण प्रतीति में नहीं आता। यदि यह कहा जाए कि आवरण प्रतीति में आता नहीं अतः आवरण है ही नहीं, अतः शब्द का उच्चारण से पूर्व प्रतीति में न आना यह सिद्ध करता है कि उच्चारण से पूर्व शब्द है ही नहीं तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आवरण की अनुपलब्धि में भी अनुपलब्धि का अस्तित्व तो है ही और आवरण की अनुपलब्धि का न मिलना यह बताता है कि आवरण की अनुपलब्धि का अभाव है और आवरण की अनुपलब्धि का अभाव होने का अर्थ है कि आवरण की उपलब्धि का सद्भाव है अतः यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मिट्टी में छिपी हुई जड़े, कील, जल इत्यादि दिखाई नहीं देते उसी प्रकार आवरण के अस्तित्व के कारण उच्चारण से पूर्व शब्द का ग्रहण नहीं होता और इसलिए प्रयत्नजन्य नहीं होने के कारण शब्द नित्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२ साध्यधर्म में नित्यता एवं अनित्यता के विकल्प के द्वारा शब्द की नित्यता को प्रकाशित करना नित्यसमा जाति है। जैसे—'शब्द अनित्य है' इस प्रकार की प्रतिज्ञा का प्रयोग करने पर जातिवादी प्रश्न करता है कि—यह जो शब्द की अनित्यता कही गयी है वह अनित्यता नित्य है या अनित्य है? यदि अनित्य है तब यह अनित्यता अवश्य ही नष्ट होने वाली है और तब अनित्यता के नाश होने से शब्द नित्य हो जायेगा। यदि वह अनित्यता नित्य ही है तो फिर धर्म के नित्य होने से उसका आश्रय शब्द भी नित्य होना चाहिए क्योंकि धर्म, धर्मी के बिना निराधार नहीं रह सकता। शब्द के अनित्य होने पर शब्द का धर्म अनित्य, नित्य नहीं हो सकता। इस तरह दोनों ही प्रकार से शब्द नित्य सिद्ध हो जाता है।

जाति समाधान

सूत्रकार ने अनुपलब्धिसम दोष का परिहार करते हुए 'अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः न्यायसूत्र (५/३०) इस सूत्र को उपस्थित किया है अर्थात् अनुपलब्धि उपलम्भाभावमात्र है। हम इतनी ही प्रतिज्ञा करते हैं कि यहां 'जो है' वह उपलब्धि का विषय है। 'जो नहीं है' वह अनुपलब्धि का विषय है। 'नास्ति इस आकार वाले ज्ञान की अनुपलब्धि है—और वह ज्ञान के अभाव रूप से सर्वानुभव सिद्ध है, और उसी रूप से सबको उपलब्ध है। अतः अनुपलब्धि की अनुपलब्धि नहीं बन सकती और अनुपलब्धि की अनुपलब्धि न होने से अनुपलब्धि का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता अतः तद्विपरीत शब्द आदि की सत्तारूप अनिष्ट का आपादन भी संभव नहीं है। शब्द की उत्पत्ति प्रयत्नपूर्वक ही होती है अतः शब्द अनित्य है। उसकी सत्ता सार्वकालिक नहीं है। अनुपलब्धि समजाति इस तथ्य को निराकृत नहीं कर सकती।

नित्यसम जाति का परिहार सूत्रकार ने 'प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादिनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः' (न्यायसूत्र ५/३६) इस सूत्र से किया गया है अर्थात् जब प्रतिषेध्य शब्द में अनित्यत्व के नित्य रहने से, ऐसा कहने से जातिवादी के द्वारा शब्द में अनित्यता स्वीकार कर ली गयी है अतः अनित्यत्व युक्ति से शब्द अनित्य नहीं है यह प्रतिषेध नहीं बनता है और यदि शब्द में नित्य, अनित्यत्व स्वीकार नहीं करते हो तो वह हेतु नहीं बनेगा अतः हेतु के अभाव में उसका प्रतिषेध नहीं हो सकेगा।

हेमचन्द्राचार्य ने नित्यसम जाति का उल्लेख अनित्यसम से पहले किया है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जबकि न्यायसूत्र में अनित्यसम के बाद नित्यसम का उल्लेख है।

२३ सम्पूर्ण पदार्थों की अनित्यता को प्रस्तुत करके निराकरण करना अनित्यसमा जाति है। जैसे—अनित्य घट के साथ शब्द की समानता है। उस समानता के कारण यदि शब्द की अनित्यता का प्रतिपादन करते हो तो, उस घट के साथ सब ही पदार्थों की कुछ न कुछ समानता है अतः इस हेतु से सारे ही पदार्थ अनित्य हो जाने चाहिए। यदि ऐसा कहो कि घट के साथ समानता होने पर भी आत्मा, आकाश आदि अनित्य नहीं है, तब शब्द भी अनित्य नहीं होना चाहिए।

अनित्यत्वमात्र के प्रकाशनपूर्वक विशेष गुण का प्रकाशन करने के कारण अविशेषसमा नाम की अटारहवीं जाति से यह जाति भिन्न है।

२४ प्रयत्नजन्य कार्यों का नानात्व बतलाकर निराकरण करना कार्यसमा जाति है। जैसे—शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रयत्नजन्य है। वादी के द्वारा ऐसा कहने पर जातिवादी कहता है—प्रयत्न दो प्रकार का होता है—१. प्रयत्न के द्वारा किसी असद् पदार्थ को ही पैदा किया जाता है, जैसे घट आदि। २. प्रयत्न के द्वारा आवरण के हट जाने से सत् पदार्थ ही अभिव्यञ्जित होता है जैसे—मिट्टी के नीचे दबी हुई जड़, कील आदि। इस प्रकार प्रयत्न के कार्य का नानात्व होने से संशय उत्पन्न होता है कि प्रयत्न के द्वारा शब्द अभिव्यक्त होता है अथवा प्रयत्न से शब्द उत्पन्न होता है। संशय के प्रकाशन के प्रकार में भेद होने से संशयसमा एवं कार्यसमा जाति में भेद है अर्थात् संशयसमा जाति में समानता एवं विलक्षणता के आधार पर संशय पैदा हुआ था और कार्यसमा में प्रयत्न के कार्य के नानात्व के आधार पर संशय उत्पन्न हुआ है।

जाति समाधान

सूत्रकार ने इस जाति का परिहार 'साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिपेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्याच्च' (न्यायसूत्र ५/३३) इस सूत्र से किया है। घट के साथ अस्तित्व रूप साधर्म्य के कारण सभी पदार्थों में अनित्यत्व आपादन का क्या प्रयोजन है? इससे शब्द के अनित्यत्व का प्रतिषेध तो बन नहीं सकता, क्योंकि सभी पदार्थों में अनित्यत्व के सिद्ध होने पर शब्द में अनित्यत्व ही सिद्ध होता है। नित्यत्व सिद्ध नहीं होता तथा साधर्म्य से असिद्धि मानने पर प्रतिपेध साधर्म्य से प्रतिषेध की भी असिद्धि होने लगेगी।

'कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः' (न्यायसूत्र ५/३८) इस सूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से इस जाति का परिहार होता है।

प्रयत्न का द्वैविध्य होने पर भी शब्द की प्रयत्नजन्यता में कोई संशय पैदा नहीं होता क्योंकि प्रयत्न तारतम्य से शब्द में तीव्र, मध्य, मन्द आदि भाव उपलब्ध होते हैं वे प्रयत्न द्वारा शब्द की उत्पत्ति मानने पर ही युक्तिसंगत हो सकते हैं। अभिव्यक्ति में प्रयत्न तारतम्य से कहीं तीव्र, मध्य आदि भाव दृष्टिगोचर नहीं होते हैं अतः प्रयत्न शब्द में उत्पत्ति रूप कार्य का ही हेतु है न कि अभिव्यक्ति रूप कार्य का।

उपर्युक्त जाति भेदों से भिन्न अन्य भी जाति भेद हैं किन्तु उनके अनन्त भेद होने से उनके उदाहरण प्रदर्शित करना शक्य नहीं है। चौबीस जाति का उल्लेख एवं उनके समाधान का उल्लेख संक्षेप में करके मध्ययुगीन शास्त्रार्थ की स्थिति पर पाठक का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. कारकसाकल्य का प्रामाण्य विमर्श

भारतीय दर्शनशास्त्र में सर्वप्रथम प्रमाण की चर्चा उपलब्ध होती है प्रमेय की वाद में। प्रमेय का निश्चायक प्रमाण होता है। प्रमाण के बिना प्रमेय का ज्ञान नहीं हो सकता। 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' प्रमाण के द्वारा ही प्रमेय की सिद्धि होती है। प्रमेय के बारे में दार्शनिकों के दो मत हैं। कुछ प्रमेय की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं, अन्य नकारते भी हैं किन्तु प्रमाण की अवधारणा सर्वमान्य है। प्रमेय की वास्तविकता-अवास्तविकता प्रमाणाधीन है। अतएव सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक वाङ्मय में प्रमाण की चर्चा उपलब्ध है।

प्रमाण न्यायशास्त्र का मूलभूत अंग है। जब इसको स्वीकृति दी गई तो उसके स्वरूप के बारे में विभिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न रूप से विचार करके विवेचन किया तथा उसके लक्षण को स्थापित करने का प्रयत्न किया। प्रमाणसामान्य के लक्षण में किसी को कोई आपत्ति नहीं है। प्रमाण का सामान्य लक्षण है—'प्रमायाःकरणं प्रमाणम्' प्रमा का करण ही प्रमाण है। जो वस्तु जैसी है उसको वैसा ही जानना 'प्रमा' है। प्रमाण सामान्य के लक्षण में मतैक्य होने पर भी 'करण' के स्वरूप के बारे में मतभेद है। करण का अर्थ है—साधकतम। फलसिद्धि में जिसका व्यापार अव्यवहित होता है वही करण कहलाता है। बौद्ध सारूप्य और योग्यता को करण मानते हैं। नैयायिक जयन्तभट्ट कारकसाकल्य को करण मानते हैं अन्य नैयायिक सन्निकर्ष और ज्ञान दोनों को करण मानते हैं। जैन सिर्फ ज्ञान को ही करण मानता है। उसके अनुसार सन्निकर्ष, योग्यता आदि अर्थबोध की सहायक सामग्री है परन्तु अर्थबोध का निकट संबंधी ज्ञान ही है। वही ज्ञान और ज्ञेय के बीच संबंध स्थापित करता है अतएव प्रमा उत्पत्ति में ज्ञान साधकतम होने से ज्ञान ही प्रमाण है यह जैन का अभ्युपगम है। इसी विचार बिन्दु के आधार पर प्रमाण को परिभाषित करते हुए कहा गया—'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं' स्व और अपूर्व अर्थ का व्यवसायी ज्ञान प्रमाण है। प्रमाण परिभाषा में प्रदत्त अपूर्व शब्द जैन परम्परा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में भी विवाद का विषय है जिसकी चर्चा पृथक्रूप से अन्यत्र वाञ्छित है। सूत्र में प्रदत्त ज्ञान शब्द का प्रयोजन स्पष्ट है। ज्ञान से भिन्न अज्ञान रूप कारकसाकल्य, सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति इत्यादि को जो प्रमाण मानते हैं, उनका निराकरण ज्ञान शब्द से हो जाता है।

कारकसाकल्य जिसको जयन्तभट्ट प्रमाण मानते हैं। उसका निराकरण प्रमेयकमलमार्तण्ड में ज्ञान शब्द की समीक्षा में सपूर्वपक्ष किया गया है।

नैयायिक मत

अव्यभिचारी आदि विशेषण विशिष्ट पदार्थ ज्ञान में साधकतम कारकसाकल्य प्रमाण है। अर्थ का निर्दोष ज्ञान किसी एक कारक से नहीं हो सकता किन्तु कारकों के समूह से ही होता है। एक-दो कारकों के होने पर वह नियम से उत्पन्न होता है अतः कारकसाकल्य ही ज्ञान की उत्पत्ति में करण है, साधकतम है अतः वही प्रमाण है ज्ञान प्रमाण नहीं है। अर्थज्ञप्ति में ज्ञान भी एक माध्यम है अतः वह भी कारकसाकल्य का एक अंग है। ज्ञानप्राप्ति का हेतु है। अकेला ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता। ज्ञान के सद्भाव में भी अन्य कारकों के अभाव में अर्थज्ञान नहीं होता है अतएव ज्ञान और अज्ञान स्वरूप कारकों का साकल्य ही प्रमाण है।

जैन अभिमत

जैन इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता अतएव प्रमाण परिभाषा में प्रदत्त ज्ञान विशेषण के द्वारा कारकसाकल्य की मान्यता स्वतः ही निराकृत हो जाती है। कारक साकल्य अज्ञान रूप है। वह स्व-पर की परिच्छित्ति में साधकतम नहीं हो सकता, अतः प्रमाण भी नहीं हो सकता। ज्ञान स्व-पर ज्ञप्ति में साधकतम है। ज्ञान और ज्ञेय के मध्य किसी दूसरे का व्यवधान नहीं है। कारकसाकल्य ज्ञान को पैदा करता है फिर पदार्थ का ज्ञान होता है। इस प्रकार कारकसाकल्य एवं प्रमिति के मध्य ज्ञान का व्यवधान है। ज्ञान का प्रमिति के साथ सीधा संबंध है अतः ज्ञान ही प्रमाण है। 'यद्भावे हि प्रमितेर्भावत्ता तदभावे चाभावत्ता तत्तत्र साधकतमम्' ज्ञान की साधकतमता स्वतः स्फुट है। फल स्वरूप वही प्रमाण है। अज्ञानरूप छिदि क्रिया में व्यापृत कुठार साधकतम होने पर भी अज्ञान स्वरूप होने के कारण प्रमाण नहीं है। प्रदीप आदि स्व-पर परिच्छिति में साधकतम है। यह अभ्युपगम औपचारिक है, पारमार्थिक नहीं है। कारकसाकल्य को भी उपचार से प्रमाण मानने में जैन को आपत्ति नहीं है। कारण में कार्योपचार के द्वारा ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा जा सकता है। जैसे लोकप्रसिद्ध है 'अन्नं वै प्राणा' यह औपचारिक कथन है, अन्न जीवित रहने में निमित्त बनता है उसे प्राण कह दिया गया। इस प्रकार के अनेक कथन लोक व्यवहार में प्रचलित है। औपचारिक रूप से उसे प्रमाण मानने में कोई बाधा नहीं है। शक्तिविकलता के कारण छद्मस्थ प्रकाश, इन्द्रिय आदि के बिना ज्ञान नहीं कर सकते। उनको इनके सहारे की अपेक्षा होती है। उनकी इस शक्तिविकलता के आधार पर कारकसाकल्य को प्रमाण कहना उचित नहीं है। अतीन्द्रिय ज्ञान जो वादी-प्रतिवादी दोनों को अभीष्ट है कारक साकल्य को प्रमाण मानने से अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होगा। प्रमाण का लक्षण कारकसाकल्य को स्वीकार करने से वह प्रमाण का लक्षण अव्याप्तलक्षणाभास से दूषित होगा। क्योंकि कारक साकल्यता स्वीकार करें भी तो वह छद्मस्थ ज्ञान में प्रविष्ट हो सकती। योगज ज्ञान में उसका प्रवेशाधिकार निषिद्ध है अतः कारकसाकल्य प्रमाण नहीं हो सकता। सर्व विशुद्ध निर्दोष ज्ञान ही प्रमाण है। ज्ञान प्रमाण होने से 'लिखितं साक्षिणो भुक्ति प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्' इसका निराकरण हो गया। ज्ञान ही मुख्य रूप से प्रमाण शब्द व्यपदेशार्ह है। यथा 'यद्यत्राऽपरेण व्यवहितं न तत्तत्र मुख्यरूपतया साधकतम व्यपदेशार्हम् यथा हि छिदिक्रियायां कुठारेण व्यवहितोऽयस्कारः, स्वपरपरिच्छित्तौ विज्ञानेन व्यवहितं च परपरिकल्पितं साकल्यादिकमिति। तस्मात् कारकसाकल्यादिकं साधकतमव्यवपेशार्ह न भवति।'

कारक साकल्य स्व पर परिच्छित्ति में ज्ञान व्यापार से व्यवहित होने के कारण साधकतम नहीं है। जिस प्रकार छिदिक्रिया में व्याप्त अयस्कार कुठार से व्यवहित होने के कारण साधकतम नहीं है। जो साधकतम नहीं है वह प्रमाण नहीं है। अतएव निष्प्रतिपक्ष यह सिद्ध हो जाता है ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान भिन्न परपरिकल्पित कारकसाकल्य प्रमाणत्व के क्षेत्र में मुख्य प्रमाण के रूप में स्थान प्राप्त नहीं कर सकता। ज्ञान ही साधकतम है। प्रमा का करण है अतः वही सर्वतोभावेन प्रमाण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. पातञ्जलयोगदर्शन में क्रियायोग की अवधारणा

मनुष्य जो भी प्रयत्न करता है, वह दुःख मुक्ति और सुखप्राप्ति के लिए करता है। आनन्द आत्मा का सहज धर्म है। वह हर मनुष्य के अन्तस्तल में विद्यमान है किन्तु मन जब बाह्य विषयों में निरत रहता है तब अन्तस्तल में छिपे हुए आनन्द का अनुभव करने में वह समर्थ नहीं होता है। आनन्द प्राप्ति के लिए, आत्मदर्शन के लिए चित्त का अन्तर्मुखी होना अत्यन्त आवश्यक है। चित्त में विभिन्न प्रकार के विक्षेप आते रहते हैं फलतः वह समाधि का अनुभव नहीं कर पाता। समाधिशून्य चित्त में दुःख, पीड़ा का ही प्रादुर्भाव हो सकता है। आनन्द का स्फुरण वहां सुलभ नहीं है।

समाधि का स्वरूप

पातञ्जलयोगसूत्र में समाधि एवं योग को एकार्थक माना गया है। योगः समाधिः। योग ही समाधि है। योग की/समाधि की निष्पत्ति चित्तवृत्ति के निरोध से प्राप्त हो सकती है। योगदर्शन में चित्तवृति के निरोध को ही योग कहा गया है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध के भेद से चित्त पांच प्रकार का है। योग अर्थात् समाधि चित्त की सब भूमिओं में होने वाला धर्म है। क्षिप्त चित्त रजोगुण प्रधान, मूढ़चित्त तमोगुण प्रधान, किञ्चित् रजः सहित सत्व बहुल विक्षिप्त, विशुद्ध सत्वगुण प्रधान एकाग्र और संस्कारमात्रशेष निरुद्ध चित्त कहलाता है। चित्त के तरंगरूप परिणाम को वृत्ति कहते हैं। इन चित्तवृत्तियों के स्वभाव सिद्ध प्रवाह का स्वकारण चित्त में विलीन हो जाना निरोध है। चित्त की क्षिप्त अवस्था में तमोगुण तथा सत्वगुण का निरोध है। मूढ़ अवस्था में रजोगुण तथा सत्वगुण का निरोध है। विक्षिप्त अवस्था में केवल तमोगुण का निरोध है। एकाग्र अवस्था में केवल ध्येयाकार वृत्ति को छोड़कर बाह्य आभ्यन्तर सकल वृत्तियों का निरोध होता है और निरुद्ध अवस्था में उस ध्येयाकार वृत्ति का भी निरोध हो जाता है अतः चित्त की पांचों भूमियों में कुछ-न-कुछ निरोध अवश्य रहता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है परन्तु सभी भूमियों का निरोध योग नहीं है। मात्र एकाग्र एवं निरुद्ध अवस्था का निरोध ही योग है। एकाग्र अवस्था में बाह्य घट आदि वृत्तियां तथा आन्तरिक काम आदि वृत्तियां लीन हो जाती है और एकमात्र ध्येयाकाररूप में वृत्ति विद्यमान रहती है, इसी को सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। जब परवैराग्य के सतत सेवन से वह ध्येयाकार वृत्ति भी विलीन हो जाती है और सारे संस्कार भी विलीन हो जाते हैं तब असंप्रज्ञात योग निष्पन्न होता है।

समाधि प्राप्ति के हेतु साधन

अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध होने से समाधि उत्पन्न होती है। समाधि उत्पादन में अभ्यास और वैराग्य दोनों साथ मिलकर हेतु बनते हैं। पृथक्-पृथक् रहकर समाधि के हेतु नहीं है। यही अभिमत गीता में प्रतिपादित हुआ है। अर्जुन श्रीकृष्ण से प्रश्न करते हैं, प्रभो! यह मन बहुत चंचल है इसको वश में कैसे किया जा सकता है? श्रीकृष्ण समाधान देते हुए कहते हैं—

असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलं।
अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च निगृह्यते ॥ गीता ६/३५

अर्जुन! निश्चितरूप से यह चंचल मन दुर्निगृह्य है। इस पर नियंत्रण करना कठिन है किन्तु अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा उसको वश में किया जा सकता है। पातंजलयोगसूत्र का अभिमत है कि समाहित चित्त वाले पुरुष के लिए अभ्यास एवं वैराग्य समाधि उत्पादन के हेतु बनते हैं किन्तु व्युत्थित चित्त वाले के लिए ये सहज हेतु नहीं बन सकते। समाहित चित्त वाला व्यक्ति योग पर आरूढ़ हो चुका है किन्तु व्युत्थित चित्त वाला तो योग का आरुरुक्षु है अर्थात् योग के क्षेत्र में आरोहण करना चाहता है। उसके लिए समाधि उत्पादन का हेतु क्रियायोग बनता है। योग के क्षेत्र में प्रवेश करने वालों के लिए क्रियायोग को प्रथम कर्त्तव्य बताया गया है—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।'

समाहित चित्तवाला योगी योग का उत्तम अधिकारी होता है। वह अभ्यास एवं वैराग्य से सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात योग को प्राप्त कर लेता है किन्तु व्युत्थित चित्त वाले योग के मध्यम अधिकारी को समाधि के साधनभूत अभ्यास एवं वैराग्य सहज सुलभ नहीं है क्योंकि उनका चित्त सांसारिक वासनाओं तथा राग-द्वेष आदि से कलुषित है। उनका चित्त भी शुद्ध होकर अभ्यास और वैराग्य का सम्पादन कर सके इसके लिए क्रियायोग का प्रावधान किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रियायोग की परिभाषा

कर्म से विरत होने के लिए योग को लक्ष्य बनाकर जो कर्म का आचरण किया जाता है उसे क्रियायोग कहते हैं।

कर्मविरतये योगमुद्दिश्य कर्माचरणं क्रियायोगः। (भास्वती टीका)

जैसे कांटे के द्वारा कांटा निकाला जाता है वैसे ही योग के अंगभूत कर्म से योग विरोधी कर्मों का उन्मूलन क्रियायोग के द्वारा किया जाता है। तत्त्ववैशारदी में 'क्रियैव योगः क्रियायोगः, योगसाधनत्वात्' कहकर क्रियायोग को परिभाषित किया है। यहां क्रिया को ही योगरूप में व्याख्यायित किया है।

क्रियायोग के अंग

तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान ये क्रियायोग के अंग हैं—'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।' इस क्रियायोग के अन्तर्गत ज्ञान, कर्म एवं भक्तियोग तीनों का समावेश हो जाता है। ईश्वरप्रणिधान यह भक्तियोग है, प्रस्तुत प्रसंग में यह क्रियायोग के मध्य समाहित है। वार्तिकम् में इसका स्पष्ट उल्लेख भी है। 'ईश्वरप्रणिधानरूपो भक्तियोगोऽप्यत्र क्रियायोगमध्य एव प्रवेशितः' तप एवं स्वाध्याय का कौन-से योग में समावेश होता है इसका उल्लेख वार्तिक में प्राप्त नहीं है किन्तु विमर्श करने से प्रतीत होता है कि तप कर्मयोगरूप एवं स्वाध्याय ज्ञानयोगरूप है। तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान को क्रियायोग स्वीकार करने से कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग इन तीनों का अन्तर्भाव एक क्रियायोग में किया जा सकता है।

तपः क्रियायोग

विषयसुख का त्याग अर्थात् कष्ट सहन के साथ जिन कर्मों से आपाततः सुख होता है उन कर्मों के निरोध की चेष्टा करना तप है। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, स्थान-आसन आदि द्वन्द्वों को जीतना तप है। 'तपो द्वन्द्वसहनम्।' इन द्वन्द्वों को जीतने के लिए विभिन्न प्रकार के व्रतों का उल्लेख किया गया है। जिस प्रकार अश्व-विद्या में कुशल सारथि चंचल घोड़ों को साधता है इसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मन को उचित रीति से वश में करना भी तप कहलाता है। जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातु का मल क्षय हो जाने से उसमें स्वच्छता और चमक आ जाती है, इसी प्रकार तप की अग्नि में शरीर, इन्द्रियों आदि के तमोगुणी आवरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के नाश हो जाने पर उनका सत्वरूपी प्रकाश बढ़ जाता है।

तप के प्रकार

तप को तीन प्रकार का कहा गया है।

शरीर तप

आसन, प्राणायाम और सात्विक आहार, विहार आदि को शरीर तप कहा जाता है। वार्तिक में देव, ब्राह्मण, गुरु एवं प्राज्ञ की पूजा, शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा को शरीर तप कहा गया है।

'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥'

इसी प्रकार के अन्य अनुक्त कार्य जो शरीर से सम्बन्धित हैं उनको शारीरिक तप कहा जा सकता है।

वाचिक तप

वाणी पर संयम रखना वाचिक तप है। सत्य, प्रिय, आवश्यकतानुसार दूसरों का यथायोग्य सम्मान करते हुए बोलना भी वाचिक तप के अन्तर्गत आता है। जो क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि कारणों से भी वचन का अन्यथा प्रयोग नहीं करता। हित, मित, संतुलित भाषा का प्रयोग करता है वह वाचिक तप का प्रयोक्ता कहलाता है।

मानसिक तप

हिंसात्मक, क्लिष्ट भावनाओं तथा अपवित्र विचारों से मन को हटाना, मानसिक तप है। अष्टांग योग का एक भेद प्रत्याहार—मानसिक तप का ही भेद है। प्रत्याहार का अर्थ है पीछे हटना। इसमें इन्द्रियां अपने बहिर्मुख विषय से पीछे हटकर अन्तर्मुख हो जाती हैं। साधना के क्षेत्र में प्रत्याहार का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

गीता में सात्त्विक, राजस एवं तामस के भेद से भी तप को तीन प्रकार कहा कहा है—

१. सात्त्विक—फल की इच्छा न करने वाले निष्काम पुरुषों के द्वारा परम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रद्धा से जो शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक इन तीन प्रकार के तप का अनुष्ठान किया जाता है, उसे सात्त्विक तप कहते हैं।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥ १७/१७

२. राजस—सत्कार, सम्मान एवं पूजा के लिए दम्भपूर्वक जो तप किया जाता है, उसे राजस तप कहते हैं। वह तप चल एवं अनित्य होता है।

सत्कारमानपूजार्थं तपोदम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १७/१८

३. तामस—मूढ़तापूर्वक मन, वाणी और शरीर को पीड़ा देकर अथवा दूसरों का अनिष्ट करने के लिए जो तप किया जाता है, वह तामस तप है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥

राजस एवं तामस तप योग सिद्धि में बाधक हैं। सात्त्विक तप का ही अन्तर्भाव क्रियायोग में हो सकता है।

तप की उपादेयता

योगसिद्धि के लिए तप की अनिवार्य अपेक्षा है। अतपस्वी के योग की सिद्धि नहीं होती। 'नातपस्विनो योगः सिद्धयति।' अनादिकालीन कर्म और क्लेश की वासना से विचित्र (अर्थात् सहजभावपन्ना) तथा विषय-जाल युक्त जो अशुद्धि है वह तपस्या के बिना नष्ट नहीं हो सकती अतएव तप का सर्वप्रथम ग्रहण किया गया है। तपस्या के द्वारा व्युत्थानचित्त समाहित होने लगता है।

तपस्या करने में विवेक

एक प्रश्न उपस्थित किया गया कि स्वाध्याय, ईश्वरप्राणिधान तो तत्त्वज्ञान एवं ईश्वर के अनुग्रह के कारण होने से योग के उपकारक हो सकते हैं किन्तु तप के द्वारा शरीर एवं इन्द्रियों का शोषण होता है वह योग के लिए उपकारी कैसे हो सकता है? तप के द्वारा चित्त में क्षोभ भी पैदा हो जाता है अतः वह समाधि का बाधक बन जाता है समाधि का साधक नहीं बनता। इस समस्या के समाधान में कहा गया कि तप विवेकपूर्वक ही करणीय है। व्यास भाष्य में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा गया कि जो तप चित्त की प्रसन्नता का हेतु तथा योगसाधना में विघ्न पैदा करने वाला नहीं हो वही तप योगियों द्वारा आचरणीय है।

'तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते।'

व्याधि, शरीर की पीड़ा, चित्त की अप्रसन्नता ये योग के विघ्न हैं। यदि तप से योग के ये विघ्न पैदा होते हैं तो वह अकरणीय है। जैन परम्परा ने भी आभ्यन्तर तप के उपबृंहण के लिए बाह्य तप को स्वीकार किया है। उपवास आदि करने से यदि ध्यान, स्वाध्याय आदि में बाधा उपस्थित होती हो तो वैसा बाह्य तप अकरणीय है।

गीता में भी कहा गया कि अत्यधिक खोने वाले अथवा सर्वथा न खाने वाले, अधिक जागने वाले अथवा अधिक सोने वाले के योग नहीं हो सकता।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

जो आहार-विहार, शयन-जागरण तथा अन्य कार्यों में नियमित है, उसका योग दुःख का नाशक होता है। तप को शरीर क्रियायोग भी कहा जाता है।

तपस्या का फल

तप के द्वारा आवरण का क्षय हो जाने से कायसिद्धि एवं इन्द्रियसिद्धि होती है। सम्पाद्यमान तप अशुद्धिजनित आवरणमल को नष्ट कर देता है। उस आवरण के हट जाने पर अणिमा आदि कायसिद्धियां एवं दूरश्रवण आदि इन्द्रियसिद्धियां उत्पन्न होती है। प्राणायाम आदि तपस्या द्वारा शरीर की वशवर्तितारूप अशुद्धि दूर हो जाती है। शरीर का वशीभाव दूर होने से तज्जनित आवरण भी दूर होता है। उस समय शरीर निरपेक्ष चित्त अव्याहत इच्छाशक्ति के प्रभाव से कायसिद्धि तथा इन्द्रियसिद्धि की प्राप्ति कर सकता है। यद्यपि तपस्या को योगी लोग सिद्धि की तरफ प्रयुक्त नहीं करते हैं। उनका परमार्थ ही एकमात्र लक्ष्य होता है किन्तु प्रासंगिकरूप से ये सिद्धियां भी उन्हें प्राप्त हो जाती हैं।

विनिद्रता, निश्चलस्थिति, निराहार, प्राणरोध आदि तपस्या मानुष प्रकृति के विरुद्ध और दैव प्रकृति के अनुकूल है अतः ऐसी तपस्या से काय एवं इन्द्रिय सिद्धि प्राप्त हो जाती है। समाधि के लिए तपस्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वाध्याय क्रियायोग

प्रणव (ओम्) आदि पवित्र मंत्रों का जप अथवा मोक्ष शास्त्र के अध्ययन को स्वाध्याय कहा जाता है।

'स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपः, मोक्षशास्त्राध्ययनं वा।'

स्वाध्याय भी योग का साधन है। परमेश्वर के नामों का उच्चारण तथा उपनिषद् आदि शास्त्रों का वाचन वृत्तिनिरोधरूप योग में साधन बनता है। स्वाध्याय के द्वारा साधक समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। समाधि के लिए, परमात्मा की प्राप्ति के लिए ध्यान एवं स्वाध्याय का आलम्बन लेना चाहिये। ध्यान एवं स्वाध्याय की सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित हो जाता है। कहा भी है—

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यस्तां ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्यायध्यानसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ॥

जप और शास्त्रों का अध्ययन—ये स्वाध्याय के दो प्रकार हैं। परमेश्वर की प्राप्ति के लिए उसका जप किया जाता है। योगदर्शन में प्रणव अर्थात् ओम् को ईश्वर का वाचक कहा गया है 'तस्यवाचकः प्रणवः।' ईश्वर वाच्य एवं प्रणव वाचक है। जप के द्वारा मानसिक एकाग्रता प्राप्त होती है और अन्ततोगत्वा इसके माध्यम से ज्ञाता का साक्षात्कार हो जाता है।

स्वाध्याय का फल

स्वाध्याय से इष्ट देवता के साथ मिलन होता है। 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' देव, ऋषि तथा सिद्धगण स्वाध्यायशील योगी के प्रत्यक्ष होते रहते हैं और उनके द्वारा योगी का कार्य भी सिद्ध होता है।

साधारण अवस्था में जप करने के समय अर्थभावना ठीक नहीं रहती। जपकर्त्ता के शाब्दिक उच्चारण चलता रहता है और उसका मन विषयान्तर में भटकता रहता है। ऐसी स्थिति में स्वाध्याय का वांछित लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। इष्ट के साथ तन्मय एवं तदाकार होने से ही इष्ट की प्राप्ति संभव है। स्वाध्याय-स्थैर्य होने पर बहुकाल तक मंत्र तथा मन्त्रार्थ भावना अविच्छिन्न रहती है। ऐसी प्रबल इच्छा के साथ देव आदि की भावना करने से वे दर्शन देंगे ही, यह असंदिग्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग

सम्पूर्ण कर्मों का परमगुरु ईश्वर में अर्पण अथवा कर्मफलाकांक्षा का त्याग ईश्वरप्रणिधान कहलाता है। 'ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा' पातंजल योगसूत्र के १/२३ सूत्र में भी समाधि लाभ के लिए ईश्वरप्रणिधान का निर्देश दिया गया है। उस सूत्र में प्रणिधान का अर्थ भक्ति विशेष किया है 'प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद्।' अर्थात् ईश्वर के प्रति विशेष भक्ति रखने से समाधि की प्राप्ति हो जाती है। सारे संदर्भों में आगत प्रणिधान शब्द पर विमर्श करने पर ईश्वर प्रणिधान के तीन अर्थ हो जाते हैं--

१. ईश्वर के प्रति विशेष भक्ति।

२. सम्पूर्ण कायिक, वाचिक, मानसिक क्रिया को परमात्मा में अर्पण कर देना।

३. कर्मफल की आकांक्षा का त्याग।

क्रियायोग के संदर्भ में दो एवं तीन नम्बर के अर्थों का उल्लेख ईश्वर प्रणिधान अर्थ में हुआ है। सम्पूर्ण क्रिया का ईश्वर में अर्पण अर्थात् लौकिक, वैदिक एवं साधारण सभी क्रियाओं का अन्तर्यामी ईश्वर में अर्पण कर देना ईश्वर-प्रणिधान है क्योंकि तब तक किसी क्रिया के प्रति व्यक्ति का कर्त्ताभाव बना रहता है उसके अहंकार का त्याग नहीं हो सकता। 'मैं करता हूं' ऐसा मानसिक सम्प्रत्यय बना रहता है और जब तक कर्त्ताभाव का विसर्जन नहीं होता तब तक साधना की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। जब साधक के मन में यह भाव पैदा होता है कि सब कुछ करवाने वाला परमेश्वर है मैं तो निमित्त मात्र हूं तब वह सब कुछ ईश्वर को समर्पित कर देता है। गीता में कहा भी है--

'कामतोऽकामतो वापि यत् करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥'

फलेच्छा से या निष्काम भाव से जो शुभाशुभ कर्म का मैं अनुष्ठान करता हूं, वह सब आप में (ईश्वर) समर्पित करता हूं क्योंकि ये सारे कार्य मैं आपके (ईश्वर) द्वारा प्रेरित होकर ही करता हूं।

अर्जुन को उपदेश देते समय श्रीकृष्ण भी समर्पण की बात कहते हैं--

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्जुन! तुम जो भी कार्य करो, भक्षण करो, यज्ञ करो, दान करो या तप करो वह सब मुझको अर्पण कर दो।

जब सब कुछ ईश्वरार्पण होगा तब व्यक्ति चिन्ता के भार से मुक्त हो जायेगा और निश्चिन्त व्यक्ति को ही समाधि लाभ सहजता से प्राप्त होता है।

कर्मफलसंन्यास

ईश्वरप्रणिधान का एक अर्थ है व्यक्ति कर्म करे किन्तु कर्मफल प्राप्ति की इच्छा न करे। उसे यह चिन्तन करना चाहिये कि कर्म करने में मैं स्वतंत्र हूं, उसके फल की कामना मुझे नहीं है। कार्य करना मेरे अधीन है किन्तु उसकी फल प्राप्ति मेरे अधीन नहीं है। मुझे कर्त्तव्यभाव से कर्म करते रहना है जो साधक इस प्रकार अपने करणीय कार्य में निरत रहता है वह कभी तनाव का वेदन नहीं करता। असमाधिस्थ नहीं बनता। समाधि की प्राप्ति उसके लिए सुलभ हो जाती है। गीता में कहा गया--

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोस्त्वकर्मणि ॥

अनासक्त भाव से कार्य का सम्पादन करता हुआ साधक अपने जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। कर्मफल संन्यास का तात्पर्य भी यही है कि व्यक्ति यह चिन्तन करता रहे कि कार्य करना मेरा कर्त्तव्य है, मेरे अधिकार में है, इस कार्य का फलभोक्ता तो ईश्वर ही है। वार्तिक में कहा भी है कि—'कर्म-फलनामीश्वरो भोक्तेतिचिंतनं कर्मफलसंन्यासः।' कर्मफलसंन्यास का सिद्धान्त साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ने का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। यदि यथार्थ रूप में इस सूत्र का जीवन में अवतरण हो जाता है तो साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

ईश्वर-प्रणिधान का फल

ईश्वर-प्रणिधान यथानियत आचरित होने पर उसके द्वारा समाधि की सिद्धि सुखपूर्वक होती है।

'समाधिसिद्धिश्वरप्रणिधानात्'

ईश्वर-प्रणिधान समाधि का साक्षात् सहायक होता है क्योंकि वह समाधि के अनुकूल भावना स्वरूप है। वह भावना प्रगाढ़ होकर शरीर को निश्चल और इन्द्रियों को विषय विरत करती है और धारणा तथा ध्यान के रूप में परिपक्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर अन्त में समाधि में परिणत हो जाती है। ईश्वर में सर्वभावार्पित योगी को समाधिसिद्धि हो जाती है। उस समाधिसिद्धि से योगी देहान्तर, देशान्तर एवं कालान्तर में होने वाले सभी अभीष्ट विषयों को यथार्थ रूप से जान सकते हैं तथा इसके द्वारा योगी की प्रज्ञा यथाभूतविषय को जानती है।

ईश्वर का स्वरूप

भारतीय दर्शनों में 'ईश्वर' की अवधारणा है किन्तु ईश्वर के स्वरूप के बारे में विभिन्नता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन जगत् कर्त्ता के रूप में ईश्वर को स्वीकार करता है। जगत् का निर्माण आत्मा और परमाणु से होता है ये दो तत्त्व जगत् के उपादान कारण हैं। ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है। वेदान्त में एक ही सत्य है चैतन्य। जब चैतन्य माया से उपहित होता है तो व्यष्टि स्तर पर जीव और समष्टि स्तर पर ईश्वर कहलाता है। जैनदर्शन विशुद्ध आत्मा को ईश्वर अथवा परमात्मा के रूप में स्वीकार करता है। जैन के अनुसार ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है। कर्मबद्ध आत्मा अपने प्रयत्न से कर्मों का नाश कर अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है वही परमात्म स्वरूप है। योगदर्शन ने भी ईश्वर को स्वीकार किया है किन्तु वह भी ईश्वर को जगत् कर्ता नहीं मानता, वह साधक का उच्च आदर्श है। योग के अनुसार ईश्वर अनादिमुक्त है। वह संसार में कभी भी लिप्त हुआ ही नहीं था। ईश्वर को परिभाषित करते हुए योगदर्शन में कहा गया—'क्लेश-कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।' क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय से अस्पृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर कहलाता है। अविद्या आदि पांच क्लेश हैं, उन कलेशों से उत्पन्न शुभाशुभ कर्म हैं। पुण्य-पाप कर्म के सुख-दुःख रूप फल विपाक कहलाते हैं तथा सुखदुःखात्मक भोग से जन्य नाना प्रकार की वासना आशय कही जाती हैं। इन क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय से असम्बद्ध पुरुषविशेष ही ईश्वर है, जो उपासक का उपास्य है। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः वह पुरुषविशेष सदैव मुक्त है एवं सदैव ही ईश्वररूप में स्थित है। जिसमें ऐश्वर्य परम प्रकर्ष को प्राप्त हो जाता है वही पुरुष ईश्वर है। ईश्वर सर्वज्ञ होता है। 'स सर्वज्ञः सर्ववित्।' ईश्वर में सर्वज्ञबीज पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाता है। 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।' ईश्वर भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों में स्थित प्रमेय जगत् को युगपत् जानता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईश्वर का वाचक

प्रणव ईश्वर का वाचक है—तस्य वाचकः प्रणवः। निरतिशय ज्ञान-क्रिया के शक्तिरूप ऐश्वर्य से युक्त व्यापक ईश्वर प्रणव (ओम्) का वाच्य अर्थ है। ईश्वर एवं प्रणव में वाच्य-वाचक, प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है।

ओम् शब्द का जप और उसके वाच्य ईश्वर का पुनः-पुनः चिन्तन करना, ध्यान करना ईश्वर का प्रणिधान है। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' चित्त को सब ओर से निवृत्त करके केवल ईश्वर में स्थिर कर देने का नाम भावना है। ईश्वर में ही तदाकार हो जाना है। यह भावना बार-बार के अभ्यास से इतनी दृढ़ हो जाये कि प्रणव का उच्चारण करते ही ईश्वर का साक्षात् होने लगे। जब साधक अभ्यास से इस स्थिति का निर्माण कर लेता है तब वह शीघ्र ही इस ईश्वर प्रणिधानरूप क्रियायोग से असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर लेता है।

क्रियायोग का प्रयोजन

समाधि को उत्पन्न करने के लिए एवं क्लेशों को प्रक्षीण करने के लिए क्रियायोग का अनुष्ठान किया जाता है।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।

समाधि को पैदा करना एवं क्लेशों को क्षीण करना ही क्रियायोग का प्रयोजन है। सम्यक्रूप से आचरित क्रियायोग समाधि अवस्था को उत्पन्न करता है और अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष एवं अभिनिवेश रूप सब क्लेशों को प्रकृष्टरूप से क्षीण करता है। प्रक्षीणीकृत क्लेशों को प्रसंख्यानरूप अग्नि के द्वारा दग्ध कर दग्धबीज के समान उत्पादक शक्तिहीन कर देता है।

क्रियायोग से अशुद्धि का क्षय होता है। अशुद्धि रजस (चंचलता) और तामस (जड़ता) रूप है अतः अशुद्धि के क्षय होने से चित्त समाधि के अभिमुख होता है। अशुद्धि ही क्लेश की प्रबल अवस्था है अतः अशुद्धि के क्षीण होने से क्लेश भी प्रतनु हो जाते हैं। दग्धबीज जैसे अंकुरित नहीं होता वैसे ही संप्रज्ञान द्वारा दग्धबीज क्लेश दुबारा चित्त में नहीं उठते हैं।

मैं शरीर नहीं हूं, ऐसे समाधिलभ्य ज्ञान का हेतु समाधि है तथा क्लेश की क्षीणता उस ज्ञान की सहायिका है। समाधि और क्लेशक्षीणता का हेतु क्रियायोग है। तपस्या से शरीर, इन्द्रिय की स्थिरता, स्वाध्याय से साक्षात्कार करने की उत्सुकता एवं ईश्वर-प्रणिधान द्वारा चित्त स्थिरता साधित होने पर समाधि उद्भूत होती है और प्रबल क्लेश प्रतनु होते हैं, यही क्रियायोग का प्रयोजन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना के क्षेत्र में क्रियायोग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। समाहित चित्त वाले साधकों के लिए क्रियायोग का प्रयोजन नहीं है ऐसा योगसूत्र का मन्तव्य है किन्तु स्वतः ही समाहितचित्त वाले साधक न्यून ही होते हैं अधिकांशतः व्युत्थित चित्त वाले ही क्रियायोग के द्वारा समाहित चित्त की भूमिका पर आरूढ़ होकर समाधि को प्राप्त करते हैं। क्रियायोग बहुजनहिताय साधना का प्रयोग है। इस क्रियायोग की सम्यक् अनुपालना से साधक साधना के अभिनव सोपानों का आरोहण करने में समर्थ हो जाता है और अन्ततोगत्वा समाधि की उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०. मंत्र-विचारण

भारतीय परम्परा में मंत्र विद्या का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वैदिक, बौद्ध एवं जैन आदि प्रायः सभी विचारधाराओं में मंत्र शास्त्रों का प्रणयन हुआ है। वैदिक परम्परा में यह माना जाता है कि प्राचीन ऋषियों ने तत्त्व-दर्शन के अभ्यासक्रम के प्रसंग में ब्रह्मा से वेद-विद्या उपलब्ध की थी। ऋषियों के एक अन्य समूह ने विष्णु को प्रसन्न कर उनसे भक्ति विद्या प्राप्त की थी तथा एक अन्य समूह ने शिव को प्रसन्न कर उनसे मंत्र विद्या प्राप्त की थी और उसी परम्परा से वह मंत्र-विद्या वर्तमान तक प्रचलित है। जैन परम्परा के चौदह पूर्वों में एक विद्यानुप्रवाद नाम का पूर्व था। उसमें मंत्र-विद्या का सांगोपाङ्ग वर्णन था। काल प्रवाह में वह ज्ञान राशि विलुप्त हो गयी किंतु उसके अवशेष के रूप में आज भी जैन परम्परा में मंत्र-विद्या का अस्तित्व है तथा मंत्रों के विशिष्ट प्रकार के प्रयोग उपलब्ध हैं। बौद्ध परम्परा में भी मंत्र, तंत्र, विद्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वज्रयान बौद्ध परम्परा का तो मूल आधार ही मंत्र-तंत्र-विद्या है। वर्तमान में भी इन सभी परम्पराओं में मंत्र के प्रयोग प्रचलित हैं।

मंत्र की परिभाषा

वर्णमाला के वर्णों की विशिष्ट प्रकार की संरचना मंत्र कहलाती है। निरुक्तकार यास्क ने 'मंत्रा मननात्' कहकर मंत्र शब्द का निरुक्त किया। जो शब्द, पद अथवा वाक्य पुनः पुनः मनन करने के योग्य होते हैं, उन्हें मंत्र कहा जाता है। मंत्र शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न प्रकार से उपलब्ध होती है। 'मन्यते ज्ञायते आत्मादेशोऽनेन' इति मंत्रः' जिसके द्वारा आत्मा का आदेश अर्थात् निजानुभव का बोध प्राप्त हो, उसे मंत्र कहते हैं। सम्मान वाचक 'मन्' धातु से 'त्र' प्रत्यय लगाने पर भी मंत्र शब्द निष्पन्न होता है–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'मन्यन्ते सत्क्रियन्ते परमपदे स्थिता आत्मानः यक्षादिशासनदेवता वा अनेन इति मंत्रः' अर्थात् जिसके द्वारा परम पद में स्थित आत्माओं का अथवा यक्षादि शासन देवों का सत्कार किया जाये, वह मंत्र है। मंत्र व्याकरण के अनुसार मंत्रवेत्ता जिसका गुप्त रूप से संभाषण करते हैं, वह मंत्र है 'मन्त्र्यन्ते गुप्तं भाष्यन्ते मन्त्रविद्भिरिति मंत्राः' पंचकल्प भाष्य में कहा गया कि जो पठित सिद्ध हो वह मंत्र है—मंतो पुण होइ पठियसिद्धो। पंचाशक की टीका में आचार्य अभयदेवसूरि ने कहा है कि—मंत्रो देवाधिष्ठितोऽसावक्षररचनाविशेषः' अर्थात् देवता से अधिष्ठित अक्षर रचना विशेष मंत्र कहलाती है। जिसके आदि में ओम् और अन्त में स्वाहा पद होता है तथा जो हीं आदि वर्ण विन्यास रूप होता है, उसे मंत्र कहते हैं। 'मंत्र ओंकारादिस्वाहापर्यन्तह्रींकारदिवर्णविन्यासात्मकः' (उत्तराध्ययन शान्त्याचार्यवृत्ति) इन सभी परिभाषाओं का समासीकरण करने से फलित होता है कि विशेष प्रकार की शब्द संरचना जो विशेष प्रयोजन के लिए हुई है उसे मंत्र कहा जाता है।

मंत्राक्षर संयोजना

मंत्र साहित्य में अक्षर संयोजना पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया जाता है। मंत्रों में शब्द संयोजना के वैशिष्ट्य से ही सामर्थ्य उद्भूत होता है। वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर स्वयं न शुभ होता है और न ही अशुभ होता है किन्तु उसमें शुभता एवं अशुभता विरोधी एवं अविरोधी वर्गों के योग से आती है। बीजाक्षरों में उपकारक एवं दग्धाक्षरों में घातक शक्ति निहित होती है। सब अक्षरों में मंत्र बनने का सामर्थ्य है किन्तु उनका उचित संयोजन करने वाला मंत्रवेत्ता दुर्लभ होता है—

अमंत्रमक्षरं नास्ति, नास्तिमूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभम्॥

मातृकावर्ण

मंत्रों का उत्पत्ति स्थान वर्णमाला ही है। अकार से लेकर क्षकारपर्यन्त वर्ण मातृकावर्ण कहलाते हैं। इन मातृका वर्णों का सृष्टि, स्थिति एवं संहार रूप से तीन प्रकार का न्यास होता है।

अकारादिक्षकारान्ता वर्णाः प्रोक्तास्तु मातृकाः।
सृष्टि-न्यास-स्थिति-न्यास-संहृतिन्यासतस्त्रिधा॥
जयसेनकृत प्रतिष्ठापाठ (३७६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ककार से लेकर हकार पर्यन्त व्यंजन बीजसंज्ञक हैं और अकार आदि स्वर शक्ति रूप हैं। मंत्र बीजों की निष्पत्ति बीज और शक्ति के संयोग से होती है। सारस्वत बीज, माया बीज, पृथ्वी बीज, अग्नि बीज, प्रणव बीज, मारुत बीज, जलबीज, आकाश बीज आदि की उत्पत्ति व्यंजन एवं स्वर के संयोग से ही हुई है।

मंत्र एवं विद्या

जैन परम्परा में मंत्र और विद्या इन दो शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है तथा दोनों की परस्पर भिन्नता का उल्लेख भी मिलता है। जिस मंत्र में स्त्री देवता अधिष्ठात्री हो, वह विद्या है तथा जिसमें पुरुष देवता अधिष्ठाता हो वह मंत्र है, अथवा जिसे विशेष प्रकार की साधना के द्वारा साधा जाये वह विद्या और जो बिना साधे ही पठित सिद्ध हो वह मंत्र है।

इत्थी विज्जाऽभिहिया, पुरिसो मंतुत्ति तव्विसेसोयं।
विज्जा ससाहणा वा, साहणरहिओ अ मंतुत्ति ॥
आवश्यकनिर्युक्ति गा. ९३।

मंत्र के प्रकार

मंत्र-शास्त्र में मंत्रों के विभिन्न भेद किये गये हैं। 'प्रयोगसार' नामक ग्रन्थ में बीजमंत्र, मंत्र एवं मालामंत्र के भेद से मंत्रों के तीन प्रकार बताये गये हैं। नौ अक्षर तक के मंत्र बीज मंत्र कहलाते हैं। बीस अक्षर तक के मंत्र कहलाते हैं तथा उनसे अधिक अक्षरों वालों को माला मंत्र कहा जाता है—

नवाक्षरान्ता ये मन्त्रा बीजमन्त्रा प्रकीर्तिताः।
पुनर्विंशति वर्णान्ता मन्त्रा मन्त्रास्तथोदिताः।
ततोऽधिकाक्षरमंत्रा मालामन्त्रा इति स्मृताः ॥

मंत्र-व्याकरण में स्त्रीलिंग, पुल्लिंग एवं नपुंसक के भेद से मंत्र के तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं। जिन मंत्रों के अंत में 'स्वाहा' पद का प्रयोग होता है वे स्त्रीलिंग मंत्र, जिन मंत्रों के अंत में हुं, वषट्, फट्, धे तथा, स्वधा आदि पदों का प्रयोग होता है वे पुल्लिंगी मंत्र एवं जिनके अन्त में 'नमः' पद का प्रयोग किया जाता है वे नपुंसक मंत्र कहलाते हैं—

'स्त्री-पुं-नपुंसकत्वेन, मन्त्रास्ते त्रिविधा मताः।
स्वाहा शब्दावसानाः स्युर्ये मन्त्रास्तान् विदुस्त्रियः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुंमांसो हुं वषट्-फट्-धे-स्वाधाप्रभृतिपल्लवाः।
ते नपुंसकलिंगा स्युर्येषामन्ते नमः पदम् ॥'

आग्नेय एवं सौम्य इन दो प्रकार के मंत्रों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। पृथ्वी, अग्नि एवं आकाश मंडल (समूह) वाले मंत्र आग्नेय मंत्र कहलाते हैं तथा जल एवं वायु तत्त्व वाले मंत्र सौम्य कहलाते हैं। जिन सौम्य मंत्रों के अन्त में फट् शब्द योजित होता है तो वे आग्नेय मंत्र बन जाते हैं। जिन आग्नेय मंत्रों के अन्त में 'नम' पद जुड़ जाता है तो वे सौम्य मंत्र बन जाते हैं।

आग्नेयाः सौम्या इति, मन्यन्ते ते पुनर्द्विधा मन्त्राः।
पृथ्व्यग्नि-वियत्प्राया ये ते मन्त्राः स्युराग्नेयाः ॥
अन्ये सौम्याः सौम्यानेव फडन्तान् वदन्ति चाग्नेयः।
आग्नेयान्तमेव स्यात् सौम्यत्वं नमोऽन्तत्वे ॥

बीजमंत्र

जिस मंत्र में बीजाक्षर तथा अन्य अक्षर होते हैं किन्तु मंत्र देवता का नाम नहीं होता वह बीजमंत्र कहलाता है। जैसे—'ओं ऐं ओं' यह बीजमंत्र है।

'ओम्' बीज मंत्र भारत की प्रायः सभी परम्पराओं में मान्य रहा है। प्रणव को योगशास्त्र में ईश्वर का वाचक कहा है। बीजमंत्रों में इसको प्रथम स्थान प्राप्त है। मंत्र संयोजना में प्रायः मंत्रों में ओम् का सन्निवेश किया जाता है। मंत्र व्याकरण में 'ओम्' बीज तेज, भक्ति, विनय, प्रणव, ब्रह्म, प्रदीप, वाम, वेद, कमल, अग्नि, ध्रुव, आकाश आदि संज्ञाओं के नाम से प्रसिद्ध है।

तेजो भक्तिर्विनयः प्रणव ब्रह्मप्रदीपवामाश्च।
वेदोऽब्जदहनध्रुवमादिद्युर्भिरोमिति स्यात् ॥

'ह्रीं' बीजमंत्र को माया तत्त्व, शक्ति, लोकेश, त्रिमूर्ति एवं बीजेश के रूप में ख्याति प्राप्त है। यह बहुत शक्तिशाली मंत्र है। ह्रींकार माया बीज अर्थात् शक्ति का बीज है।

ह्रीं का वैशिष्ट्य इसी से परिलक्षित होता है कि इस पर ह्रींकारकल्प जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थ निर्मित हुये हैं।

मायातत्त्वं शक्ति लोकेशो ह्रीं त्रिमूर्तिर्बीजेशः

ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रैं, ह्रौं एवं ह्रं ये बीज शून्य रूप माने जाते हैं।

'ऐं' वाग्बीज अथवा तत्त्व बीज कहलाता है। 'श्रीं' लक्ष्मीबीज के रूप में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विख्यात है। 'क्लीं' अनंग बीज अथवा आकर्षण बीज के रूप में स्वीकृत है।

'अर्हम्' जैन परम्परा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मंत्र है। प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों में इसकी विशेष साधना की जाती है। यह वीतरागता सूचक बीजमंत्र है। इस मंत्र का शरीर पर न्यास किया जाता है। कवच निर्माण प्रक्रिया में भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'अर्हम्' के जप में प्रचुर रोग निवारक क्षमता विद्यमान है। 'अर्हं' को ज्ञानबीज एवं जगद्वन्द्य कहा गया है। यह मन्त्रराज है, इसका ध्यान करना लाभप्रद है—

ज्ञानबीजं जगद्वन्द्यं, जन्म-मृत्यु-जरापहम् ।
अकारादिहकारान्तं रेफबिन्दुकलाङ्कितम् ।
भुक्तिमुक्त्यादिदातारं, स्रवन्तममृताम्बुभिः ।
मन्त्रराजमिमं ध्यायेद्, धीमान् विश्वसुखावहम् ॥
तत्त्वार्थसारदीपक

मंत्र सुरक्षा कवच

आचार्य महाप्रज्ञजी के शब्दों में 'मंत्र एक प्रतिरोधात्मक शक्ति है। मंत्र एक कवच है। मंत्र एक प्रकार की चिकित्सा है।' संसार में रहने वाले व्यक्ति के जीवन में आरोह-अवरोह के प्रसंग उपस्थित होते रहते हैं, मंत्र विषम परिस्थिति में भी व्यक्ति के मानसिक मनोबल को सुदृढ़ बनाये रखता है। बाह्य दूषित वातावरण से सुरक्षा करता है तथा आभ्यन्तर दोष की शुद्धि करता है। प्रतिकूल प्रहारों के आघातों से सुरक्षा प्रदान करता है। मंत्र साधना कवच बनाने की साधना है। आभामंडल को निर्मल बनाने की साधना है।

मंत्र विकल्प से निर्विकल्प तक पहुंचने की प्रक्रिया है। सविचार से निर्विचार तक पहुंचने की पद्धति है। जहां शब्द, ध्वनि और संकल्प शक्ति तीनों का योग होता है, वहां मंत्र की शक्ति जागृत हो जाती है। मंत्र का साक्षात्कार हो जाता है और मंत्र का देवता प्रकट हो जाता है। जब मंत्र जप करने वाले का शब्द ज्योति में बदल जाता है तब मंत्र का साक्षात्कार हो जाता है। मंत्र चैतन्य हो जाता है। मंत्र जब चैतन्य बनता है तब ही वह विशिष्ट शक्ति का संवाहक एवं प्रकट करने वाला बनता है।

मंत्र शब्दात्मक होता है। उसमें अचिंत्यशक्ति होती है। उसके द्वारा आध्यात्मिक उन्नयन होता है। व्यक्ति की चेतना अन्तर्मुखी बन जाती है, जो अध्यात्म का मूल लक्ष्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१. जैन आगमों की व्याख्या को आचार्य महाप्रज्ञ का योगदान

जैनधर्म/दर्शन के आगम आधारभूत ग्रन्थ हैं। वर्तमान में उपलब्ध भगवान महावीर की वाणी, जिसे आगम कहा जाता है, भगवान महावीर के एक हजार वर्ष बाद होने वाले देवर्द्धिगणी क्षमाक्षमण की वाचना है। काल के प्रवाह में आगमों की विशाल ज्ञान-राशि विलुप्त होती रही। आज उस विशाल ज्ञानराशि का थोड़ा-सा भाग हमें उपलब्ध है। जितना भी उपलब्ध है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आगम साहित्य अर्धमागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध है। वह भाषा उस समय की जनभाषा थी किन्तु आज वह भाषा जन सामान्य के लिए सहज ग्राह्य नहीं है। समय के प्रवाह में शब्दों की अर्थयात्रा में भी परिवर्तन आता है। इन सभी कारणों से आगम की सुबोधता में अन्तर आना स्वाभाविक ही है।

गुरुदेवश्री तुलसी ने जैन आगम संपादन का संकल्प स्वीकार किया। उस संकल्प की पूर्णाहूति के पुरोधा पुरुष आचार्य श्री महाप्रज्ञ ही रहे हैं। आचार्य श्री तुलसी के वाचना प्रमुखत्व में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने उस दुर्बोध ज्ञानराशि को बोधगम्य बनाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है और वर्तमान में भी संपादन के उस कार्य में सतत संलग्न है। जैनआगमों के संपादन का कार्य अत्यन्त श्रम-साध्य तो है ही इसके साथ ही वही व्यक्ति उस सत्य ही अतल गहराई में जा सकता है जो अन्तर्दृष्टि सम्पन्न है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ आगम-संपादन की इन सभी अर्हताओं से अभिमण्डित हैं। आगम संपादन के माध्यम से उन्होंने अनेक सत्यों का उद्‌घाटन कर सम-सामायिक चिंतन को एक नयी दिशा प्रदान की।

आगम संपादन की दुरुहता

आगम संपादन की दुरुहता को प्रकट करते हुए स्वयं आचार्यश्री महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने लिखा है—'संपादन का कार्य सरल नहीं है—यह उन्हें सुविदित है जिन्होंने इस दिशा में कोई प्रयत्न किया है। दो-ढाई हजार वर्ष पुराने ग्रंथों के संपादन का कार्य और भी जटिल है, जिनकी भाषा और भावधारा आज की भाषा और भावधारा से बहुत व्यवधान पा चुकी है... भाषा शास्त्र के नियम को जानने वाला यह आग्रह नहीं रख सकता कि दो हजार वर्ष पुराने शब्द का आज वही अर्थ सही है जो आज प्रचलित है। आगम साहित्य के सैकड़ों शब्दों की यही कहानी है कि वे आज अपने मौलिक अर्थ का प्रकाश नहीं दे रहे हैं। इस स्थिति में हर चिंतनशील व्यक्ति यह अनुभव कर सकता है कि प्राचीन साहित्य के संपादन का काम कितना दुरुह है।' इस दुरुहता का अनुभव करते हुये भी आचार्य महाप्रज्ञ ने इस कार्य को संपादित करने का उत्तरदायित्व अपने सबल कंधों पर ओढ़ा।

विलक्षणयुगल

जैन आगम स्मृति के आधार पर सुरक्षित रहे किंतु स्मृति में विस्खलन होना अस्वाभाविक नहीं है। स्मृति के आधार पर उन्हें लिपिबद्ध किया गया। उन लिपिबद्ध प्रतियों के द्वारा लम्बे समय तक व्युत्पन्न, अव्युत्पन्न लेखकों द्वारा उनका पुनः लिपिकरण होता रहा अतः लिपि की स्खलना भी प्रतियों में होती रही, यह सर्वविदित तथ्य है। लिपि-दोष के साथ ही अर्थ-परम्परा भी पूर्णतया सुरक्षित नहीं है ऐसी स्थिति में आगमों की व्याख्या करने का साहस कोई अत्यन्त साहसी एवं प्रज्ञाशील व्यक्ति ही कर सकता है। आचार्यश्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ का योग आगम संपादन की इन सारी अर्हताओं को पूर्ण करता था।

सफल व्याख्याकार

आचार्य महाप्रज्ञ जैन आगमों के पाठ संशोधक, व्याख्याकार एवं भाष्यकार हैं। अपनी मेधा के द्वारा अथवा अतीन्द्रिय क्षमता के द्वारा उन्होंने आगम के अर्थों का पुनःसंधान किया है। अपनी अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्रासंगिकता के आधार पर आगम के अर्थ संपादन में अपनी मौलिक दृष्टि का भरपूर उपयोग किया है। आगम जैसे प्राचीन ग्रन्थों की आधुनिक काल में व्याख्या करते समय व्याख्याकार के सम्मुख तीन बिन्दु रहते हैं—

१. सम्यक् विश्लेषण—आगम जैसे आर्ष ग्रन्थ अनुभव प्रधान हैं, तर्कप्रधान नहीं, अतः यह संभव है कि अनेक स्थलों पर उनमें तार्किक संगति प्रतीत न होती हो, भाष्यकार अपनी तर्कबुद्धि का प्रयोग करके ऐसे स्थलों की संगति भी प्रदर्शित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है तथा प्राचीनकाल में अभिव्यक्त किये गये तथ्यों को इस प्रकार उचित परिप्रेक्ष्य में रखता है कि वे अपने मूल अर्थ को अभिव्यक्त करें और साथ ही आधुनिक पाठक को प्रासंगिक भी प्रतीत हो। प्राचीन भाष्यकारों ने इस कर्म को 'उक्तचिंता' के नाम से अभिहित किया है।

२. सम्यक् संशोधन—आगमों के काल से वर्तमान काल तक की सुदीर्घ अवधि में उन पर अनेक कार्य हुए हैं। वे सभी निर्भ्रान्त हो यह आवश्यक नहीं है। व्याख्याकार का काम ऐसी भ्रान्तियों को दूर करने का भी है। प्राचीन भाषा में इस कार्य को 'दुरुक्त चिंता' कहा जाता है।

३. सम्यक् परिवर्धन—चिंतन एक प्रवाह है। यदि उस प्रवाह में अवरोध आ जाये तो चिंतन मर जाता है। भाष्यकार, विशेषकर भारतीय भाष्यकार भाष्य में दिये गये तथ्यों का केवल अनुवाद ही नहीं करते प्रत्युत अपनी मौलिक सूझबूझ से पुरातन चिंतन को आगे भी बढ़ाते हैं। भाष्यकार के इस कार्य को 'अनुक्तचिंता' कहा जाता है।

हम कतिपय उदाहरणों के द्वारा यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न करेंगे कि जैन आगमों के भाष्यकार के रूप में आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने भाष्यकार के इन तीनों ही दायित्वों का निर्वाह कितने प्रशस्त रूप में किया है।

सम्यक् विश्लेषण

आचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा कृत आगमों की व्याख्या के अवलोकन से ज्ञात होता है कि वे विषय की स्पष्टता के लिए एक ही श्लोक की व्याख्या में प्रसंगानुकूल चार, पांच टिप्पणियों का प्रयोग भी कर देते हैं। शब्द विमर्श के माध्यम से शब्द की अर्थात्मा तक पहुंचते हैं जिससे पाठक को विषय सुस्पष्ट हो जाये। प्रस्तुत प्रसंग में उत्तराध्ययन के निम्न श्लोक की व्याख्या द्रष्टव्य है—

'जाईजरामच्चुभयाभिभूया, बहिर्विहारभिनिविट्ठचित्ता।
संसारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा, दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता॥ उत्तरा. १४/४

प्रस्तुत श्लोक के 'जाईजरामच्चु' बहिर्विहार, संसारचक्कस्स एवं कामगुणे विरत्ता' इन चार शब्दों की मीमांसा की है। इस प्रकार की विमर्शना से श्लोक का हृदय पाठक को बड़ी सुगमता से आत्मसात् हो जाता है। अपने कथ्यों की स्पष्टता के लिए वे चूर्णि, टीका आदि के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों को भी उद्धृत करते हैं। अर्थ विश्लेषण में उनकी तुलनात्मक दृष्टि सहज ही पाठक को आकर्षित करती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारांग के ३/२८ सूत्र की व्याख्या भी विमर्शनीय है। 'तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा, समत्तदंसी ण करेति पावं' प्रस्तुत सूत्र में 'तिविज्जो' पाठ है जिसमें आकार को लुप्त मान 'तम्हाऽतिविज्जो' यह पाठ माना जाता रहा है। चूर्णि एवं टीका यही पाठ मानकर इसका अर्थ करती है। चूर्णिकार ने 'विज्ज' का अर्थ विद्वान् किया और वैकल्पिक रूप से उसका अर्थ अतिविज्ञ किया। टीकाकार प्रस्तुत शब्द का अर्थ 'अतिविद्य' करते हैं। चूर्णि एवं टीका की इस व्याख्या के आधार पर ही 'अतिविज्ज' पाठ मानकर इसका अर्थ होता रहा किंतु आचार्यश्री महाप्रज्ञ की सूक्ष्म मेधा इस अर्थ से संतुष्ट नहीं हो पा रही थी। उन्होंने अन्वेषण किया। तत्कालीन अन्य जैनेतर ग्रंथों का भी अवलोकन किया। बौद्ध साहित्य के निरीक्षण के समय ज्ञात हुआ यह 'तिविज्ज' पाठ है जिसका अर्थ है—त्रिविद्य—तीन विद्याओं को जानने वाला। यह भगवान् महावीर के समय का प्रसिद्ध प्रयोग है। बौद्ध साहित्य में इसकी स्पष्ट व्याख्या उपलब्ध है। बौद्ध परम्परा के अनुसार 'तिविज्ज' का अर्थ इस प्रकार है--

तीन विद्याएं

१. पूर्व जन्मों को जानने का ज्ञान।
२. मृत्यु तथा जन्म को जानने का ज्ञान।
३. चित्तमलों के क्षय का ज्ञान।

बौद्ध साहित्य के प्रस्तुत श्लोक में 'तिविज्ज' शब्द का उल्लेख प्राप्त है--

पुव्वे निवासं यो वेदी, सग्गापायं च पस्सति,
अथो जातिक्खयं पत्तो, अभिञ्ञा वोसितो मुनि।
एताहि तीहि विज्जाहि, तेविज्जो होति ब्राह्मणो,
तं अहं वदामि तेविज्जं नाञ्ञं लपितलापनं ॥
(अंगुत्तरनिकाय भाष्य १ पृ. १७२)

जैन परम्परा के अनुसार 'त्रिविद्य' का अर्थ होगा--
१. पूर्वजन्म की स्मृति।
२. प्राणी जगत् को जानने की विद्या।
३. प्राणियों के सुख-दुःख का पर्यालोचन करने की विद्या।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ यदि चूर्णि और टीका के आधार पर 'अतिविज्जय' पाठ को स्वीकार करके ही उसका अर्थ कर देते तो 'तिविज्ज' की प्राचीन अर्थ-परम्परा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही लुप्त हो जाती। आचार्यश्री के गहन अनुसंधान से ऐसे अनेक शब्दों का प्राचीन अर्थ उपलब्ध हो सका है।

सम्यक् संशोधन

आचार्य महाप्रज्ञ अपने पूर्वाचार्यों के प्रति अत्यन्त विनम्र एवं कृतज्ञभाव से ओतप्रोत हैं फिर भी जहां कहीं भी उन्हें पद एवं अर्थ की असंगतता का बोध हुआ वहां पर अपनी विनम्र असहमति स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त की है, जिसका निदर्शन प्रस्तुत है। कांक्षा-मोहनीय को दर्शन मोहनीय का उपभेद माना जाता है। भगवती सूत्र में एक प्रश्न उपस्थित किया गया कि क्या श्रमण-निर्ग्रन्थ कांक्षा-मोहनीय कर्म का वेदन करते हैं? समाधान दिया गया कि निर्ग्रन्थ भी इस कर्म का वेदन करते हैं। ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर आदि तेरह कारणों का प्रस्तुत प्रसंग में उल्लेख है जिनके कारण श्रमण-निर्ग्रन्थ भी कांक्षा-मोहनीय का वेदन करते हैं। भगवती टीकाकार एवं श्रीमद् जयाचार्य ने प्रस्तुत प्रसंग में कांक्षामोहनीय का अर्थ मिथ्यात्व-मोहनीय किया है किंतु आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने प्रस्तुत प्रसंग में कांक्षा-मोहनीय का सम्बन्ध मोहनीय कर्म से न मानकर ज्ञानावरण से माना है। इस अभिमत का भगवती भाष्य में विस्तार से विवेचन हुआ है। निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा—

'जहां शंका, कांक्षा और विचिकित्सा मूल तत्त्व से सम्बद्ध होते हैं, वहां दर्शनमोह का वेदन होता है और जहां वे अन्य विषयों से सम्बद्ध होते हैं, वहां ज्ञानमोह का वेदन होता है। तेरह अंतरों के प्रसंग में कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन का सम्बन्ध ज्ञानमोह से प्रतीत होता है।' आचार्य महाप्रज्ञ के प्रस्तुत वक्तव्य में तर्क की गम्भीरता के साथ-साथ उनका सत्य के प्रति अनाग्रही दृष्टिकोण भी परिलक्षित हो रहा है। उन्होंने पूर्वाचार्यों कृत व्याख्या को विनम्रता के साथ अस्वीकार करके भी भविष्य के अध्येताओं/अन्वेषकों के लिए इस मत पर विचार करने का मार्ग अवरुद्ध नहीं किया है यह उनकी अनेकान्त दृष्टि का व्यवहार जगत् में निदर्शन है।

सम्यक् परिवर्धन

जड़ और जीव के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या दार्शनिक जगत् में महत्त्वपूर्ण रही है। न केवल भारतीय दर्शन में अपितु पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी इस समस्या पर प्रभूत विचार किया है। आचार्य महाप्रज्ञ ने इस समस्या के समाधान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में एक नवीन आयाम प्रदान किया है। उन्होंने स्वयं कहा है कि 'इस प्रश्न का नया समाधान उपलब्ध है। जीव और पुद्गल दोनों में एक स्नेह नाम का तत्त्व होता है। इस तत्त्व के कारण उन दोनों में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। स्नेह का सम्बन्ध जीव और पुद्गल दोनों से है। जीव में स्नेह है—आश्रव और पुद्गल में स्नेह है—आकर्षित होने की अर्हता। इस उभयात्मक स्नेह के द्वारा परस्पर सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की यह व्याख्या 'अण्णमण्णसिणेह-पडिबद्धा' भगवती के इस वाक्यांश के आधार पर है। यद्यपि इस वाक्यांश की अनेक व्यक्तियों ने व्याख्या की है किंतु यहां तक मात्र आचार्यश्री महाप्रज्ञ पहुंचे हैं। उनकी इस मौलिक व्याख्या ने सम्बन्धवाद की समस्या के समाधान में अभिनव योगदान दिया है।

सूत्रकृतांग सूत्र में आगत 'सहित' शब्द का जैन परम्परा मान्य अर्थ स्वीकार करके भी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने हठयोग परम्परा में स्वीकृत अर्थ को भी महत्ता प्रदान की है। योग ग्रंथों में 'सहित' शब्द का प्रयोग कुम्भक प्राणायाम के अर्थ में हुआ है। आचार्यश्री का मानना है कि '...सहित कुम्भक करनेवाला आत्मस्थ हो जाता है। ...जिस परम्परा में महाप्राण की साधना का उल्लेख प्राप्त है वहां 'सहिए' का कुम्भक अर्थ ही रहा हो—इसमें कोई संदेह नहीं है।' आचार्य महाप्रज्ञजी जैन धर्म की ध्यान-साधना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से अवगत हैं। उन्होंने इस संदर्भ में गम्भीर मंथन किया है तथा उसे अनुभव के स्तर पर भी जीया है तभी तो वे सहित शब्द का कुम्भक अर्थ निःशंक भाव से प्रस्तुत कर देते हैं।

आगमों की व्याख्या में विभिन्न प्रकार के साहित्य का उपयोग

आगमों की व्याख्या में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने वेद, आरण्यक, उपनिषद, गीता, योग के ग्रन्थ, आयुर्वेद के ग्रन्थ, त्रिपिटक आदि बौद्ध साहित्य का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है। पाश्चात्य दर्शन, मनोविज्ञान एवं परामनोविज्ञान के साहित्य का भी आगमों की व्याख्या के संदर्भ में यथोचित प्रयोग हुआ है। कादम्बिनी, धर्मयुग, विज्ञान सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आधुनिक अन्वेषणों का भी यथायोग्य उपयोग आपने अपने ग्रंथों में किया है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ का यह प्रयास उनकी बहुश्रुतता को प्रकट करता है। बाहुश्रुत्य के बिना आगमों की सम्यक् व्याख्या नहीं की जा सकती। अल्पश्रुत व्यक्ति अर्थ के गाम्भीर्य को प्रस्तुत करने में सक्षम नहीं होता है। एक विषय का ज्ञान तभी परिपुष्ट होता है जब उसके धारक को अन्य विषयों का भी ज्ञान हो। 'शास्त्रं शास्त्रानुबन्धि' ज्ञान की एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शाखा दूसरी शाखा से जुड़ी रहती है। हम उसको अलग करके नहीं देख सकते। यदि कोई वेद का ज्ञाता है तो उसे इतिहास, पुराण आदि का भी ज्ञान होना चाहिये। वेद का अर्थ उनसे ही सम्यक् रूप से समर्थित हो सकता है। कहा जाता है कि—वेद अल्पश्रुत व्यक्ति से भयभीत रहता है क्योंकि वह उसके यथार्थ को प्रकट कर ही नहीं सकता, अपितु उसकी मूल अवधारणा को भी तोड़-मरोड़ के प्रस्तुत कर देता है।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपवृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

इसलिए भाष्यकार का बहुश्रुत होना अत्यन्त अपेक्षित है अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो सकता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अनेक प्रकार के अनेक ग्रंथों का तलस्पर्शी स्वाध्याय किया है, इसलिए उनका ज्ञान सतही नहीं, गहरा है। आगम की पुष्टि में अनेक ग्रंथों का वे उद्धरण देते हैं। इससे उनकी बहुश्रुतता प्रकट होती है।

वैदिक साहित्य का प्रयोग

आचारांग के 'जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो' २/१२९ सूत्र का अर्थ—'यह शरीर जैसा भीतर है वैसा बाहर है, जैसा बाहर है वैसा भीतर है' यह अर्थ आचार्यश्री ने किया किन्तु उन्हें स्वयं को इस अर्थ से संतुष्टि नहीं हुई तब पादटिप्पण में इसका वैकल्पिक अनुवाद करके अपने मन्तव्य को परिपुष्ट किया—'साधक जैसा अन्तस् में वैसा बाहर में, जैसा बाहर में वैसा अंतस् में रहे।' कुछ दार्शनिक अन्तस् की शुद्धि पर बल देते थे और कुछ बाहर की शुद्धि पर। भगवान महावीर एकांगी दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने दोनों को एक साथ देखा और कहा—केवल अंतस् की शुद्धि ही पर्याप्त नहीं है। बाहरी व्यवहार भी शुद्ध होना चाहिये। वह अंतस् का प्रतिफल है। केवल बाहरी व्यवहार का शुद्ध होना ही पर्याप्त नहीं है अंतस् की शुद्धि के बिना वह कोरा दमन बन जाता है, इसलिए अंतस् भी शुद्ध होना चाहिये। अंतस् और बाहर दोनों की शुद्धि ही धार्मिक जीवन की पूर्णता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने आचारांग के उपर्युक्त वक्तव्य की तुलना 'यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम्' २/३० अथर्ववेद के इस सूक्त से की है, जो प्रस्तुत संदर्भ में समीचीन है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने विषय-वस्तु की स्पष्टता के लिए जैनेतर ग्रन्थों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रचुरमात्रा में उपयोग किया है। उत्तराध्ययन के 'ईषुकारीय' अध्ययन में प्रासंगिक रूप में ब्राह्मण धर्म का उल्लेख हुआ है। आचार्यश्री ने उस ब्राह्मण धर्म के संक्षिप्त उल्लेख का विशद वर्णन उस परम्परा के मान्य ग्रंथों द्वारा किया है। स्मृति आदि ग्रंथों का प्रमाण देते हुए ब्राह्मण धर्म को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं—'ब्राह्मण और स्मृतिशास्त्र का यह अभिमत रहा है कि जो द्विज वेद को पढ़े बिना, पुत्रों को उत्पन्न किये बिना और यज्ञ किये बिना मोक्ष की इच्छा करता है, वह नरक में जाता है, इसलिए वह विधिवत् वेदों को पढ़कर, पुत्रों को उत्पन्न कर और यज्ञ कर मोक्ष में मन लगाए—संन्यासी बने।' ऐतरेय ब्राह्मण को इस प्रसंग में उपस्थित करते हैं—नापुत्रस्य लोकोऽस्ति (७/३) मनुस्मृति के (६/३६३७) वक्तव्य से भी इस अवधारणा को पुष्ट करते हैं। किसी परम्परा की अवधारणा प्रस्तुति में वे निष्पक्ष रहते हैं, भले सिद्धान्ततः उस अवधरणा से वे सहमत हो या नहीं जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है।

आयुर्वेद साहित्य का उपयोग

आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने आगमों की व्याख्या में आयुर्वेद साहित्य का भी प्रचुरमात्रा में उपयोग किया है और इस प्रक्रिया से आगमों के अनेक दुर्बोध स्थलों को सुबोधता एवं सुसंगतता प्रदान की है। काल-प्रवाह में जिन शब्दों के अर्थ विस्मृत हो गये थे। टीका एवं चूर्णि से भी प्रासंगिक अर्थ प्राप्त नहीं हो रहा था, ऐसे अज्ञात शब्दों के अर्थ इस प्रक्रिया से प्राप्त हुये। ऐसे शब्द अनेक होंगे, सबका कथन यहां सम्भव नहीं है, एक उदाहरण प्रस्तुत है—भगवती सूत्र में गर्भप्रकरण के अन्तर्गत एक प्रसंग आता है कि गर्भगत जीव मुख से कवल आहार करने में सक्षम नहीं होते किंतु 'अपरा' जो पुत्रजीव से प्रतिबद्ध और मातृजीव से स्पृष्ट होती है, उससे गर्भगत जीव चय और उपचय करता है। (भ. १/३४६) प्रस्तुत प्रसंग में 'अपरा' का अर्थ स्पष्ट नहीं था। पं. बेचरदासजी ने 'अपरा' का अर्थ 'दूसरी' किया जो प्रस्तुत प्रसंग में समीचीन नहीं है। आचार्य महाप्रज्ञ ने चरक संहिता में आगत गर्भप्रकरण से इसका अर्थ स्पष्ट किया है। वहां भी अपरा शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसको विज्ञान की भाषा में Placenta कहते हैं। 'अपरा' पारिभाषिक शब्द है।

दशवैकालिक सूत्र में आगत 'धूम-नेत्र' शब्द की व्याख्या में भी उसके टीकाकार अभ्रान्त नहीं थे। वे इसके विभिन्न अर्थ कर रहे थे। आचार्यश्री ने आयुर्वेद के ग्रंथों के सहारे इस शब्द का समीचीन अन्वेषण किया। आचार्यश्री ने विभिन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयों के, विभिन्न ग्रंथों के आधार पर प्रासंगिक अर्थ खोजकर आगम व्याख्या को एक नयी दिशा प्रदान की है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ का हर वक्तव्य साधार होता है। 'नामूलं लिख्यते किञ्चित् नानपेक्षितमुच्यते' यह वाक्य उनकी शोध/खोज का आदर्श है। प्राचीन सिद्धान्तों को तर्क संगत एवं आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने की अद्वितीय क्षमता उनमें है। इसलिए वे मौलिक लिख/बोल सकते हैं। आचार्य महाप्रज्ञ के संदेशों, वक्तव्यों में बोधगम्यता है। तार्किक भूख को शान्त करने की क्षमता है। अनुभव के निर्झर से निसृत भावों को तर्क की वेदी पर प्रतिष्ठित कर उन्होंने जनभोग्य सत्य परोसा है। 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः' ऋषित्व की यह अभिधा उनके हर आचार एवं व्यवहार में परिलक्षित है। जैन आगमों की व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में उनके योगदान का मूल्यांकन कोरा वार्तमानिक नहीं है किंतु त्रैकालिक है। अतीत के आलोक से युक्त वर्तमान का अवदान भविष्य के अन्वेषण को नयी दशा एवं दिशा देने में सक्षम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२. जैन परम्परा में आर्य की अवधारणा

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में आर्यपरम्परा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। भाषा और सभ्यता का अनुसंधान करनेवालों की यह अवधारणा रही है कि पुराकाल में आर्यजाति किसी एक स्थान में निवास करती थी, तत्पश्चात् कतिपय कारणों से वह एशिया और योरोप में फैल गयी। अन्वेषकों का यह भी मन्तव्य है कि आर्यजाति की एक शाखा ने भारत वर्ष में प्रवेश करके एक नये समाज की संरचना की। आर्यों के भारत आगमन, उनके मूल स्थान आदि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है।

सर्वप्रथम Florentine के एक व्यापारी Filippo Sassetti (1583-1588) (फिलिपो ससेटी) ने संस्कृत एवं योरोप की प्रमुख भाषाओं में पारस्परिक सम्बन्ध की बात कही। उसके बाद सर विलियम जोन्स ने ग्रीक, लेटिन, गोथीक, सेल्टिक, संस्कृत, परसीयन आदि भाषाओं का उद्गम स्थान एक माना है। उन भाषाओं को आज विद्वान् Indo-European भाषा के रूप में जानते हैं। इसके बाद इस तथ्य को अन्तिम चरण तक पहुंचाते हुये मैक्समूलर ने भाषा साम्य के आधार पर ही आर्य की अवधारणा प्रस्तुत की। उनके अनुसार आर्य कोई जाति नहीं थी किंतु एक विशेष प्रकार की भाषा बोलने वालों को ही आर्य कहा जाता था।

मैक्समूलर ने कहा–

Aryan, in scientific language is utterly inapplicable to race. It means language is and nothing but language; and if we speak or Aryan race at all, we should know that it means no more than X+Aryan speech".[1]

मैक्समूलर के विपरीत Penka (पेंका) ने आर्य को जाति रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार आर्य एक जाति थी तथा जो कोई मनुष्य का समूह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, वह कोई-न-कोई भाषा बोलता है। भाषा का जाति के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

Penka who declared language to be "the organic product of an organism subject to organic laws."[2]

आर्यों के मूल निवास के बारे में तीन अवधारणाएं उपलब्ध हैं। कुछ आर्यों को मध्य एशिया, कुछ योरोप एवं कुछ उन्हें भारतीय ही मानते हैं।

मध्य एशिया

मैक्समूलर ने भाषा साम्य के आधार पर आर्यों का मूल निवास-स्थान ईरान को सिद्ध किया है। उन्होंने ईरान में प्राप्त शिलालेखों पर उत्कीर्ण हिन्दु देवों के नामों के आधार पर उन्हें 'ईरान' का सिद्ध किया है।

एडवर्ड मेयर ने आर्यों को पामीर देश का निवासी स्वीकार किया है किन्तु पी. गाइल्स ने इस मत को अस्वीकार किया है। ऐसे ही अन्य कई विद्वान् हैं जो आर्यों को मध्य एशिया का स्वीकार करते हैं।

योरोप

पी. गाइल्स ने हंगरी को आर्यों का मूल स्थान माना है। जर्मन विद्वान पेंका ने आर्यों का उद्गम स्थान जर्मनी के कुछ भाग को एवं स्कैंडिनेविया को माना है।

भारतीय

भारतीय सिद्धान्त के प्रतिपादक इतिहासकार भारत को ही आर्यों का मूल देश मानते हैं। डी. ए. त्रिवेदी, एल. डी. कल्ला आदि इस सिद्धान्त के पुरोधा माने जाते हैं। उन्होंने अपनी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वेदों में कहीं भी संकेत प्राप्त नहीं होता कि आर्य भारत से बाहर के थे अथवा वे कहीं दूसरे स्थान से भारत में आये थे।

मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारत विशाल देश है। यहां का एक भी व्यक्ति मूलतः विदेशी वंशोत्पन्न नहीं है।[3] यदि आर्य बाहर से आये होते तो मेगस्थनीज अवश्य ही इसका कहीं-न-कहीं उल्लेख करते।

जैन आगमों में तथा अन्य जैन साहित्य में आर्य के संदर्भ में विचार हुआ है। क्षेत्रार्य के वर्णन के प्रसंग में वहां साढ़े पच्चीस देशों में उत्पन्न मनुष्यों को आर्य कहा है।[4] जिन साढ़े पच्चीस स्थानों का आर्य के प्रसंग में प्रज्ञापना में उल्लेख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है उनमें से एक स्थान भी भारत से बाहर नहीं है। प्रज्ञापना का यह उल्लेख स्पष्ट रूप से आर्यों के भारतीय होने का संकेत दे रहा है। प्रज्ञापना में उपलब्ध साढ़े पच्चीस आर्य देशों की सूची उत्तर भारत के प्रदेशों की सूची है। ऋग्वेद संहिता में भी आर्यों की राज्य सीमा में प्रायः उत्तर भारत के देश ही सम्मिलित है। अतः प्रज्ञापना का यह प्रसंग प्रस्तुत संदर्भ में विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

तत्त्वार्थभाष्य में पन्द्रह कर्म भूमी में उत्पन्न व्यक्तियों को तथा चक्रवर्ती के द्वारा विजित स्थानों में उत्पन्न व्यक्तियों को आर्य कहा है। इसके साथ ही भरत क्षेत्र के साढ़े पच्चीस देशों में उत्पन्न मनुष्यों को भी आर्य कहा है।[४] इस संदर्भ में यह विमर्शनीय है कि भरतक्षेत्र भी पन्द्रह कर्मभूमिओं में समाहित है फिर भाष्य में इसका पृथक् उल्लेख क्यों किया गया? पन्द्रह कर्मभूमिओं का उल्लेख जैन भूगोल में हुआ है किंतु वे आज कहां पर हैं, यह ज्ञात नहीं है किंतु जिन पच्चीस आर्य देशों का उल्लेख है, वे उत्तर भारत में हैं अतः इस वर्णन से भी 'आर्यों' का भारतीय होना सिद्ध होता है।

जैन परम्परा में आर्य-अनार्य क्षेत्रों की व्यवस्था के कई मानक उपलब्ध हैं। प्रज्ञापना के अनुसार इन साढ़े पच्चीस देशों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव की उत्पत्ति होती है अतः ये जनपद आर्य हैं।[५] प्रवचनसारोद्धार में भी जिन क्षेत्रों में तीर्थंकरों की उत्पत्ति होती है उन्हें आर्य एवं शेष को अनार्य कहा गया है।[६] आवश्यकचूर्णि में आर्य और अनार्य की व्यवस्था भिन्न प्रकार से उपलब्ध है। चूर्णि के अनुसार जिन प्रदेशों में यौगलिक रहते थे, जहां 'हाकार' आदि नीतियों का प्रवर्तन हुआ था, वे प्रदेश आर्य और शेष अनार्य हैं।[७] इसके अनुसार आर्य जनपदों की सीमा बहुत बढ़ जाती है।

जैन साहित्य में आर्य-अनार्य का भेद विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया गया है। वहां पर आर्य एवं अनार्य की अवधारणा मात्र जाति पर ही आधारित नहीं है अपितु भाषा, ऋद्धि, क्षेत्र, शिल्प, कर्म, ज्ञान आदि उसके अनेक हेतु माने गये हैं। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि जैन परम्परा में आर्य एवं अनार्य की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा मुख्यतः गुणात्मक आधार पर प्रस्तुत की गयी है।

प्रज्ञापना की टीका में कहा गया जो हेय धर्मों से दूर रहते हैं तथा उपादेय धर्मों को प्राप्त करते हैं वे आर्य हैं।[८] तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी में क्षेत्र, जाति, शिल्प, कर्म आदि से युक्त शिष्टलोकन्यायधर्म आदि से सम्मत आचरण से युक्त को आर्य कहा गया है।[९] प्रज्ञापना में अनार्य के स्थान पर म्लेच्छ शब्द का प्रयोग हुआ है। अनार्य, म्लेच्छ ये परस्पर पर्यायवाची शब्द हैं। अव्यक्त भाषा को बोलने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वालों को अनार्य कहा जाता था। भाषा के आधार पर अनार्य को परिभाषित किया है यह तथ्य आधुनिक आर्य समस्या के संदर्भ में विशेष मननीय है। मैक्समूलर ने भाषा के आधार पर आर्य की अवधारणा को स्पष्ट किया है, वैसे ही प्रज्ञापना की टीका में अव्यक्तभाषा बोलने वाले को अनार्य कहा गया है।[११] इसका तात्पर्य यही परिलक्षित होता है कि जो लोग एक विशेष प्रकार की स्पष्ट भाषा बोलते थे वे आर्य थे जो उस भाषा का प्रयोग नहीं करते थे वे अनार्य थे। यद्यपि उस टीका में भाषा ग्रहण के उपलक्षण से अन्य शिष्ट जन असम्मत व्यवहारों का संयोजन अनार्य के साथ हुआ है।[१२] किंतु यह तो स्पष्ट ही है कि यहां पर आर्य-अनार्य के विभाग का मुख्य हेतु भाषा ही है।

भारतवर्ष के प्रायः सभी विशिष्ट धर्म सम्प्रदायों ने विभिन्न मान्यताओं, अवधारणाओं के मानकों से आर्य शब्द का मूल्यांकन किया है। आर्य शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में एक जाति अथवा एक विशेष प्रकार की भाषा बोलने वालों के लिए होता था किंतु बाद में वह अपने संकुचित अर्थ को छोड़कर एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

आर्य शब्द सबसे पहले ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होता है, जहां वह अपने को आदिवासी जातिओं से पृथक् करता है।[१३] समय के प्रवाह के साथ आर्य शब्द शक्तिशाली बनता गया। किसी का आर्य होना सम्मानजनक माना जाता था। जो व्यक्ति आर्यों के धर्म, जाति, भाषा आदि से सम्बद्ध होता था उसको आर्य कहा जाता था। तत्पश्चात् आर्य शब्द श्रेष्ठ एवं अनार्य अश्रेष्ठ अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। श्रेष्ठ अर्थ में आर्य शब्द का प्रयोग विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में हुआ है। बौद्ध दर्शन ने अपने मूल सिद्धान्तों को चार आर्य सत्य के रूप में स्वीकृत किया है। जैन परम्परा के आगम तथा आगमेतर साहित्य में श्रेष्ठ अर्थ में आर्य शब्द का प्रयोग बहुलता से हुआ है।

जैनों के सबसे प्राचीन माने जाने वाले आचारांग सूत्र में तीर्थंकरों के लिए आर्य शब्द का प्रयोग हुआ है। 'यह मार्ग आर्यो (तीर्थंकरों) के द्वारा प्रज्ञप्त है।'[१४] आचारांग की रचना के समय आर्य श्रेष्ठता एवं अनार्य अश्रेष्ठता का वाचक बन चुका था। हिंसा का प्रतिपादन करने वालों को अनार्य कहा गया है। आर्यों को अहिंसा धर्म का प्रवक्ता कहा है।[१५] आचारांग के भाष्यकार ने इसके तात्पर्यार्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो अहिंसा धर्म को नहीं जानता वह अनार्य है। इसका प्रतिपक्षी है आर्य अर्थात् जो अहिंसा धर्म को जानता है वह आर्य है।[१६] आचारांग में नौ बार आर्य शब्द का प्रयोग हुआ है।[१७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग में आर्य शब्द श्रेष्ठ अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस आगम में मोक्षमार्ग के लिए आर्यमार्ग शब्द का प्रयोग हुआ है।[15] इस सूत्र की व्याख्या में जैनेन्द्र शासन में प्रतिपादित मोक्ष मार्ग को आर्यमार्ग कहा गया है।[16] धर्म के क्षेत्र में मिथ्यादृष्टि को हीन माना जाता है अतः इस आगम में मिथ्यादृष्टि के लिए अनार्य शब्द का प्रयोग हुआ है।[17]

सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में आर्य एवं अनार्य के मध्य एक भेदरेखा खिंची है और उनके शारीरिक एवं मानसिक विकास का तारतम्य बतलाया है। यह तारतम्य अनुपात के आधार पर है। आनुपातिक दृष्टि से आर्य उच्च गोत्री, लम्बे, गौरवर्ण तथा सुन्दर आकृतिवाले होते हैं। अनार्य नीच गोत्री, नाटे, कृष्णवर्ण एवं असुन्दर आकृति वाले होते हैं।[18]

भौम, उत्पात, लक्षण आदि नाना प्रकार के पापश्रुत अध्ययन हैं, जो व्यक्ति इन विद्याओं का दूसरे के लिए प्रयोग करता है वह अनार्य है तथा वह सघन अंधकार की तरफ प्रस्थान करता है।[19] प्रस्तुत विवेचन से ज्ञात होता है कि जो भी व्यक्ति गलत कार्य करता है भले ही वह किसी देश विशेष का हो, किसी भी भाषा को बोलने वाला हो वह अनार्य है तथा उसका आगामी जीवन भी अच्छा नहीं होता है।

आर्य एवं अनार्य (म्लेच्छ) की विस्तृत चर्चा हमें प्रज्ञापना सूत्र में प्राप्त होती है। जहां अनार्यों का स्थान विशेष की अपेक्षा से नामोल्लेख मात्र है किंतु आर्यों का वर्णन विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया गया है।

जैन परम्परा के अनुसार पांच भरत, पांच ऐरवत एवं पांच महाविदेह ये पन्द्रह कर्मभूमियां हैं। कर्मभूमिज मनुष्य कार्यशील होकर अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं। उन कर्मभूमिज मनुष्य के आर्य और म्लेच्छ के भेद से दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं।[20] तत्वार्थसूत्र में भी मनुष्य के आर्य एवं म्लेच्छ ये दो भेद प्राप्त हैं।[21] प्रज्ञापना में ऋद्धिप्राप्त एवं ऋद्धिरहित आर्य के ये दो भेद प्रज्ञप्त हैं तथा ऋद्धि प्राप्त छह प्रकार के तथा ऋद्धि रहित आर्य वहां नौ प्रकार के प्रज्ञप्त हैं। तत्वार्थभाष्य में ऋद्धिप्राप्त एवं ऋद्धिरहित ये भेद नहीं है। वहां आर्यों के छह भेद किये गये हैं जो प्रज्ञापना में प्रदत्त ऋद्धिरहित आर्यों के भेदों से तुलनीय हैं। प्रज्ञापना में ऋद्धिरहित आर्यों के नौ प्रकार बताये गये हैं जबकि तत्वार्थ में आर्य छह प्रकार के ही प्रज्ञप्त हैं। वहां ज्ञानार्य, दर्शनार्य एवं चारित्रार्य का उल्लेख नहीं है तथा तत्वार्थभाष्य में पन्द्रह कर्मभूमि में उत्पन्न सभी मनुष्यों को क्षेत्रार्य कहा है जबकि प्रज्ञापना के अनुसार कर्मभूमिज मनुष्य दोनों प्रकार के होते हैं। तत्वार्थभाष्य में तीस अकर्मभूमि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के मनुष्य किंरूप है इसका उल्लेख उपलब्ध नहीं किंतु अन्तर्द्वीपज मनुष्यों को म्लेच्छ ही माना गया है। प्रज्ञापना में अकर्मभूमि एवं अन्तर्द्वीपज दोनों के ही सम्बन्ध में उल्लेख प्राप्त नहीं है।

प्रज्ञापना में चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव का परिगणन ऋद्धिप्राप्त आर्य के रूप में किया गया। तत्वार्थभाष्य इनका परिगणन कुलार्य में करता है। कुलकर, कुलकरों के वंश में उत्पन्न तथा जो विशुद्ध वंश एवं प्रकृति को धारण करने वाले हैं वे भाष्य के अनुसार कुलार्य हैं। प्रज्ञापना में कुलकर आदि का वर्णन आर्य के प्रसंग में नहीं है। प्रज्ञापना में उग्र, भोज, राजन्य आदि कुलार्य के भेद हैं, भाष्य उनको जात्यार्य के रूप में उल्लेखित करता है। प्रज्ञापना वर्णित जात्यार्य के विदेह, हरय एवं अम्बष्ठ ये तीन भेद भाष्य में वर्णित है, अन्य जातियों का उल्लेख नहीं है किंतु वुंवु, नाल आदि नये नाम जात्यार्य के प्रसंग में उपलब्ध है। प्रज्ञापना, जात्यार्य छह प्रकार के माने गये हैं जबकि भाष्य में उनकी संख्या निर्धारित नहीं है। प्रज्ञापना में उस समय की प्रचलित छह धनाढ्य जातियों को ही जात्यार्य कहा है जबकि भाष्य में ऐसा कोई संकेत नहीं है। कर्मार्य की अवधारणा भी दोनों ग्रंथों में भिन्न प्रकार की है। प्रज्ञापना के अनुसार जो अर्धमागधी भाषा बोलने वाले तथा ब्राह्मी लिपि में लिखने वाले हैं वे भाषार्य हैं। तत्वार्थ भाष्य ने शिष्ट जनों की भाषा के नियत वर्ण, लोक प्रसिद्ध, स्पष्ट शब्दों एवं पांच प्रकार के आर्य जिस भाषा को बोलते हैं, उस भाषा का संव्यवहार करने वाले को भाषार्य कहा है।

सर्वार्थसिद्धि में ऋद्धिप्राप्त एवं ऋद्धिरहित दोनों प्रकार के आर्यों का उल्लेख है।[२] प्रज्ञापना में ऋद्धिप्राप्त आर्य छह प्रकार के माने गये हैं, सर्वार्थसिद्धि में वे सात प्रकार के माने गये तथा उनके नाम भी प्रज्ञापना से सर्वथा भिन्न है। प्रज्ञापना में अरहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, चारण एवं विद्याधर को ऋद्धिप्राप्त आर्य कहा है जबकि सर्वार्थ सिद्धि में बुद्धि, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और अक्षीण को ऋद्धिप्राप्त आर्य कहा है। प्रज्ञापना में ऋद्धिरहित आर्य नौ प्रकार के माने गये हैं, सर्वार्थसिद्धि में उनकी संख्या पांच है। ज्ञानार्य, कुलार्य एवं शिल्पार्य का उल्लेख सवार्थसिद्धि में नहीं है।

प्रज्ञापना में कर्मभूमिज के आर्य एवं म्लेच्छ दो भेद हैं। वहां अन्तर्द्वीपज मनुष्यों का इस प्रकार का कोई विभाग नहीं है। सर्वार्थसिद्धि में आर्यों के भेद में क्षेत्रार्य का तो उल्लेख है किंतु उनका स्थान कौन-सा है, इसका उल्लेख प्राप्त नहीं है जबकि म्लेच्छ मनुष्यों को अन्तर्द्वीपज एवं कर्मभूमिज के भेद से दो प्रकार का स्वीकार किया है। सर्वार्थसिद्धिकार का यह अभिमत जान पड़ता है कि उन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर्द्वीपज मनुष्यों को म्लेच्छ ही माना है तथा कर्मभूमिज दोनों प्रकार के हैं।[२५] अकर्मभूमि के मनुष्यों के बारे में उल्लेख नहीं है। प्रज्ञापना में ऋद्धिरहित आर्यों का विस्तारपूर्वक कथन है, सर्वार्थसिद्धि में उनका नामोल्लेख मात्र है।

अन्तर्द्वीपज मनुष्यों में जाति, कुल आदि की व्यवस्था नहीं होती है तथा वहां के लोग कर्म, शिल्प आदि का प्रयोग भी नहीं करते हैं क्योंकि वहां पर असि, मसि एवं कृषि से आजीविका नहीं होती है, कल्पवृक्षों के माध्यम से ही वे लोग अपना जीवनयापन करते हैं। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना का भी भोगभूमि होने के कारण अवकाश नहीं है। आर्य की अवधारणा में कर्म, शिल्प, जाति, कुल आदि ही मुख्य हेतु बनते हैं। अन्तर्द्वीपों में इनका अभाव है अतः संभव है इसी हेतु से ग्रंथकारों ने अन्तर्द्वीपज मनुष्यों को म्लेच्छ ही माना है।

प्रज्ञापना एवं सर्वार्थसिद्धि की तरह ही तत्वार्थवार्तिक में भी ऋद्धिप्राप्त एवं ऋद्धिरहित—ये दो आर्यों के भेद हैं। आर्यों के भेदों के संदर्भ में वार्तिककार ने पूज्यपाद का अनुगमन किया है। यद्यपि ऋद्धिप्राप्त आर्यों के सर्वार्थसिद्धि ने सात भेद किये हैं जबकि वार्तिक में उनके आठ भेद किये गये हैं।[२६] वार्तिक में क्रिया नाम के आर्य का अधिक कथन है तथा सर्वार्थसिद्धि में आगत अक्षीण के स्थान पर यहां क्षेत्र शब्द का प्रयोग हुआ है। वार्तिक में क्षेत्रर्द्धि आर्य के विवेचन में अक्षीण महानस एवं अक्षीण महालय का ही विवेचन है। इससे प्रतीत होता है कि सर्वार्थसिद्धि में प्रयुक्त अक्षीण शब्द का प्रयोग अधिक संगत है क्योंकि क्षेत्रर्द्धि में क्षेत्र से सम्बन्धित चर्चा नहीं है। उसका उल्लेख तो क्षेत्रार्य में ही हो गया है।

तत्वार्थवार्तिक में कुलार्य का समावेश जात्यार्य में ही किया गया है। प्रज्ञापना में कर्मार्य एवं शिल्पार्य का पृथक्-पृथक् निर्देश है जबकि वार्तिक में कर्मार्य का ही उल्लेख है। तत्वार्थवार्तिक के अनुसार कर्मार्य तीन प्रकार के होते हैं—१. सावद्य कर्मार्य, २. अल्पसावद्य कर्मार्य एवं ३. असावद्य कर्मार्य।

असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वणिक् कर्म करने वाले सावद्य कर्मार्य हैं। श्रावक और श्राविकाएं अल्प सावद्य कर्मार्य हैं। संयमी मुनि असावद्य कर्मार्य हैं।[२७] इस ग्रन्थ में सावद्य कर्मों का तो उल्लेख हुआ है किन्तु अल्प सावद्य कर्म कौन-से हैं? उनका उल्लेख नहीं है। साधु की सारी चर्या निरवद्य होती है अतः उन्हें असावद्य कर्मार्य कह दिया गया है किंतु श्रावक तो अपने जीवन निर्वाह के लिए व्यापार आदि करते हैं तथा जिनका सावद्यकर्म के रूप में वर्णन हैं वे ही आजीविका के प्रचलित साधन थे तब उनका ही प्रयोग करने वाले श्रावक अल्प सावद्य कर्मार्य कैसे हुए? संभव ऐसा लगता है कि आजीविका के साधन तो वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही थे जिनका उल्लेख सावद्य कर्म के अन्तर्गत हुआ है किंतु श्रावक संयमासंयमी होते हैं अतः इन कार्यों को करते हुए भी विवेक से कम-से-कम हिंसा करते होंगे अतः उनके अल्प सावद्य कर्मार्य कहा गया है। वार्तिक इसी अवधारणा को सम्पुष्ट करता है।[२९] प्रज्ञापना में कर्मार्य अनेक प्रकार के प्रज्ञप्त हैं। जो वस्त्र, सूत्र (धागा) कपास, बंजारा और मिट्टी के बर्तन आदि का व्यापार करते हैं वे कर्मार्य हैं।[३०] तुन्नवाय, तन्तुवाय आदि को प्रज्ञापना में शिल्पार्य कहा गया है।[३१]

सम्यक्ज्ञानी, सम्यक्दर्शनी और सम्यक्चारित्री को क्रमशः प्रज्ञापना आदि ग्रंथों में ज्ञानार्य, दर्शनार्य एवं चारित्रार्य कहा गया है। ज्ञानार्य का उल्लेख मात्र प्रज्ञापना में है।

प्रस्तुत ग्रंथों में आर्य की अवधारणा का विवेचन सापेक्ष दृष्टि से ही हुआ है। ज्ञानार्य, दर्शनार्य एवं चारित्रार्य इन तीन पदों का सम्बन्ध धार्मिक जगत् से है। जिन्हें सम्यक् दर्शन आदि रूप रत्नत्रयी प्राप्त हैं वे आर्य हैं जिन्हें यह रत्नत्रयी प्राप्त नहीं है वे सब अनार्य हैं, भले फिर वे किसी भी क्षेत्र, जाति या कुल में जन्मे हों, कौन-सा भी कार्य करते हों और किसी भी भाषा को बोलते हों। आर्यों के शेष विभाग भौगोलिकता, आजीविका, जाति और भाषा के आधार पर किये गये हैं। तीर्थंकर आदि की उत्पत्ति के कारण साढ़े पच्चीस क्षेत्रों को जैनाचार्यों ने आर्य क्षेत्र कहा है तथा इन प्रदेशों में श्रमण परम्परा या जैनधर्म का व्यापक वर्चस्व रहा, इसीलिए भी सम्भव है इन्हें आर्य जनपद कहा गया है।

अम्बष्ठ आदि उस समय की धनाढ्य जातियां थीं इसलिए इन्हें आर्य कहा गया है। उग्र, भोग आदि कुल आदिनाथ ऋषभ के समय में स्थापित हुए थे इसलिए प्रधानतया उन्हीं को आर्य कहा गया है।[३२]

ऋग्वेद में आर्य और आर्येतर ये दो विभाग मिलते हैं। अनार्य जातियों में अनेक सम्पन्न जातियां थीं। उनकी अपनी सभ्यता और संस्कृति थी। अपनी सम्पदा और धार्मिक मान्यताएं थीं।[३३] जब वे आर्यों से मिले तब उनमें परस्पर बहुत भेद था। क्रमशः वे परस्पर घुल-मिल गये। आर्य विजेता बने इसलिए वे अपने को श्रेष्ठ मानते थे तथा आर्येतर जातियां पराजित हुई इसलिए उन्हें हीन माना जाने लगा। कालान्तर में आर्य-अनार्य का जातिगत अर्थ अपने संकुचित अर्थ को छोड़कर क्रमशः श्रेष्ठ एवं अश्रेष्ठ अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। जैन परम्परा में आर्य-अनार्य शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से श्रेष्ठ एवं अश्रेष्ठ अर्थ में ही हुआ है।

प्रज्ञापना में वर्णित आर्य विमर्श के द्वारा हमें तात्कालिक समाज व्यवस्था एवं आजीविका के मुख्य संसाधनों का भी अवबोध प्राप्त होता है। प्रज्ञापना के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय में वर्ण व्यवस्था का प्रचलन नहीं था अथवा प्रज्ञापना उस वर्ण व्यवस्था को स्वीकार नहीं करती है, जो व्यवस्था समाज में विघटन को बढ़ावा देती है। नापित, जुलाहा, बढ़ई आदि का समावेश वर्णव्यवस्था में शुद्रवर्ण में होता है जिसको समाज में हेय समझा जाता था। प्रज्ञापनाकार ने उन व्यक्तियों को उनके शिल्प के आधार पर आर्य श्रेणी में प्रस्थापित करके सामाजिक जागरूकता का परिचय दिया है। कुलार्य एवं जात्यार्य के उल्लेख से यह भी ज्ञात होता है कि प्रज्ञापनाकार उस समय की प्रचलित व्यवस्था को पूर्णतया अस्वीकृत नहीं करते हैं अतः उस समय की धनाढ्य जातियों तथा श्रेष्ठ समझे जाने वाले कुलों का जात्यार्य एवं कुलार्य में समावेश करके उन्होंने सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

अरिहंत, चक्रवर्ती आदि का ऋद्धिसम्पन्न आर्य में परिगणन करके ऐतिहासिक यथार्थ को गौरव प्रदान किया है। समाज का विकास कोरा लौकिक व्यवस्थाओं एवं आजीविका के संसाधनों से ही नहीं होता है, उसके विकास का हेतु अध्यात्म दर्शन भी बनता है। व्यक्ति में अनादिकाल से अपने आपको जानने की, जगत् के रहस्यों को उद्घाटित करने की इच्छा रही है। उस सत्य को उपलब्ध करने के लिए कुछ लोगों ने घर, परिवार, समाज का भी त्याग कर दिया। सामाजिक लोग उन्हें हेय दृष्टि से न देखे। उनका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, बल्कि यों कहना चाहिये वही जीवन का सर्वोच्च एवं वास्तविक लक्ष्य है। प्रज्ञापनाकार ने ज्ञानार्य, दर्शनार्य एवं चारित्रार्य का उल्लेख करके अध्यात्म एवं समाज में संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

प्रज्ञापनावर्णित आर्य विचार से समाज से लेकर यथाख्यातचारित्र युक्त केवली का निरूपण हो जाता है। सिद्धों का समावेश इसमें नहीं हो सकता क्योंकि सिद्ध शुद्ध आत्मा है तथा आर्य एवं अनार्य ये दो भेद मनुष्य के हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, उत्तराध्ययन, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, प्रश्नव्याकरण, तत्वार्थसूत्र एवं उसके व्याख्या ग्रंथों में आर्य एवं अनार्य सम्बन्धित जैन मान्यता का वर्णन उपलब्ध है।

संदर्भ

१. The Vedic age p. 205
२. Ibid p. 205
३. मेगस्थनीज, एंशियण्ट इंडिया, पृ. ३४
४. प्रज्ञापना १/९३ खेत्तारिया अद्धछव्वीसतिविहा पण्णत्ता तं जहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रायगिह मगह चंपा, अंगा तह तामलि त्ति वंगा य।
कंचणपुरं कलिंगा, वाणारसि चेव कासी य ॥
साएय कोसला गयपुरं च, कुरु सोरियं कुसट्टा य।
कंपिल्ल पंचाला, अहिछत्ता जंगला चेव ॥
वारवती य सुरट्ठा मिहिल विदेहा य वच्छ कोसंवी।
णंदिपुरं संडिल्ला, भद्दिलपुरमेव मलया य ॥
वइराड वच्छवरणा, अच्छा तह मत्तियावइ य दसण्णा।
सुत्तीमई य चेदी, वीइभयं सिंधुसोवीरा ॥
महुरा य सूरसेणा, पावा भंगी य मासपुरि वट्टा।
सावत्थी य कुणाला, कोडीवरिसं च लाढ़ा य ॥
सेयविया वि य णयरी, केयइ अद्धं च आरियं भणितं

५. तत्वार्थभाष्य ३/१५ तत्र क्षेत्रार्याः पञ्चदशसु कर्मभूमिषु जाताः, तथा भरतेष्वर्धषड्विंशतिषु जनपदेषु जाताः शेषेषु चक्रवर्तिविजयेषु च।
६. प्रज्ञापना १/९३ एत्थुप्पत्ति जिणाणं चक्कीणं राम-कण्हाणं।
७. प्रवचनसारोद्धार, पृ. ४४६ यत्र तीर्थकरादीनामुत्पत्तिस्तदार्य, शेषमनार्यम्।
८ आवश्यक चूर्णि जेसु केसुवि पएसेसु मिहुणगादि पइट्ठिएसु हक्काराइयानीई परुढ़ा ते आरिया, ऐसा अणारिया।
९. प्रज्ञापना टीका, पृ. ५५ आराद् हेयधर्मेभ्यो याता, प्राप्ता उपादेय धर्मैरित्यार्याः।
१०. तत्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका पृ. २६५ तत्र क्षेत्र-जाति-कुल-कर्म-शिल्प-भाषा-ज्ञानदर्शनचारित्रेषु शिष्टलोकन्यायधर्मानपेताचरणशीला आर्याः।
११. प्रज्ञापना टीका, पृ. ५५ अव्यक्तभाषा समाचाराः म्लेच्छ, अव्यक्तायां वाचि इति वचनात्।
१२. वही भाषाग्रहणं चोपलक्षणं तेन शिष्टाऽसम्मतसकलव्यवहारा म्लेच्छा इति प्रतिपत्तव्यम ॥
१३. ऋग्वेद
१४. आचारांग २/११९ एस मग्गे आरिएहिं पवेइए।
१५. वही ४/२१-२२
१६. आचारांग भाष्य ४/२१ यः अहिंसा धर्म न वेत्ति अनार्यः, अस्य प्रतिपक्षी यः अहिंसाधर्म वेत्ति स आर्यः।
१७. आगमशब्दकोश पृ. १२६ देखें आर्य शब्द।
१८. सूत्रकृतांग १/३/६६ जे तत्थ आरियं मग्गं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. सूत्रकृतांग वृति पत्र ६७ आर्यो मार्गो जैनेन्द्रशासनप्रतिपादितो मोक्षमार्गः।
२०. सूत्रकृतांग १/१/३७ एवं तु समणा एगे मिच्छदिट्ठी अणारिया।
२१. सूत्रकृतांग २/१/१३
२२. वही २/२/१८ णाणाविहं पावसुयज्झयणं भवइ तं जहा—भोमं उप्पायं... एवमाइयाओ विज्जाओ अण्णस्स हेउं पउंजंति... ते अणारिया...तमंधयाए पच्चायंति।
२३. प्रज्ञापना १/८८ तं जहा आरिया मिलक्खू य।
२४. तत्वार्थसूत्र ३/१५
२५. सर्वार्थसिद्धि ३/३६
२६. वही ३/३६/४३५ त एतेऽन्तर्द्वीपजा म्लेच्छाः। कर्मभूमिजाश्चशकयवनशबर-पुलिन्दादयः।
२७. तत्वार्थवार्तिक ३/३६/३
२८. वही ३/३६/२
२९. वही ३/३६/२ अल्पसावद्यकर्मार्याः श्रावकाः श्राविकाश्च विरत्यविरति-परिणतत्वात्।
३०. प्रज्ञापना १/९६
३१. वही १/९७
३२. अतीत का अनावरण पृ. १५३-१५४
३३. ऋग्वेद ७/६/३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३. जैन परम्परा में मान्य पांच शरीर : एक विश्लेषण

संसारी आत्मा सशरीर एवं सिद्ध आत्मा शरीर मुक्त होती हैं। संसारावस्था एवं शरीर परस्परापेक्ष हैं। शरीर के बिना संसार एवं संसार के बिना शरीर नहीं होता है। संसार का भोग शरीराधीन है। शरीर की भोगायतनता सर्व प्रसिद्ध है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में इस दृश्यमान स्थूल शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर की अवधारणा भी है। संसार परिभ्रमण का हेतु मुख्य रूप से सूक्ष्म शरीर को ही माना गया है। स्थूल शरीर को सापेक्ष दृष्टि से धर्म की साधना का निमित्त स्वीकार किया गया है--

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

धर्म का प्रथम साधन यह स्थूल शरीर है। इसके अभाव में साधक साधना के मार्ग पर आरूढ़ ही नहीं हो सकता है। भगवान महावीर ने संसार समुद्र से पार पाने के लिए शरीर को नौका माना है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—

सरीरमाहु नाव त्ति जीवो वुच्चई नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरंति महेसिणो ॥[1]

अंग्रेजी भाषा में शरीर को Body कहा जाता है। Body शब्द के अर्थ को प्रस्तुत करते हुए शब्दकोश में लिखा गया Body = whole physical structure of a human being or an animal." इस वाक्यांश से ज्ञात होता है कि मात्र मनुष्य अथवा पशु के ही शरीर होता है अन्य के नहीं जबकि जैन परम्परा में तथा जैनेतर भारतीय परम्परा में संसार-स्थित, विकसित, अल्पविकसित एवं अविकसित सभी प्राणी शरीरधारी हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी से लेकर कीट पतंग, वृक्ष, हवा, पानी, अग्नि, पृथ्वी आदि सभी के शरीर माना गया है। देवयोनि एवं नरकयोनि जो हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। वे भी शरीर युक्त हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर की परिभाषा

जैन दर्शन के अनुसार शरीरनाम कर्म के उदय से जीव शरीर को प्राप्त करता है। आठ कर्मों में एक कर्म है--नामकर्म, इसी कर्म के कारण जीव छोटा, बड़ा लम्बा, ठिगना आदि विभिन्न प्रकार के शरीर को प्राप्त करता है। शरीर विनाशधर्मा एवं विशरणशील होता है। सर्वार्थसिद्धि में शरीर को परिभाषित करते हुए कहा गया--

'विशिष्टनामकर्मोदयापादितवृत्तीनि शीर्यन्त इति शरीराणि'[२]

धवला के अनुसार जिस कर्म के उदय से आहार वर्गणा के पुद्गल स्कन्ध तथा तैजस और कार्मण वर्गणा के पुद्गल स्कन्ध शरीर योग्य परिणामों में परिणत होकर जीव से सम्बद्ध होते हैं उस कर्म स्कन्ध की शरीर संज्ञा हैं।[३]

जैन सिद्धान्त दीपिका में सुख और दुःख के अनुभव के साधनको शरीर कहा गया है।[४] शरीर की यह परिभाषा स्थूल शरीरों पर ही लागू हो सकती है। कार्मण शरीर तो निरुपभोग होता है।[५]

शरीर के प्रकार

प्राणी के जीवन का निर्वाह शरीर के माध्यम से होता है। खान-पान, हलन-चलन आदि सारी प्रवृत्तियों का संचालन शरीर के माध्यम से ही होता है। जैन-तत्त्व-मीमांसा में पांच प्रकार के शरीरों का उल्लेख प्राप्त है--

१. औदारिक शरीर
२. वैक्रिय शरीर
३. आहारक शरीर
४. तैजस शरीर
५. कार्मण शरीर

इन पांच शरीरों को हम स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम इन चार भागों में विभाजित कर सकते हैं

१. स्थूल — औदारिक शरीर
२. सूक्ष्म — वैक्रिय एवं आहारक
३. सूक्ष्मतर — तैजस
४. सूक्ष्मतम — कार्मण

पांचों शरीर क्रमशः सूक्ष्म होते जाते हैं।[६] जैसे औदारिक से वैक्रिय, वैक्रिय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से आहारक, आहारक से तैजस एवं तैजस से कार्मण शरीर सूक्ष्म है। कार्मण शरीर को सूक्ष्मतम इसलिए कहा गया है कि वह चतुःस्पर्शी परमाणुओं से निर्मित है। शेष चार शरीर अष्टस्पर्शी है किंतु उनमें परस्पर आपेक्षिक सूक्ष्मता है।

औदारिक शरीर

औदारिक शरीर स्थूल पुद्गलों से निष्पन्न होता है।[७] इस शरीर में चयापचय, कोशिकाओं का उत्पाद, विनाश प्रतिक्षण होता रहता है। यह शरीर रस आदि सप्त धातुओं से निर्मित है। प्राणी जो आहार ग्रहण करता है यह शरीर उसका सात्मीकरण करके उसे सप्तधातु में परिवर्तित कर देता है। शरीर के द्वारा गृहीत अन्न से रस, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से चर्बी, चर्बी से हड्डी, हड्डी से मज्जा, मज्जा से वीर्य उत्पन्न होता है तथा इस वीर्य से ही संतान पैदा होती है।[८] यह प्राचीन आचार्यों का अभिमत है।

उदार शब्द से उक् प्रत्यय करने पर औदारिक शब्द निष्पन्न होता है। औदारिक शब्द के अनेक अर्थ है। अनुयोगद्वार की हारिभद्रीया वृत्ति में औदारिक शरीर को औदारिक क्यों कहा जाता है? इसके चार हेतु बतलाये हैं—

१. उदार—औदारिक शरीर उदार अर्थात् प्रधाण शरीर है क्योंकि तीर्थंकर एवं गणधर भी औदारिक शरीर को धारण करते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में उदार शब्द प्रधान अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा इसी उदार शब्द से औदारिक शब्द निष्पन्न हुआ है।[९]

२. उराल—उराल का अर्थ है—विशाल। औदारिक शरीर से अन्य और कोई शरीर अवगाहना की दृष्टि से बड़ा नहीं हो सकता अतः इसको औदारिक कहा जाता है। यद्यपि उत्तर वैक्रियकाल में वैक्रियशरीर की ऊंचाई कुछ अधिक एक लाख योजन हो सकती है किंतु यह अवगाहना स्थायी नहीं है मात्र विक्रियाकाल में होती है। वैक्रिय शरीर की स्वाभाविक ऊंचाई पांच सौ धनुष्य होती है जबकि वनस्पति आदि की अवस्थित अवगाहना कुछ अधिक हजार योजन होती है अतः औदारिक शरीर से विशाल अन्य शरीर नहीं होता है।[१०]

३. उरल—भिण्डी की तरह जिसका आकार बड़ा और प्रदेश का उपचय अल्प होता है, उसकी संज्ञा उरल है। औदारिक शरीर आकार में बृहत् एवं प्रदेशोपचय की दृष्टि से स्वल्प होता है, इसलिए भी उसे औदारिक कहा जाता है।[११]

४. उरालिय—जो मांस, अस्थि, स्नायु आदि अवयवों से निर्मित होता है, वह औदारिक है।[१२]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य में उपर्युक्त हेतुओं के साथ ही कुछ अन्य हेतु भी इस शरीर को औदारिक कहने के दिये हैं।

उदार अर्थात् जिसकी छाया/आभा उत्कृष्ट है अथवा जिसका शरीर प्रमाण उत्कृष्ट है वह औदारिक है। औदारिक शरीर अपने उपादान कारणभूत शुक्र, शोणित को ग्रहण कर निरन्तर मृत्यु पर्यन्त अवस्थान्तर को प्राप्त करता है। उम्र के अनुसार बढ़ता है। यह वृद्धावस्था से आक्रान्त होता है। इस शरीर का शरीर बन्ध शिथिल हो जाता है। त्वचा में सलवटें पड़ जाती है अतः यह शरीर शीर्ण होता है। इसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है अतः यह औदारिक है।[12]

औदारिक शरीर का छेदन-भेदन हो सकता है। इसको पकड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है। कहीं जाने से रोका जा सकता है। जलाया जा सकता है। वायु के वेग से उड़ाया जा सकता है। अन्य शरीरों में ये गुण धर्म नहीं पाये जाते हैं।[13] उदार शब्द का एक अर्थ स्थूल है अर्थात् जो स्थूल शरीर है वही औदारिक है।[14] वस्तुतः औदारिक शरीर की प्रसिद्धि इसके अन्य अर्थों की अपेक्षा स्थूल शरीर के रूप में ही अधिक है।

औदारिक शरीर की संख्या

औदारिक शरीरधारी जीव अनन्त है किन्तु औदारिक शरीर की संख्या असंख्य ही होती है। जीव अनन्त एवं शरीर असंख्य यह कैसे संभव है? इस प्रश्न को समाहित करते हुए कहा गया कि प्रत्येक शरीरी जीव असंख्य होते हैं अतः उनके शरीर भी असंख्य होंगे तथा साधारण शरीर जीव अनन्त होते हैं किंतु वे एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं, उनके शरीर असंख्य होते हैं इस प्रकार औदारिक शरीरधारी जीवों के अनन्त होने पर भी औदारिक शरीर तो असंख्य ही होते हैं।[15]

शरीर एवं काय

जैन परम्परा में शरीर के लिए काय शब्द का प्रयोग भी होता है। शरीर एवं काय पर्यायवाची शब्द है। जिनभद्रगणी ने काय के चार अर्थ किये हैं—निवास, चय, विशरण एवं अवयवों का सम्यक् आधान।[16] काय में जीव का निवास होता है। उसमें प्रतिक्षण पुद्गलों का उपचय होता है, काय निरन्तर नष्ट हो रही है तथा उसके अवयव व्यवस्थित रूप से संयोजित होते हैं। जैनधर्म में षड्जीवनिकाय प्रसिद्ध है। मुनि सर्वप्रथम इन षड्जीवनिकाय को ही अभय प्रदान कर अहिंसा का पालन करता है। पृथ्वीकाय, अप्काय आदि षड्जीवनिकाय कहलाते हैं। पृथ्वी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही है शरीर जिनका वे पृथ्वीकायिक जीव है। इसी प्रकार अन्य कार्यों के बारे में समझना चाहिये।

औदारिक शरीर के धारक

गर्भ से उत्पन्न होने वाले जीवों एवं सम्मूर्च्छन जीवों के औदारिक शरीर होता है।[१८] इन दो प्रकार के जीवों के अतिरिक्त और किसी भी जीव के औदारिक शरीर नहीं होता किंतु गर्भज एवं सम्मूर्च्छन जीवों के औदारिक शरीर के अतिरिक्त अन्य शरीर भी होते हैं।

वैक्रिय शरीर

औदारिक शरीर रक्त, मांस आदि सप्त धातुओं से निर्मित होता है जबकि वैक्रिय शरीर रक्त आदि से निर्मित नहीं है। यह शरीर ऊर्जारूप होता है। वैक्रिय शरीर में विशिष्ट प्रकार की शक्ति होती है जिसके कारण यह शरीर एकरूप होकर अनेकरूप हो जाता है और अनेकरूप होकर एकरूप हो जाता है। अणु होकर महान् एवं बड़ा होकर पुनः छोटा बन जाता है। इस प्रकार की विविध क्रियाएं वैक्रिय शरीर में हो सकती है। इस शरीर का धारक जीव विविध एवं विशिष्ट प्रकार की क्रिया करने में समर्थ होता है। विक्रिया, विकार, विकृति और विकरण ये शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं।[१९] जो विक्रिया में उत्पन्न होता है, विक्रिया से निर्मित होता है वही वैक्रिय शरीर है।

वैक्रिय शरीर के धारक

वैक्रिय शरीर देवता और नारकी के तो जन्म से ही होता है। देव एवं नारक जीवों के औदारिक शरीर नहीं होता है। उनके वैक्रिय शरीर जन्मजात, स्वभाव से होता है। मनुष्य एवं तिर्यञ्चों के यह शरीर लब्धिजन्य होता है। वायुकाय के भी वैक्रिय शरीर लब्धिजन्य होता है।[२०] दिगम्बर परम्परा में तैजसकाय आदि के भी वैक्रिय शरीर माना गया है।[२१] मनुष्य आदि में भी यह शरीर लब्धिजन्य है अतः जिनके पास वैक्रियलब्धि होती है उनके ही यह शरीर हो सकता है अन्य के नहीं हो सकता।

आहारक शरीर

आहारक शरीर एक विशिष्ट प्रकार की शरीर संरचना है, जो विशिष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लब्धि-सम्पन्न चतुर्दशपूर्वी के ही हो सकता है। औदारिक एवं वैक्रियशरीर जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त रहते हैं वैसे यह शरीर नहीं रहता है। लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर की भी यही स्थिति है। विशिष्ट प्रयोजन से चतुर्दशपूर्वी आहारक शरीर का निर्माण करते हैं, जो अन्तर्मुहूर्त में ही अपना कार्य सम्पादित करके पुनः औदारिक शरीर में प्रविष्ट होकर विलीन हो जाता है। यह शरीर शुभ वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्शवाले पुद्गलों से निर्मित होता है अतः इसे शुभ कहा जाता है। विशुद्ध परिणमन वाले पुद्गलों से निर्मित यह शरीर स्फटिक के समान अत्यन्त स्वच्छ होता है। इस शरीर से हिंसा आदि कोई भी पापमय प्रवृत्ति नहीं होती है तथा यह किसी भी प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति से उत्पन्न भी नहीं होता है अतः विशुद्ध है। इस शरीर से किसी का विनाश नहीं होता तथा यह किसी के द्वारा विनष्ट भी नहीं होता है अतः अव्याघाती है।[२२]

आहारक शरीर निर्माण का प्रयोजन

श्रुतज्ञान के किसी भी अत्यन्त सूक्ष्म और अतिगहन विषय में श्रुतकेवली को किसी प्रकार का संदेह उत्पन्न हो जाता है तब वह उस समस्या का समाधान तीर्थंकर से प्राप्त करना चाहता है किंतु उस समय तीर्थंकर उस क्षेत्र में विद्यमान हो जहां औदारिक शरीर नहीं जा सकता, तब वे श्रुतकेवली अपनी विशिष्ट आहारकलब्धि से आहारक शरीर का निर्माण करके उसे तीर्थंकर के पास भेजते हैं। तीर्थंकर के पास से अपनी शंका का समाधान प्राप्त कर वह शरीर पुनः प्रयोक्ता के मूल शरीर में समाविष्ट हो जाता है। आहारक शरीर समचतुरस्र संस्थानवाला होता है। उस शरीर की जघन्य अवगाहना एक हाथ से कम एवं उत्कृष्ट अवगाहना पूर्ण एक हाथ की होती है।

चतुर्दशपूर्वी आहारक शरीर को जहां तीर्थंकर होते हैं, वहां भेजते हैं। कदाचित् उस स्थान में तीर्थंकर न हो तो उस शरीर से पुनः एक दूसरे पुतले का निर्माण होता है वह दूसरा पुतला जहां तीर्थंकर होते हैं वहां जाता है, समाधान प्राप्त कर पहले वाले पुतले में प्रविष्ट होता है, वह प्रथम पुतला (आहारक शरीर) पुनः प्रयोक्ता मुनि के औदारिक शरीर में प्रविष्ट होता है। यह सारी क्रिया अत्यन्त शीघ्र सम्पादित हो जाती है। इस शरीर का कालमान अन्तर्मुहूर्त स्वीकृत है।

प्राणीदया, अर्हतों की ऋद्धि का दर्शन, नवीन अर्थ का अवग्रहण और संशय का अपनयन—इन प्रयोजनों से आहारक शरीर अर्हत् की सन्निधि में जाता है।[२३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तैजस शरीर

तैजस् शब्द अग्नि का वाचक है। तैजस शरीरनामकर्म के उदय से तेजो गुणयुक्त तैजस् पुद्गलों की वर्गणा से निर्मित शरीर को तैजस शरीर कहा जाता है। तैजस शरीर दो प्रकार का होता है—लब्धिजन्य एवं स्वाभाविक। उत्तरगुणों की अनुपालना से शाप एवं अनुग्रह प्रदान करने में समर्थ उष्णगुण युक्त तेजोलब्धि उत्पन्न होती है। लब्धिजन्य तैजस शरीर में दूसरे का हित-अहित संपादित करने का सामर्थ्य होता है। गोशालक की तरह जिसको तैजस लब्धिप्राप्त है वह क्रोध आदि कषायों के वशीभूत होकर अपने शरीर से तैजस का पुतला निकालते हैं जो उष्ण गुणयुक्त होने के कारण दूसरों को जलाने में समर्थ होता है। इस लब्धि के धारक प्रसन्न होने पर शीतगुणयुक्त पुतला शरीर से बाहर निकालते हैं जो दूसरों का अनुग्रह करने में समर्थ होता है। इसकी किरणें शीतल एवं संताप का हरण करने वाली होती हैं।[२४]

तैजस शरीर दीप्ति, कान्ति आदि का हेतु बनता है। शरीर की आभा, तेजस्विता का निमित्त तैजस शरीर है। आज विज्ञान आभामण्डल के चित्र ले रहा है, एक प्रकार से ये तैजस शरीर के ही चित्रांकन हैं।

जो तैजस शरीर लब्धिजन्य नहीं है वह सभी प्राणियों में स्वभाव से रहता है। उसकी प्राप्ति के लिए चारित्र आदि गुणों की आवश्यकता नहीं होती है। वह तैजस शरीर पाचन शक्ति से युक्त होता है तथा प्राणी जो आहार ग्रहण करता है उसको पचाने में समर्थ होता है।[२५]

अनुयोगद्वार चूर्णि में कहा गया जो ऊष्मामय है जिससे आहार का परिपाक होकर रस आदि निष्पन्न होते हैं, जो तेजोलब्धिका निमित्त है, वह तैजस शरीर है।[२६]

तैजस शरीर सभी संसारी प्राणियों के होता है। इसके विभिन्न प्रकार के संस्थान होते हैं। जैसा औदारिक एवं वैक्रिय शरीर का आकार प्रकार होगा वैसा ही तैजस एवं कार्मण का संस्थान हो जाता है किंतु समुद्घात के समय इनका प्रमाण इन शरीरों से अधिक हो जाता है।

तैजस काययोग

जैन परम्परा में पांच शरीरों का अस्तित्व स्वीकृत है। इनके काययोग सात प्रकार के होते हैं—

१. औदारिक काययोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. औदारिक मिश्र काययोग
३. वैक्रिय काययोग
४. वैक्रिय मिश्र काययोग
५. आहारक काययोग
६. आहारक मिश्र काययोग
७. कार्मण काययोग

कार्मण का मिश्रयोग औदारिक मिश्र आदि में ही समाविष्ट हो जाता है किंतु उपर्युक्त वर्गीकरण में कहीं भी तैजस काययोग का उल्लेख नहीं है। इसका तात्पर्य है कि तैजस शरीर की किसी प्रकार की स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं होती है अतः इसका स्वतंत्र काययोग नहीं है। यह शरीर शक्ति रूप है। अन्य शरीरों को यह शरीर शक्ति प्रदान करता है। इसकी सहायता से ही अन्य शरीर प्रवृत्ति करते हैं अतः तैजस का काययोग स्वतन्त्र नहीं है, सब योगों में उसका समावेश होता है।

कार्मण शरीर

कार्मण शरीर सूक्ष्मतम होता है। यह शरीर अन्य शरीरों का आधारभूत होता है। इसके नाश हो जाने पर अन्य शरीर नियमतः नष्ट हो जाते हैं। यह सभी संसारी प्राणियों के होता है। कार्मण वर्गणा के सूक्ष्मतम परमाणुओं से इस शरीर का निर्माण होता है। अन्य शरीरों का कारण होने से इसे कारण शरीर भी कहा जा सकता है। यह कर्म से निर्मित है तथा सम्पूर्ण कर्मराशि का आधार स्थल है।[७] कुछ आचार्य कर्म को ही कार्मण शरीर कहते हैं।[८] किंतु कर्म और कार्मण शरीर एक नहीं हो सकते। वे परस्पर भिन्न हैं। कर्म की उत्पत्ति बंधननामकर्म एवं मोहकर्म के निमित्त से होती है, जबकि कार्मण शरीर का विपाक कार्मण शरीर को ही परिपुष्ट करता है। इन हेतुओं से कर्म एवं कार्मण शरीर को सर्वथा एक नही माना जा सकता किंतु शरीर नाम कर्म की प्रकृति भी कोई कर्मों से भिन्न तो है नहीं इस अपेक्षा से कर्म ही कार्मण शरीर हैं यह वक्तव्य भी समीचीन हो जाता है। इस प्रसंग में अनेकांतदृष्टि ही आश्रयणीय है।

शरीर की क्रम व्यवस्था

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस एवं कार्मण शरीरों का यह क्रम भी सलक्ष्य रखा गया है। स्वल्प पुद्गलों से निष्पन्न एवं बादर परिणति वाला होने के कारण औदारिक शरीर का प्रथम न्यास किया गया है। वैक्रिय आदि क्रमशः बहु, बहुतर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं बहुतम पुद्गलों से निष्पन्न एवं सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम परिणति होने से उनका क्रमशः दूसरे, तीसरे, चौथे एवं पांचवें स्थान पर न्यास किया गया है। पांचो ही शरीरों की क्रम व्यवस्था का मुख्य हेतु है—इनकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मता और प्रदेशों की बहुलता।

जीव और शरीर का सम्बन्ध

जैन दर्शन के अनुसार जीव और शरीर का सम्बन्ध अनादिकाल से है।[९] जब तक जीव संसारी है तब तक तैजस एवं कार्मण शरीर तो निरन्तर जीव से संलग्न रहेंगे। जीव और इन दो शरीरों की सम्बन्धता द्रव्यास्तिक नय की अपेक्षा से ही है क्योंकि प्रवाह रूप से ये दो शरीर निरन्तर जीव के साथ रहते हैं किंतु पर्यायास्तिक नय की अपेक्षा इनका जीव के साथ सादि सम्बन्ध है क्योंकि सबसे अधिक दर्शन मोह कर्म की स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण है उसके पश्चात् तो उसको बदलना ही पड़ता है। जीव और शरीर का सम्बन्ध कौन-से समय में हुआ यह नहीं बताया जा सकता अतः यह सम्बन्ध अनादि है तथा बीज और वृक्ष की तरह, मुर्गी एवं अण्डे की तरह इनमें पौर्वापर्य भी नहीं बताया जा सकता अतः जीव एवं शरीर का सम्बन्ध अपश्चानुपूर्विक है। कुछ आचार्य कार्मण शरीर का ही जीव के साथ अनादि सम्बन्ध मानते हैं। उनके अनुसार तैजस शरीर तो लब्धि सापेक्ष है तथा वह तैजस लब्धि सबके नहीं होती अतः तैजस शरीर का जीव के साथ अनादि सम्बन्ध नहीं है।[१०]

औदारिक, वैक्रिय एवं आहारक इन तीन शरीरों का जीव के साथ सादि सम्बन्ध है। कर्मों के अनुसार गति विशेष में जीव कभी औदारिक या वैक्रिय शरीर को प्राप्त करता है तथा आहारक शरीर तो कदाचित् ही कुछ जीवों के होता है। लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर भी कुछ ही जीवों के कदाचित् होता है अतः इन तीन शरीरों का सम्बन्ध जीव के साथ सादि है। जैन दर्शन की यह मान्यता है कि संसार के सभी प्राणी सर्वप्रथम अव्यवहार राशि में ही रहते हैं अव्यवहार राशि के जीवों की तिर्यञ्च गति है। अतः उस अवस्था में उन जीवों के औदारिक शरीर ही होता है, वैक्रिय नहीं होता। पहला औदारिक शरीर जीवै को कब प्राप्त हुआ था, इसका समाधान देना अशक्य है अतः इस अपेक्षा से औदारिक शरीर का भी जीव के साथ अनादि सम्बन्ध माना जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर की संघात एवं परिशाट व्यवस्था

संघात अर्थात् ग्रहण एवं परिशाट अर्थात् परित्याग। पूर्वभविक औदारिक आदि शरीर के पुद्गलों को छोड़कर अग्रिम भव में पुनः पुद्गलों का संग्रहण संघातकरण कहलाता है अथवा शरीर योग्य पुद्गलों का प्रथम ग्रहण संघात है। औदारिक शरीरों को छोड़ते समय अन्त में उनका सर्वथा परित्याग करना परिशाटकरण है। संघात और परिशाट का कालमान एक-एक समय है। इन दोनों के मध्य 'संघात-परिशाट' यह उभयकरण होता है। औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीनों शरीरों के संघात आदि तीनों करण होते हैं। तैजस और कार्मण शरीर प्रवाहरूप से अनादि है अतः इनका संघातकरण नहीं होता।[३१] भव्य जीव जो मोक्ष जाते हैं उनकी अपेक्षा से तैजस और कार्मण का परिशाट होता है। मुक्तिगामी भव्यों के शैलेशी अवस्था के चरम समय में तैजस एवं कार्मण शरीर का परिशाट होता है।[३२]

संघात, परिशाट एवं संघात-परिशाट ये तीनों जीव प्रयोगकरण कहलाते हैं। अभव्य जीवों में तैजस एवं कार्मण शरीर का संघात एवं परिशाट—ये दोनों ही नहीं होते हैं। संघात-परिशाट रूप उभयकरण उनमें होता है। यह करण भी अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि अनंत है और सिद्धिगमन करने वाले भव्यों की अपेक्षा सांत है।

प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने शरीर के संदर्भ में विचार किया है। वेदान्त एवं सांख्य दर्शन सम्मत शरीर के संदर्भ में किये गये विचारों की तुलना यथाशक्य जैन मान्य शरीर की अवधारणा के साथ करने का प्रयत्न प्रस्तुत निबन्ध में किया जा रहा है।

सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष ये दो तत्त्व हैं। पुरुष चेतन स्वरूप, अपरिणामी है। उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। इस दृश्य जगत् का सम्पूर्ण विकास/विस्तार प्रकृति के द्वारा ही होता है। प्रकृति ही सर्ग काल में महत्, अहंकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच तन्मात्रा एवं पांच भूतों को उत्पन्न कर देती हैं। इन्हीं तत्त्वों से शरीर का निर्माण होता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति प्रत्येक पुरुष के लिए एक विशेष प्रकार के आवरण या शरीर का निर्माण करती है, जिसे लिङ्ग कहते हैं। यह लिङ्ग सृष्टि के प्रारम्भ काल से लेकर प्रलय काल तक बना रहता है अतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह नियत होता है। इसकी गति अबाध होती है। इसलिए यह शिला में प्रवेश कर सकता है, आकाश में उड़ सकता है, पानी में डूबा रह सकता है। इस लिङ्ग शरीर का निर्माण मन, बुद्धि, अहंकार, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय एवं पांच प्राण इन अठारह तत्त्वों से होता है।[३३] कुछ सांख्याचार्य लिङ्ग शरीर को सत्रह तत्त्वों से निर्मित मानते हैं।[३४] वे इसमें अहंकार को अन्तर्भूत नहीं मानते हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार यह लिङ्ग शरीर ही पूर्व में किये गए कर्म के संस्कारों से समन्वित होकर पूर्व-पूर्व के स्थूल शरीर का परित्याग करते हुए कर्मफल के भोग के अनुरूप उत्तरोत्तर नाना प्रकार के नये स्थूल शरीर को धारण करता रहता है। लिङ्ग शरीर के अभाव में स्थूल शरीर का निर्माण नहीं हो सकता। जिस प्रकार जैन मान्यता के अनुसार कार्मण शरीर के अभाव में अन्य शरीरों का निर्माण नहीं हो सकता। यह लिङ्ग शरीर धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य तथा अधर्म, अज्ञान, राग एवं अनैश्वर्य नामक भावों से अधिवासित होकर नाना प्रकार के लोकों एवं योनियों में स्थूल शरीर को धारण करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता रहता है। इस शरीर के कारण स्थूल शरीर भोग करता है किंतु यह स्वयं निरुपभोग होता है।[३५]

सूक्ष्म शरीर

सांख्य दर्शन के कुछ विद्वान् लिङ्ग शरीर से भिन्न सूक्ष्म शरीर की सत्ता स्वीकार करते हैं। लिङ्ग एवं स्थूल शरीर से भिन्न एक सूक्ष्म शरीर होता है, जो त्रयोदश कारणों का बना होता है। लिङ्ग के एक होते हुए भी सूक्ष्म शरीर प्रतिजन्म में परिवर्तित हो जाता है।[३६]

स्थूलशरीर

लिङ्ग की रचना पुरुष की भोग की सिद्धि के लिए हुई है किंतु वह स्वतः विषयों का भोग करने में समर्थ नहीं है अतः स्थूल शरीर के द्वारा ही उनका भोग संभव है। स्थूल शरीर पांचों स्थूल भूतों के योग से बनता है अतः वह प्रत्यक्ष ग्राह्य है। कतिपय सांख्य सूत्रों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि कुछ लोग आकाश रहित चार भूतों से तथा अन्य कुछ केवल पार्थिव तत्त्वों से ही स्थूल शरीर की सृष्टि मानते हैं। स्थूल शरीर अनन्त हैं पर योनिभेद से इनके वर्गीकरण भी किये जाते हैं। पृथक्योनिभेद से इनकी रचना के भी विभिन्न प्रकार हैं।

मनुष्य शरीर को षाट् कौशिक अर्थात् छह कोशों वाला कहा जाता है। सांख्य के अनुसार गर्भस्थ शिशु को रोम, रक्त एवं मांस माता से प्राप्त होते हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा स्नायु, अस्थि एवं मज्जा के निर्मापक तत्त्वों की प्राप्ति पिता से होती है अतः शरीर को षाट्कौशिक कहा जाता है।

व्यक्तित्व के विकास में भावों से अधिवासित सूक्ष्म शरीर का ही अधिक महत्त्व है। सूक्ष्म शरीर के अनुसार ही स्थूल शरीर एवं अन्य भोग्य सामग्री प्राप्त होती है।

तुलना

जैन दर्शन मान्य कार्मण शरीर की कथंचित् तुलना लिङ्ग शरीर से की जा सकती है। लिङ्ग शरीर को जैसे स्थूल शरीर का कारण माना गया है वैसे ही कार्मण शरीर औदारिक आदि शरीरों का कारण है। लिङ्ग शरीर की तरह ही कार्मण शरीर अप्रतिघाती एवं निरुपभोग है। उसमें ही सारे संस्कार संचित रहते हैं। जीव के संसार में परिभ्रमण का हेतु लिङ्ग शरीर की तरह कार्मण शरीर ही है।

जैन दर्शन में जिसे औदारिक शरीर कहा जाता है उसे ही सांख्य स्थूल शरीर कहता है। उदार शब्द से औदारिक शब्द निष्पन्न हुआ है एवं उदार का एक अर्थ स्थूल भी है जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेख किया है।

जैन परम्परा मान्य औदारिक एवं कार्मण शरीर की तुलना तो सांख्य मान्य स्थूल एवं लिङ्ग शरीर से क्रमशः हो जाती है किंतु जैन सम्मत वैक्रिय, आहारक एवं तैजस शरीर की अवधारणा सदृश विचार सांख्य में उपलब्ध है या नहीं यह अन्वेषणीय हैं। सांख्य दर्शन में भी देव, नारक आदि योनियों की स्वीकृति है, उनका शरीर कैसा होता है? मनुष्य के स्थूल शरीर से तो अवश्य ही वह भिन्न प्रकार का होना चाहिये। सांख्य किस रूप में उसका वर्णन करता है यह खोज का विषय है।

वेदान्त दर्शन

वेदान्त दर्शन में सृष्टि का क्रमिक विकास स्वीकार किया गया है। यह क्रमिक विकास सूक्ष्मतम रूप से स्थूलतर रूप की ओर होता है। इस विकास प्रक्रिया की तीन अवस्थाएं हैं–

१. कारणावस्था
२. सूक्ष्मावस्था
३. स्थूलावस्था

तमोगुण प्रधान माया की विक्षेप शक्ति से उपहित ब्रह्म को ही ईश्वर कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। यह ईश्वर ही सृष्टि का कारण है। ईश्वर से सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न होता है। आकाश एक, अनन्त, लघु-सूक्ष्म तथा सर्वव्यापक है। आकाश से क्रमशः स्थूल तत्त्वों का उद्भव होता है। इनके उद्भव का वेदान्त दर्शन में विस्तार से उल्लेख प्राप्त है किंतु प्रस्तुत प्रसंग में शरीर से सम्बन्धित विषय पर विमर्श करना काम्य है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पंचप्राण मन और बुद्धि इन सत्रह अवयवों के समूह से सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है।[३७] इन अवयवों का पृथक्-पृथक् समूह कोश कहलाता है। सूक्ष्म शरीर मनोमय, प्राणमय तथा विज्ञानमय कोश से युक्त होने से इसमें ज्ञान, क्रिया तथा इच्छा इन तीनों शक्तियों का योग रहता है। इन तीनों कोशों में विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति सम्पन्न कर्तारूप है। मनोमयकोश इच्छाशक्ति युक्त होने के करण रूप तथा प्राणमय कोश क्रियाशक्ति सम्पन्न होने से कार्यरूप है। पृथक्-पृथक् तीनों ही कोशों का अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप ही कर्ता, करण एवं कार्यरूप में विभाग किया गया है, ये तीनों मिलकर सूक्ष्मशरीर कहलाते हैं।[३८]

कारणावस्था में केवल आनन्दमय कोश रहता है। पांच ज्ञानेन्द्रियां और बुद्धि का समूह विज्ञानमय कोश कहलाता है।[३९] इस कोश से ही जीव में ज्ञान शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। मन के साथ ज्ञानेन्द्रियों के संयुक्त होने से इसे मनोमय कोश कहा जाता है।[४०] यह कोश इच्छा शक्ति से युक्त होता है। पंचप्राण सहित कर्मेन्द्रियों के समूह को प्राणमय कोश की अभिधा प्राप्त है।[४१] इसमें क्रियाशीलता का प्राधान्य है। जीव ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया शक्ति से संचालित होकर व्यावहारिक कार्यों का कर्ता बनता है।

कारणशरीर

वेदान्त दर्शन के अनुसार ईश्वर की समष्टि अर्थात् समूहोपाधि सबका मूलभूत कारण होने से कारण शरीर है।[४२] सांख्य आदि दार्शनिकों के विचारानुसार केवल सूक्ष्म एवं स्थूल ये दो शरीर माने गये हैं किन्तु वेदान्त सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर के विलय का स्थान कारण शरीर को मानता है।

स्थूलशरीर

सृष्टि का चरम विकास स्थूल शरीर है। स्थूल शरीर का निर्माण आकाश आदि पंचीकृत स्थूलभूतों से होता है। यह शरीर ही व्यावहारिक रूप से जन्म-मरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को प्राप्त होता है। जीवात्मा इसी शरीर के माध्यम से कर्म तथा उनके फल का उपभोग करता है।

वेदान्त दर्शन में स्थूल शरीर के चार प्रकार माने गये हैं[43]—

१. जरायुज
२. अण्डज
३. स्वेदज
४. उद्भिज्ज

मनुष्य, पशु आदि के शरीर जरायुज, पक्षी, सर्प आदि के शरीर अण्डज, जूं, कीट आदि के शरीर स्वेदज तथा वृक्ष, लता आदि के शरीर उद्भिज्ज कहलाते हैं।

वेदान्त के अनुसार पंचीकृत भूतों से ही भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः तपः तथा सत्यम् इन सात ऊपरी भुवनों का तथा अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल नामक नीचे के सात लोकों का, ब्रह्माण्ड और उसमें स्थित चतुर्विध स्थूल शरीरों और उनके पोषणार्थ अन्न-पान आदि का प्रादुर्भाव होता है।[44] यद्यपि इन चार शरीरों के धारकों के उल्लेख में मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, वृक्ष आदि का ही उल्लेख है, इनसे भिन्न देवयोनि अथवा पातालयोनि के जीवों के शरीर कैसा होता है? इसका उल्लेख नहीं है। जबकि जैन दर्शन में देव, नारक आदि के शरीरों का स्पष्ट उल्लेख है। वेदान्त ने जो चार शरीरों का उल्लेख किया गया है, जैन परम्परा में वे त्रसकाय जीवों के शरीर के भेद हैं।

जैन दर्शन में त्रसकाय जीवों के वर्णन प्रसंग में उन्हें आठ प्रकार का बताया गया है।[45] जिनमें चार प्रकार वेदान्त दर्शन में कथित चार शरीर के नाम से तुलनीय है।

दशवैकालिक में वर्णित, अण्डज, जरायुज, संस्वेदज एवं उद्भिज त्रस जीव के इन चार प्रकारों का ही वेदान्त में चार शरीर के रूप में उल्लेख किया गया है। दशवैकालिक में यह वर्णन शरीर के प्रसंग में नहीं है। त्रसजीवों के प्रकार वर्णन के प्रसंग में है। जैन के अनुसार शरीर दृष्टि से विचार करने पर इन चारों ही प्रकारों का समावेश औदारिक शरीर में हो जाता है।

वेदान्त मान्य सूक्ष्म शरीर की आंशिक तुलना जैन के कार्मण शरीर से तथा स्थूल शरीर की औदारिक शरीर से हो सकती है। वेदान्त सूक्ष्म शरीर में ज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय इन तीन कोशों को मानता है, जैन के अनुसार भी सूक्ष्मतम कार्मणशरीर में ही ज्ञान, सुख, दुःख आदि के संस्कार संचित रहते हैं।

वेदान्त में विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ की अवधारणा है। इनकी क्रमशः औदारिक,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तैजस एवं कार्मण शरीर के साथ तुलना हो सकती है। जठराग्नि अन्न का परिपाक करती है। इससे ही स्थूल शरीर का निर्माण होता है। व्यष्टि रूप में जो विश्व होता है, समष्टि चिंतन में वही विराट् या वैश्वानर बन जाता है। तैजस क्रियाशील है। इससे ही क्रियाशीलता प्राप्त होती है। यह जैन मान्य तैजस शरीर से आंशिक समानता रखता है। समष्टि में तैजस को ही हिरण्यगर्भ कहा जाता है। प्राज्ञ व्यष्टि है इसकी समानता कार्मण शरीर से है तथा वेदान्त के अनुसार समष्टि विमर्श में प्राज्ञ ही सर्वज्ञ बन जाता है। जैन दर्शन में कार्मण शरीर को पौद्गलिक माना गया है जबकि वेदान्त प्राज्ञ को पौद्गलिक नहीं मानता किंतु यहां पर यह विमर्शनीय है कि जब प्राज्ञ को कारण शरीर कहा जा रहा है तो वह चैतन्य स्वरूप कैसे होगा? क्योंकि शरीर तो जड़ रूप है फिर कारण शरीर को भी जड़ रूप मानना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में शरीर के संदर्भ में प्रभूत विचार हुआ है। सूक्ष्म शरीर आत्मा की विमोक्षावस्था की प्राप्ति में बाधक है। स्थूल शरीर आत्म-प्राप्ति में साधक बन सकता है यदि साधक शरीर में रहकर भी शरीरातीत अवस्था का अनुभव कर सके। उस शरीर को पूर्णतया आत्म प्राप्ति के लक्ष्य के लिए ही समर्पित कर दे। संसारी जीव अविद्या से युक्त है फलस्वरूप उसकी चेतना शरीर के आस-पास भ्रमण करती रहती है। शरीर के प्रति उसकी आसक्ति बनी रहती है। अविद्यावान् के शरीर केन्द्र में होता है। आत्माभिमुखता से वह दूर रहता है। शरीर सुख को ही वह अपने जीवन का लक्ष्य मानता है। उसका सारा आचार, व्यवहार शरीर की परिक्रमा करता रहता है। शरीरासक्ति के कारण वह विभिन्न प्रकार के संक्लेशों को प्राप्त होता है। अध्यात्म जगत् में शरीरकेन्द्रित चेतना बाधा उत्पन्न करती है, अतः साधक शरीर के प्रति मूर्च्छा का त्यागकर आत्मतत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बने, यह अभिलषणीय है।

आधुनिक विज्ञान में शरीर

'शरीर विज्ञान' ने शरीर से सम्बन्धित अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया है। विज्ञान के अनुसार कोशिका शरीर की इकाई है। उस छोटी-सी कोशिका में भी विभिन्न प्रकार के भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तन होते रहते हैं। विज्ञान ने इन सबका अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। शरीर में क्या-क्या तत्त्व है, उनका निर्माण कैसे होता है? शरीर के अवयव क्या-क्या करते हैं? कैसे करते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं? परस्पर उनका क्या सम्बन्ध है इत्यादि विभिन्न संदर्भों में विज्ञान चर्चा कर रहा है। डी. एन. ए., आर. एन. ए., जीन आदि की विस्तृत चर्चा शरीर विज्ञान में प्राप्त है। शरीर के संदर्भ में ऐसी सूक्ष्म चर्चा प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त नहीं है। विज्ञान के द्वारा शरीर से सम्बन्धित अनेकों तथ्य प्रकाश में आये हैं जो अद्यप्रभृति अज्ञात थे किंतु विज्ञान का केन्द्रभूत विश्लेषणीय स्थल यह औदारिक शरीर ही है। स्थूल शरीर के अतिरिक्त अन्य शरीर की अवधारणा विज्ञान में नहीं है, यद्यपि विज्ञान भी शरीर में उष्मा, विद्युत् शक्ति को स्वीकार करता है किंतु जैन मान्य तैजस शरीर जैसी अवधारणा विज्ञान में नहीं है। कुछ वैज्ञानिक सूक्ष्म शरीर की प्राक्कल्पना कर रहे हैं किंतु अभी तक उसका अस्तित्त्व सिद्ध नहीं हो पाया है। जबकि धर्म-दर्शन के क्षेत्र में सूक्ष्म शरीर की अवधारणा सर्वमान्य है। संभव है भविष्य में विज्ञान भी धर्मदर्शन की अवधारणा में सहमत हो जाये।

संदर्भ :

१. उत्तराध्ययन २३/७३
२. सर्वार्थसिद्धि २/३६/३३
३. धवला १३/५/५ जस्स कम्मस्स उदएण आहारवग्गणाए पोग्गलखंधा तेजाकम्मइयवग्गणपोग्गल खंधा च सरीरजोग्गपरिणामेहि परिणदा संता जीवेण संबज्झंति तस्स कम्मखंधस्स शरीरमिदि सण्णा।
४. जैन सिद्धान्त दीपिका ७/२४ सुखदुःखानुभवसाधनं शरीरम्।
५. तत्वार्थसूत्र २/४५ निरुपभोगमन्त्वयम्
६. तत्वार्थसूत्र २/३८ तेषां परं परं सूक्ष्मम्।
७. जै. सि. दी. वृ. ७/२५ स्थूलपुद्गलनिष्पन्नं रसादिधातुमयम् औदारिकम्।
८. धवला ६/१ रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रवर्तते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जः शुक्रं ततः प्रजा ॥
९. अनुहा. वृ. पृ. ८७ तित्थगरगणधरसरीराइं पडुच्च
उदारं, उदारं नाम प्रधानम्।
१०. अनुहा वृ. पृ. ८७ उरालं नाम विस्तरालं, विशालं ति वा जं भणिते होति कहं सातिरेगजोयणसहस्समवट्टियप्पमाणमोरालियं अण्णमेद्दहमित्तं णत्थि। वेउव्वियं होज्जा लक्खमहियं, अवट्टियं पंचधणुसते, इमं पुण अवट्ठितपमाणं अतिरेग-जोयणसहस्सं।
११. अनुहा वृ. पृ. ८७ उरलं नाम स्वल्पप्रदेशोपचितत्वाद् बृहत्त्वाच्च भिण्डवत्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. अनुहा. वृ. पृ. ८७ उरालं नाम मांसास्थिस्नाय्वाद्यवयव बद्धत्वात्

१३. तत्वार्थ भाष्य २/४९ उद्गतारमुदारम्, उत्कटारमुदारम्, उद्गम एवोदारम्, उपादान प्रभृति अनुसमयमुद्गच्छति वर्धते जीर्यते शीर्यते परिणमतीत्युदारम् उदारमेवौदारिकम्।

१४. तत्वार्थभाष्य २/४९ ग्राह्यं छेद्यं भेद्यं दाह्यं हार्यमित्युदाहरणादौदारिकम्, नैवमन्यानि।

१५. सर्वार्थसिद्धि २/३६ उदारं स्थूलं/उदारे भवं उदारं प्रयोजनमस्येति वा औदारिकम्।

१६. अनु. मलय. वृ.प. १८१ प्रत्येकशरीरिणस्तावदसंख्याता एवातस्तेषां शरीराण्यप्यसंख्यातान्येव, साधारणशरीरिणस्तु विद्यन्ते अनन्ताः किन्तु तेषां नैकैकजीवस्यैकैकं शरीरं किन्त्वनन्तानामनन्तानामेकैकं वपुरित्यत औदारिकशरीरिणामानन्त्येऽपि शरीराण्यसंख्येयान्येवेति।

१७. विशेषावश्यकभाष्य गा. ३५२७
जीवस्स निवासाओ पोगलचयओ य सरणधम्माओ।
काओऽवयवसमाहाणओ य दव्व-भावमओ ॥

१८. तत्वार्थ सूत्र २/४६ गर्भसम्मूर्च्छनमाद्यम्।

१९. तत्वार्थभाष्य २/४९ वैक्रियमिति-विक्रिया विकारो विकृति र्विकरणमित्यनर्थान्तरम्।

२०. तत्वा. भा. टी. २/४८ वायोश्च वैक्रियं लब्धिप्रत्ययमेव।

२१. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा २३२

२२. तत्वार्थसूत्र २/४९ शुभं विशुद्धमव्याघाती चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव।

२३. अनुयोग चूर्णि पृ. ६।
पाणिदयरिद्धिसंदरिसणत्थमत्थोवगाहणहेतुं वा।
संसयवोच्छेयत्थं गमणं जिणपादमूलम्मि ॥

२४. तत्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका २/३७ तेज इत्यग्निः, तेजोगुणोपेत द्रव्यवर्गणा समारब्धं तेजो विकारस्तेज एव वा तैजसमुष्णगुणं, शापानुग्रहसामर्थ्याविर्भावनं तदेव यदोत्तरगुणप्रत्ययालब्धिरुत्पन्ना भवति तदा परं प्रति दाहाय विसृजति रोषविषाध्मातमानसो गोशालादिवत्, प्रसन्नस्तु शीततेजसाऽनुगृह्णाति।

२५. तत्वार्थभाष्य २/३७ यस्य पुनरुत्तरगुणलब्धिरसती तस्य सततमभ्यवहृताहारमेव पाचयति, यच्च तत् पाचनशक्तियुक्तं तत् तैजसमवसेयम्।

२६. अनु. चूर्णि पृ. ६१
सव्वस्स उण्हसिद्धं रसादि आहारपागजणणं वा।
तेयगलद्धिनिमित्तं व तेयगं होति णायव्वं ॥

२७. तत्त्वा. भा. टी. पृ. १९५ कर्मणा निर्वृत्तं कार्मणम्, अशेषकर्मराशेराधारभूतं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुण्डवद्।

२८. अनु. म वृ. प. १८१ कर्मैव वा कार्मणम्।

२९. तत्वार्थसूत्र २/४२ अनादिसम्बन्धे च।

३०. तत्वार्थभाष्य २/४३ कार्मणमेवैकमनादिसम्बन्धं... तैजसं तु लब्ध्यपेक्षं भवति। सा च तैजसलब्धिर्न सर्वस्य, कस्यचिदेव भवति।

३१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति १६२
संघायपरिसाडणउभयं तिसु दोसु नत्थि संघाओ...

३२. विशेषावश्यक भाष्य ३३३६
तेयाकम्माणं पुण संताणोऽणाइओ न संघाओ।
भव्वाण होज्ज साडो सेलेसीचरिमसमयम्मि ॥

३३. सांख्यकारिका ४०, पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्।

३४. सांख्यसूत्र ३/६ सप्तदशैकं लिङ्गम्।

३५. सांख्यकारिका ४० संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम।

३६. सांख्यकारिका भूमिका पृ. ६८ व्रजमोहन चतुर्वेदीकृत

३७. वेदान्तसार (पृ. ३५) चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी।
सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपंचकं बुद्धि- मनसी कर्मेन्द्रियपंचकं वायुपंचकश्चेति।

३८. वेदान्तसार (पृ. ३५) एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः, मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः। प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। एतत्कोशत्रयं मिलितं सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते।

३९. वेदान्तसार पृ. ३५ इयं बुद्धिज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति

४०. वही, मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति।

४१. वही, इदं प्राणादिपंचकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति

४२. वही, ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात् कारणशरीरम्।

४३. वेदान्तसार (पृ. १६) चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज स्वेदजाख्यानि

४४. वही, (पृ. ४५) एतेभ्यः पंचीकृतेभ्यो भूतेभ्यः भूर्भुवः स्वर्महजनस्तपः सत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरि विद्यमानानामतलवितलसुतलरसातलमहातलपातालतलातलनामकानामधोऽधो विद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिचतुर्विधस्य स्थूलशरीराणां तदुचितानामन्नपानादीनाञ्चोत्पत्तिर्भवति।

४५. दशवैकालिक ४/६ से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा तं जहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेइमा सम्मुच्छिमा उब्भिया उववाइया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

24. Embodiment of Peace and Love

Mahavira's life is an embodiment of Love and compassion and is itself a lesson in spirituality. He was the conscience of immortal India. or, we may say, he had the actual consciousness of India as well as of the whole world. When he reached the pinnacle of spiritual awakening, he began to preach what he realised. He was a living example of truth and non-violence. To Jain, Bhagavan Mahavira represents the embodiment of truth, rather than a historical hero. Our devotion to him means devotion to truth, love and compassion, for he himself devoted his entire life to these things. Only after prolonged spiritual exertion of austerities did he achieve spiritual enlightenment.

At this stage, he then sought to show to others the way of spiritual development. His goal was to assist those who were indulging and suffering in this transitory world.

Lord Mahavira was, is and always will be a beacon to humankind. His miraculous personality profoundly impresses all who encounter it, both in the past and now. He was not a incarnation of any God but a simple human being just as we all are. He attained 'Super Humanity' through spiritual exertion, and he preached that all people can achieve this goal through spiritual exertion.

Lord Mahavira was the propounder of the Jain religion Jainism is one of the oldest living religions in the world. It is not an offshoot of Hinduism or Buddhism, as scholars have now definitively proven. Although Indian philosophers were never confused about this issue, some western philosophers misinterpreted Jainism as an offshoot of Buddism or Hinduism. But now it is quite clear to all that Jainism has always been an independent religion.

Almost 2,600 years ago Lord Mahavira was born (B. 599 B.C., D-527 B. C) in Bihar, India. His father and mother were

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Siddartha and Trishala respectively. He was born and brought up with a silver spoon. He was the member of a royal family His father was a king. When Lord Mahavira was conceived his mother had fourteen great dreams. She awoke and asked her husband what might be the meaning of these dreams. He invited a Prophet to interpret the dreams. He calculated that a great soul would take birth and that soul would reach the perfection of self-realisation and would be the torch bearer of the whole world. It was Predicted that he would be the harbinger of peace and bestower of the happiness.

He bore three names. His parents called him 'Vardhmana' which means, from the date he was conceived by Trishala, the wealth, power and prosperity of the kingdom were steadily improving. Secondly because he had subdued his external as well as internal foes he was called 'Mahavira'. He was also called 'Sanmati' which means that even in Lord Mahavira's childhood. He possessed an extra ordinary personality. He never wept nor laughed. He always remained in a contented mood. He was quite active like all growing children, but never restless. Even as a small child, he appeared to be unattached to all things, that is, he did not seem to have any physical attraction towards worldly things and instead it appeared as if he was meditating.

Success in life depends on two factors–Wisdom and energy. A harmonious combination of these two things makes man fearless and strong. Vardhamana possessed both in equal proportion. He was never touched by any kind of fear.

Once he was playing with his friends a game called 'Amalaki', in which children race to climb a tree. Vardhmana had tramendous power so outran everyone and climbed up the tree first. When he was coming down, he saw a huge snake around the trunk of the tree. It hissed at the sight of Vardhmana. Struck with fear, the rest of the children ran away but Vardhamana remained unperturbed. He caught hold of the snake and threw it away. He climbed down from the tree and his playmates applauded him. He had won the game.

Knowledge is a part of the spititual energy of man. Vardhamana had both spiritual energy and knowledge in him. His relatives knew that he was physically strong but did not know that he had tremen-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

dous knowledge as well and he was sent to school as usual at the age of eight. He was a very respectful child, and was very much devoted and obedient to his parents. Since his extra sensory knowledge had already become well-developed, he was conversant with what was being taught at school. Nevertheless he willingly joined school. The teacher welcomed him and he joined his companions. It is said that Indra, the king of the gods disguised himself as a Brahmana and came to the school to tell him that he already knew what was being taught. But he did not tell Vardhamana this fact directly. Instead he asked him several questions about letters and their combinations. The child gave highly appropriate answers. The teacher was amazed that he knew things the teacher himself did not know and realized that Mahavira was not an ordinary child, but an extraordinary one. He sent him home very respectfully telling him that he knew everything, there was no need to attend class. At this time, the child Mahavira was growing in leaps and bounds, both physically as well as spiritually. When he entered into young adulthood, his parents thought, it was time to think of the marriage of the young prince, A marriage proposal arrived from king Jitsatru to have Vardhamana marry his daughter. And so the two got married. But Mahavira had been absorbed in spiritual reality, trying to feel his oneness with it. Although he lived in a royal palace surrounded by relatives, servants, all kinds of prosperity and comforts, his mind was turned inwards into the depth of the self. Over the next few years, a number of events transpired. He had a daughter, and both his parents died when he was 28. He lived two more years with his family after the death of parents due to request of his elder brother Nandivardhana. He took initiation at the age of 30 and did Sadhana for 12 years, experiencing unimaginable difficulties. At last he attained enlightenment. After this, he dedicated his life to preaching. He was a wonderful orater and spoke in the vernacular so that the common people could understand his teachings.

He was a crusader, a beacon. He was a reformer. At that time there were many destructive rituals in the field of religion involving violence, among other things.

After he had attained enlightenment Bhagavan Mahavira in his first sermon explained the threefold path that is the way of self-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

realisation

Right faith

Right Knowledge

Right Conduct.

According to Jainism, the world consists of two types of basic substances the soul and the non-soul. A soul bound by a body is called 'Jiva' or an embodied soul. A free or a disembodied soul is called paramatma. That which enables the transformation of a bonded soul into a perfect soul is called dharam or religion.

Non-violence, Truth, non-stealing, celibacy, non-possession are lord Mahavira's fundamental teachings. His philosophy of Anekant–many sidedness is also central to Jainism's democratic teachings.

Bhagavan Mahavira propounded the doctrine of the freedom of the soul. The soul is not a part of paramatma, God or a supreme soul, it does not dissolve into paramatma after it has become emancipated. It maintains its independent existence in the state of bondage as well as in the state of liberation.

India is a land of saints and sages, seers and prophets, thinkers and philosophers. In all historical epochs, she produced a long line of spiritual luminaries who benefited human kind (both by practice and precept) with the highest moral and spiritual values of life. They presented a path leading from darkness to light, from ignorance to knowledge, from cruelty, enemity and hatred to kindness, love and compassion. The renowned Lord Mahavira was one of the brightest among such spiritual luminaries in the history of the mankind. He practised what he preached, and preached what he practised. The voice of this great spiritual apostle touched and changed the hearts of both human being and animals. His teachings were of the highest intellectual and spiritual level. His words powerfully affected that people who were astonished to hear the great gospel of life, and through it they achieved peace of mind. Lord Mahavira was the 24th tirthankar of Jainism but it is also true that he remains a light house or a beacon light for those who have lost their way and are wandering in darkness. In other words, he is a great spiritual leader of human kind and of all living beings. He himself was a great gospel of spirituality.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

25. Ecological survival : Global Survival

(The Jain Perspective on Ecology)

Ecology is a study of harmful or beneficial interactions between organism to organism, community to community, organism to matter and matter to matter. These interactions are being further influenced by physical factors like light, temperature, moisture, wind, gravity, space and time. When a variety of factors interact the process becomes very complex and infact that is what happens in the nature. Amongst the organism, if the interaction is beneficial to both the partners it is known as symbiosis, to one—commensalism and when harmful—antagonism. Innumerable intricate relationships occur in nature and make the science of ecology a very complex and fascinating subject of great relevence to the mankind.

The interactions are natural phenomena and have been going on since times immemorial and have led to the present day scenario on this planet. The natural interactions have been vastly interfered by the human beings primarily due to lack of proper education, degradation of moral and spiritual values and an outlook of materialistic possessiveness. Thus, primarily biological, chemical and, physical phenomena have now-a-days also become economical, social and political phenomena. This has resulted into depletion of natural resources, extinction of many species, pollution of environment with toxic substances, and has infact threatened the very existence of the human community itself. To-day, while on one hand human community is widely engaged in rapid destruction of

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

he environment, on the other some wise people talk about saving it, but the central effort is to save human community only. How could human community be saved alone? If we want to save this precious' species we have to save everything, protect every thing. A historian Lynn white (1967) observed 'what people do about their ecology depends on what they think about themselves in relation to things around them. Human ecology is deeply conditioned by beliefs about our nature and destiny, that is, by religion.' This infact seems to be very much true.

Jainism is ecology. The central theme of Jainism in non-violence. Non-violence does not only mean that one must not kill a living being, it also means that one should not create an atmosphere of violence, one must not create an environment in which animate beings perish, and must not create a situation which would disturb the inanimate order. Non-violence relates to both the sentient and the non-sentient. The doctrine of non-violence is not limited to the non-killing alone. According to Jain principles soul and matter influence each other. The material environment is conditioned by living beings and living beings are conditioned by environment. Let us consider non-violence in the context of these factors.

The doctrine of non-violence asserts that nothing can exist by itself. All our energy and power are produced by matter and these come to us through environment. If the environment is polluted, it will have a direct effect on the energy which we imbibe from nature that in turn will affect our actions, and our actions will affect our soul. A non-violent person who recognises this truth (viz. that all life owes its existence to matter) can not abuse environment. A study of ecology is in fact a study of Jainism. Jainism has given the education to the human community to restrain from all forms of violence. Non-violence or not injuring to all the living beings such as insects, animals, plants, even micro-organisms living in water or soil is the foundation of Jainism. It further suggests restraint in possession or non-interference with all kinds of non living things. Thus, a code of maximum restraint in relation to interference with the environment is the basis of this religion and that infact is envisaged in protection of ecology. Any harm or disturbance done to

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ecology will certainly recoil on all the living beings including the human community.

The problem of protection of environment is complex. people cut trees and devastate forests for fuel, shelter or for earning a livelihood. Unless these people are given some alternative they will go on wiping out our forests.

They disturb nature by exploiting it in several ways. Take the case of the use of paper. the consumption of paper has reached fabulous proportions, and to manufacture it, innumerable trees are being cut resulting further in deforestation, which in turn directly brings many calamities such as floods and many more indirectly resulting in the destruction of ecology and environment.

The human community gives much importance to the above noted secondary causes of pollution, but the primary causes underlying environmental pollution are human emotional or psychological pollutions. Pollution has been created by our own lack of self-restraint. People are misusing and wasting natural resources such as water and air. Now a days, when someone takes a bath, he pays no attention to the amount of water he is using and so much water is wasted. Cleanliness is not achieved only on the basis of how much water is used, but by a clear concept and practice there of how cleanliness is achieved. Disregarding this fact, most people cause a colossal waste of water. Such neglect is a modern disease, and until this is cured, environmental imbalance is bound to continue. Today people are getting greedier day-by-day. It is generally believed that the greater the number of factories, the greater will be the progress of the individual and of the country. It seems the matter has not been given the serious consideration it deserves. How ruthlessly the earth has been exploited! The production and the consumption of material goods have increased tremendously in modern times. Where will this thoughtless exploitation of our limited resources lead to? No one seems to care about the next generation, let alone the plight of the fifth or the seventh generation from now. What is going to happen to them? How will they fare? It is really a matter of great concern and therefore, we must give to it our most serious consideration. Natural resources are limited,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

but the wants of individuals are unlimited. There are more consumers than material objects to be distributed among them and this is bound to give rise to conflicts. We should pay attention upon the use of the matter. Since material articles are limited, the consumers desires must be limited too. Limitation of marerial goods, limitation of the consumers desires and self-restraint in consumption are urgently required.

It is necessary in this age that we appreciate the value of the environment, non-violence and self-restraint. This issue should not be brushed aside as related to the religious world. In fact it is directly related to the whole of mankind, the animal world and even the mother earth itself. It is necessary to take appropriate action to resolve the problem of environmental imbalance and pollution. Only by adopting this approach can the curse of pollution be cast off. In this context, the maxim of Anuvrat is very significant 'Self-restraint alone is life.'

The only solution to environmental degradation is self-restraint, according to Jain Philosophy. The Jain ecological philosophy is virtually synonymous with the principle of non-violence which runs through the Jain tradition like a golden thread.

Non-violence is the supreme religion. Ahimsa (non-violence) is a principle that Jain Philosophy teaches and practises not only towards human beings but towards nature also. The scriptures tell us 'All the arhatas (venerable ones) of past, present and future counsel and propound in unison : Do not injure, abuse, oppress, enslave, insult, torment, torture or kill any creature or living being.

The teaching of Ahimsa refers not only to wars and visible physical acts of violence but also to violence in the hearts and minds of human beings. In the absence of violent thought there would be no violent action. When a feeling of violence enters our thoughts we must remember Tirthankara Mahavira's words :–'You are that which you intend to hit, injure, insult, torment, enslave or kill.' Mahavira also says, 'One who neglects or disregards the existence of earth, air, fire, water and vegetation, disregards his own existence which is entwined with them.'

The Jain scriptural aphorism, 'All life is bound together by

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

mutual support and interdependence' is vitally important. In this aphorism, life is viewed as a gift of togetherness, accommodation and assistance in a universe teeming with interdependent constituents. We can bring about holistic environmental protection, peace and harmony in the universe only. Let us all practise non-violence, so that we may save nature. Survival of nature is survival of the whole universe.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

26. A princely way to world peace

Non-violence and Peace is the key to life. It is the natural state. It is relevant for all the times and places. Non-violence and peace is a complete concept. Indian seers and sages have always sung the song of non-violence. Lord Buddha and Lord Mahavira have called non-violence the supreme virtue. Smrities and the Mahabharat etc. are also replete with various aspects of non-violence. We are facing degeneration of moral values, pollution of human mind and unrest. Degeneration of faith in basic values, materialistic outlook, excessive craving for ease and comfort, unbridled desires and craving, lack of compassion, excessive greed and selfishness have given rise to many problems in the present age i.e., tension, ecological pollution, violence, cruelty, corruption, drugs addiction, exploitation, inequality etc. The basic problem of the whole world today is establishment of peace. In fact, survival of living beings including human beings depends solely on the equilibrium state of the peace. As we draw close to twentyfirst century, the human race faces unprecedented challenges for its survival. Technology is growing so fast, that older things become outdated in no time. But in terms of human values, we still live in yester years. Our capacity to destroy has vastly increased but our willingness to harness this capacity with wisdom has not increased at all.

Every sensible person should realize the basic importance of world-peace for the survival of mankind. The talk about the necessity of world-peace does not mean indulging in any religious, old-fashioned and meaningless platitude. We are striving for a holistic and divine approach for a peaceful world order. But, the line of

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

thought and action of a destructive human mind places various barrier on the way. The remark of Martin Luthar King that 'We have guided missiles but mis-guided persons.' highlights the need of rightly guided persons for the attainment of holistic peaceful world order.

It is the height of human foolishness that it is wasting the resources on armament for human destruction which can be used for the elavation and upliftment of the human race. The ongoing arms race at the global levels gives an impression that human beings are leading towards suicide. It has been estimated that our modern world has already manufactured more than twenty thousand megaton atom bombs, while only one hundred megaton atom bombs are sufficient to reduce this earth to ashes. The way nations continue to spend huge amount on military preparations leads one to wonder whether mankind has decided to give top priority to the programmes of annihilating life on the planet earth. Two-third of mankind is still living in a very pitiable condition. Millions of people are still half-clad and half-fed. The problems of poverty and ill-health are so widespread that they require great effort for their eradication.

It is a historical fact that the institution of state was invented by man for the protection of human society. But, at present many states have forgotten this objective and revel in manufacturing deadly arms. This makes it clear that there is an urgent necessity of presenting the constructive thought of Lord Buddha and Lord Mahavira before the modern world when the whole world is virtually sitting on the volcano of atomic destruction.

Modern man has definately achieved a remarkable success in the domain of scientific development. He has visited the surface of the moon and hopes to land on the surface of other planets. We need not recount the manifold achievements of man in this direction. When we talk about these human achievements our hearts are filled with rare optimism and rare pride for mankind. But the very next moment when we reflect a little we realize that man has in his zest for inventions and equally strong zest for establishing mastery over the distant lands of the earth and with a strong desire to rule over other nations and people has brought his doom very near. It appears that he is running fast in the direction of self-annihilation.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Sometimes we wonder whether in the name of progress man is not walking in the direction of biological extinction.

In this critical time we have to understand the truth that now peace is universally desired. But how can it be achieved unless we work for the elimination of impediments to its realisation. The subject of peace is not a matter of personal attribute alone. It is a question of establishing a new society founded on values, culture and a way of life integral to peace-local, regional or global. The question of peace and international cooperation has to be considered from various angles. We should focus on avoidance of war and develop strategies, process and instrumentalities that minimize tension, augment the balance of power, attempt to reduce arms and armed forces and promote negotiated settlement of international problems. In fact, peace is not only absence of distrubance. Rather, it is the highest and most strenuous action, in which all our powers and affections are blended in a beautiful proportion. It is more than silence after storms. It is the concord of all melodious sounds. It is conscious harmony with the creation, an alliance of love with all beings, a sympathy with all that is pure and happy, a surrender of every separate will and interest, a participation of the spirit and life of the universe, an entire concord of purpose with its infinite original. It is a sublime sentiment of mind which allows the individual to operate optimally and freely. Firstly, there should be absence of constraints, which affect man's freedom. These constraints could include religious, political, economic, social, technological and cultural factors. Secondly, there must be opportunity for the individual to grow in body and mind, in emotions and spirit, in isolation and in communion with others.

The concept and practice of peace must resolve and permeate five layers of social units. First is the individual, then the family, followed by the community, the nation and finally the inernational community. They all intertwine and relate with each other and this interconnectedness is best understood when examined singularly and then in their combination. Peace on an individual level is a condition of the human consciousness, without any conflict or confusion, and with a positive potential for useful, helpful and progressive activity, leading to higher and happier dimensions of

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

living. On the social and international level, peace is a conditon of the collective psyche which is free from war and, threat of war and is frought with promise of activities which would lead to more useful, harmonious, and happy co-operative living yielding greater joy and sense of fulfilment on account of successful creative living and action. Under this scenario, peace is multidimensional phenomenon and it means more than the absence of structural violence of war.

Peace is not the problem of world only. It is a problem of every nation, of every society, of every individual. Unless we think about peace at individual, social, national, and global level, we can not take, a holistic approach. A partial approach cannot solve the problem of world peace. So we should, therefore, first think of mental peace before taking care of world peace. If there is no atmosphere for peace in the society how shall it contribute towards world peace? We have to take care of individual peace also while thinking of harmony in the society. If those who control the social order do not have peace of mind they cannot do much for social harmony.

Man is egoistic. He has vested interest and wants to rule over others. These are the root causes of disturbance of peace. We have not paid proper attention towards their removal. We are concentrating only on weapons, army and war. We are giving too much importance to what is subsidiary, neglecting the main problem. Peace and non-violence are two sides of the same coin. We can not think of one without the other. Struggle is psychologically a basic instinct. There are reasons, internal and external both, for peace as well as for absence of peace. Economic disparity disturbs the mind which instigates violence. Some become millionaires, other do not get even sufficient food. Hunger disturbs the mind and creates violent tendencies. And these types of situations create more and more disturbance in every walk of life. The solution of these problems is not only external but internal also. Through the ancient wisdom one can get the solution. The spiritual dignitaries like, Lord Buddha and Lord Mahavira have given some precious and particular solutions of these turmoils. Peace and non-violence are the cardinal virtues of Buddhism. Lord Buddha said 'There is no other

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

happiness greater than peace.' The ultimate goal for a Buddhist is to reach the peaceful state of Nibbana.

Non-violence is the most important concept of Shramanic tradition. Buddhism arose with its basic principles of well-being of all. Therefore, this very idea gives rise to Ahimsa. Thus the concept of Ahimsa can be defined as the sublime mental state of well being of all irrespective of any consideration–'सव्वे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता'. Social harmony was the first and the foremost aim of Lord Buddha for which he prescribed that one should get rid of the evils persisting within oneself such as hatred, passion, unlimited desires for various worldly things and pleasures of body, thought or speech. These evils, when prevail in the society, affect the moral as well as the spiritual level of the persons adversally and thus obstruct the path of social harmony and world-peace.

Harming others by body, mind or even with harsh words comes under violence. By body one tortures others or kills others. This is the common concept of violence. But according to Buddha and Mahavira even when one thinks of harming other or uses harsh words which hurt others, one commits violence. In short, the reason why non-violence is said to be having an universal application is that people love their own lives. In Buddhism, non-violence is first of all, taught from this stand point. Dhammapada says सव्वे तसन्ति दण्डस्स, सव्वे भायन्ति मच्चुनो। अत्तानं उपमं कत्वा न हन्नेय न घातये ॥ All tremble before punishment, all fear death; comparing others with oneself one should not slay or cause others to slay.

These teachings of Lord Buddha effected the whole world. King Ashoka the great was an example of it as to how his violent attitude turned into non-violent one through the teaching of a great visionary of compassion. In the same way Lord Mahavira's teaching changed the way of life of thousands of persons. In 'Ayaro' Mahavira says–

१. तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि
२. तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि
३. तुमंसि नाम सच्चेव जं परितावेयव्वं ति मन्नसि
४. तुमंसि नाम सच्चेव जं परिघेतव्वं ति मन्नसि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. तुमंसि नाम सच्चेव जं उद्दवेयव्वं ति मन्नसि

1. One who you think should be hit is none else but you.

2. One who you think should be governed is none else but you.

3. One who you think should be tortured is none else but you.

4. One who you think should be enslaved is none else but you.

5. One who you think should be killed is none else but you.

Lord Mahavira was the propounder of the doctrine that all souls are equal. The purport of this statement is to establish that nobody is inferior to anybody else.

Lord Mahavira and Lord Buddha not only gave the code of conduct for monks and nuns but also for lay-followers. Existence of a person is unimaginable without essential violence related to his basic needs. But, with the minimization of desires one can minimize violent activities.

The peace-seeker can follow simply the humane code of conduct. i. e.

1. I will not willfully kill any innocent creature.

2. I will not indulge in avoidable violence.

3. I will not attack.

4. I will not behave cruelly towards any creature and human being.

5. I will set limit to personal acquisition and so on.

These vows provide foundation of world peace. If mankind is to survive and to maintain its existence, it is to follow the path of self-control. Let us declare peace instead of war. Let there be celebration of awareness and cosmological concord at the universal level. We cannot find a way for world-peace except through self-control and Lumbini is giving the message of self-control since the ages.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

27. Contribution of Ācārya Umāsvāti to The Concept of Existence

The Contrubution of *Ācārya Umāsvāti* regarding the Concept of existence is twofold: (i) he is the first to give the definition of existence as possessed of origination, cessation and persistence. Though this concept is already available in the canonical literature of the Jain, yet the specific definition of existence as such was given by the *Ācārya Umāsvāti for* the first time. This definition has been accepted later by all the Jain thinkers unanimously. (ii) In his auto-commentary on Tattvārtha sūtra 5/31 *Ācārya Umāsvāti* has classified existence into four categories. This classification is his own contribution which has been given in the auto-commentary and explained in the commentary on that auto-commentary by *Ācārya Siddhsenagaṇi.*

Two Aspects of Existence

While describing the nature of existence we find its two dimensions ; (1) Being and (2) Becoming. The idealistic systems accept the reality either of the two, condemning the other as only a fiction of mind. For example the *Vedāntins* would accept the reality of Being. condemning the phenomenon of Becoming only as an illusion. The Buddhist, on the other hand, accept the reality of Becoming, condemming Being only as an imagination. The *Vaiśeṣikās* found out a third way. According to them both the permanent and the transitory are real but whatever is permanent is totally different from whatever transitory. Thus according to

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the *Vāiśeṣikās* one and the same thing is not both permanent and transitory or Being and Becoming. The Jains, on the other hand, accept identity-cum-difference between both of them. According to the Jain philosophy, a substance is the co-existence of both the Being and Becoming, the unwavering and the wavering, the stable and unstable. It is immutable and mutable both. The soul is immutable and as such it never changes into non-soul. It is also mutable and as such it passes through various modes. This is true not only of the soul but of all other substances which are neither absolutely permanent nor absolutely impermanent, but both permanent and impermanent simultaneously.

All that originates, vanishes and persists is real. This triple criterion of truth is as validly applicable to the material atom as to the spiritual self. Each and every existent comes under this criterion. According to Jain philosophy existence is a combination of both, absolute and relative, stable and unstable. We find this truth in *Bhagavatī sūtra* in these words.

> It is true, O Lord !, asked Gautama, that the unstable changes while the stable does not change, the unstable breaks whereas the stable does not break? yes, Gautama !'This is exactly so"[1]

This statement of *Bhagavatī* indicates the nature of existence. The stable is permanent and unstable is origination and cessation. It means that existence has dual nature. Which, though opposite to each other, coexist as complimentary to each other.

Resolving the Contradiction

The question before the Jains was as to how can they attribute two contradictory characteristics to existence simultaneously. The Jains resolve the problem by pointing out that we attribute certain characteristics of any object because we give prominence to those characteristics; it does not mean that the opposite characteristics are being denied. The fact is that when we predicate some attributes to some objects, we also imply the possibility of the opposite characteristic as well.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Four aspects of Existence

Having stated this in the aphorism of *Tattvārth sūtra* 5/31 Umāsvāti proceeds to apply this to the nature of existence in his auto-commentary. He finds that both Being and Becoming can be bifurcated into two. Being has two dimensions : one unspecified existence and the other the existence of different substances. Similarly Becoming has two aspects - production and destruction. As a propounder of thoroughly realistic system *Umāsvāti* accepts the reality of all the four afore said categories. Being as one undifferentiated existence is called as *dravyāstika*; whereas when being is categorised as medium of motion, medium of rest, space, matter and soul it is known as *mātṛkāpadāstika*. Because these categories give birth to the universe.[2] Becoming when implying production is called *utpannāstika* and when implying destruction is called *paryāyāstika*.

This description makes it clear that Jainism is thoroughly a realistic system which accepts the reality of all the four; (1) undifferentiated being (2) different category of being (3) production and (4) destruction.

Agamic Concept of existence

Lord Mahāvīra is said to have pronounced three attributes of existence; production, destruction and continuity. On being asked by *Indrabhūti*, his foremost disciple What is the nature of reality? (kiṃ tattaṃ) Mahāvīra is reported to have first answered : "origination" (Uppaṇṇei vā) and then when same question was successively repeated, "destruction"(vigamei vā) and "persistence" (dhuvei vā) *Ācārya* Umāsvāti has faithfully represented this in his aphorism (Utpād-vyaya-dhrauvya-yuktaṃ sat 5/29) In his auto-commentary however he has given four types of existence as we have already stated.

Objection to the Jain view of existence

If we look at four types of existence we would find that by implication *Ācārya Umāsvāti* has tried to incorporate different views regarding existence. This has also covered the question of

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

relative and absolute existence to some extent. The term absolute has two implications : (1) That which is true for all times and all places (2) That which is pure or independent. Thinkers like Dr. Radhakrishnan have criticised Jainism in the following words

> Yet in our opinion the Jaina logic leads us to a monistic idealism, and so far as the Jainas shrink from it they are untrue to their own logic... The theory of relativity cannot be logically sustained without the hypothesis of an absolute.
> ...If Jainism stops short with plurality, which is at best a relative and partial truth, and does not ask whether there is any higher truth pointing to a one which particularises itself in the objects of the world, connected with one another vitally, essentially and immenently, it throws overboard its own logic and exalts a relative truth in to an absolute one.[3]

Objections ansewered

This is a critism of Jainism from a absoultistic view-point. This criticism means that relative existence necessarily presupposes absolute existence. *Ācārya Umāsvāti* accepts this absolute existence under the category of *dravyāstika* existence, which is one all pervading and without beginning and end. *Ācārya Umāsvāti* has described *dravyāstika* existence under the synthetic points[4] of view. In *kevalajñāna* (or perfect knowledge) *kevalī* (or omniscient) knows all objects simultaneously. This state of knowledge cannot be comprehended through logic because it surpassses all discursive knowledges which is always successive.

The Jain scriptures clearly state this type of existence as beyond words, logic and mind :-

> All voices get reflected (i.e. fail to reach there). It is impossible to express the nature of the immaculate soul in words.[5]
> There is no reason there i. e. it is beyond the grasp of logic.[6]
> The intellect fails to grasp it.[7]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Ācārya Amṛtcandra Sūri in his commentary on *samayasāra* transcreates this very idea in the following words.

> When one experiences the all embracing lustre of the self, lustre of the partial view-point does not arise and the organs of knowledge ceases to work; one does not know where the circle of symbolic representation withers away; what more can be said even the **duality ceases to be felt.**[8]

Thus the Jain scriptures right from the *Ācārānga Sūtra* were conscious of absolute aspect of existence. Both the *Śvetāmbara* and *Digambara* scriptures describe this aspect of existence in negative term also;

> He is neither long, nor short, nor a circle nor a triangle, nor a quadrilateral nor a sphare.[9]
> He is neither black nor blue nor red nor yellow nor white. There exists no simile (to comprehend him)[10]

This may be compared to the following gāthā of samayasāra :

> In the (pure) soul there is no colour, no smell, no taste, no touch, no visible form, no body, no bodily shape and no skeletal structure.[11]

This is comprable to the following description of the Upaṇiṣads :

> The self without sound, without touch and without form, undecaying is likewise, without taste, eternal, without smell, without beginning, without end, beyond the great abiding by discerning that one is free from the face of death.[12]

Thus we see that the Jainas do not stop at a relative truth but goes beyond it and conceives of an absolute truth also. True to its own logic it maintains that just as relativity cannot be logically sustained without the hypothesis of an absolute, similarly an absolute cannot be logically sustained without the hypothesis of a relative truth. The non-absolutism, therefore, does not lead to a monistic idealism but to a dualistic pluralism. That the objects of the world

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

are connected with one another is accepted by the *Ācārāṅga* when it declares that one who knows one knows all and one who knows all, knows one.[13] This inter-connectedness does not mean obliteration of difference between one object and the other. It only establishes identity-cum-difference between two objects.

Pluralistic concept of existence

Inspite of this *Umāsvāti* is quite conscious that he is dealing with a pluralistic system therefore, he mentions *mātṛkāpadāstika* existence as the second type of existence. Under this type of existence we describe all the five types of eternal substances viz. medium of motion, medium of rest, space, matter and soul.

Five homogeneous aggregates (astikāyas) have been accepted as basic existence in Jain Philosophy. There is no existence except these five homogeneous aggregates (astikāyas). A concept of *astikāya* gives the specific understanding of existence. *Astikāya* is a technical word. It is a combination of two words *asti* and *kāya*. Generally *asti* means point=pradeśa and *kāya* means aggregate. It means that an aggregate of homogeneous points is called *astikāya*. There is also a very significant expression of *astikāya* given by *Ācārya Siddhasenagaṇi* in his commentary on *Tattvārthasūtra*. All existent are possessed of three characteristics viz. Origination, extinction and persistence. The partical *asti* indicates persistent characteristic of existence whereas *kāya* typifies the first two characteristics viz. Origination and destruction[14]. So we may say that *astikāya* and existence are synoyms in this sense. These *astikāyas* are also absolute in the sense that they exist independent of each other from time immemorial. *Ācārya Mahāprajña* says—

> "five astikāyas are absolute truth because their existence is neither created by our consciousness nor do they depend on each other for their existence but they exist independently.[15] ...The soul in its bounded form represents relative truth whereas in its liberated form its existence is absolute... (Similarly). An insentient being is a relative truth in its dependent form whereas in its independent form it represents absolute truth.[16]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Comprehensive of Jain view

As we have already said that *Ācārya Umāsvāti* deals with the transitory aspect of existence under two heads : (i) origination (ii) destruction, respectively calling them *utpannāstika* and *paryāyāstika*. There is a famous philosophical doctrine called *'ajātivāda'* which holds that all origination is just as illusion; nothing originates in reality. *Ācārya Umāsvāti* refutes this by accepting the existence of origination. Destruction and origination being two sides of a same coin, destruction is as real as origination. This is accepted by *Ācārya Umāsvāti* under the fourth category of existence that is *paryāyāstika*.[17]

It may be noted that here change is bifurcated into two; origination and destruction. In the *'Brahma Sūtra'* also change is bifurcated into the same two categories under the name of birth (janma) and destruction (pralaya). *Śankarācārya* points out that these two along with continuity include the six modifications enumerated in the *'Nirukta': jāyate, asti, vardhate, viparinamate, apakṣīyate* and *vinaśyati*.[18]

Conclusion

To Conclude treatment of existence by *Ācārya Umāsvāti* in his works is quite illuminating in the following sense :

1. *Ācārya Umāsvāti* is the first to give the definition of existence according to Jain view.
2. Existence in its undifferentiated form is one.
3. The catagories of existence are real and not the manifestations of one reality. This lays the foundation of a pluralistic system.
4. Relativity and absolutism are supplementary to each other. The Jain works right from the *Ācāranga* up to *Ācārya Amrta Cnandra Sūri* are conscious of absolute aspect of reality. *Ācārya Umāsvāti* in his classification of existence takes full note of this fact.
5. The classification of existence into four by *Ācārya Umāsvāti* is his own and is elaborated by the *Śvetāmbara* commentators of the *Tattvārthasūtra* like *Siddhasenagaṇi* and

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Haribhadra. other Jain *Ācāryas* appear to have overlooked this classification.

6. The treatement of existence by *Umāsvāti* is so comprehensive that it includes all the aspects of the Jain view of existence.

References

1. Bhagavaī–1/440 Se nunaṃ bhante! athire paloṭṭai, no thire paloṭṭai? Athire bhajjai, no thire bhajjai? hntā Goyamā! athire paloṭṭai no thire paloṭṭai athire bhajjai no thire bhajjai.
2. The word mātṛkā occurs in Ṭhānam 10/46 also but in a different context. There, it means origination, destruction and continuity. The tradition has that Lord Mahāvīra started his sermon with the three terms; uppannei vā, vigamei vā and dhuvei vā. These three terms being the source of all the teaching of Lord Mahāvīra, are called Mātṛkā. Similarly, here, the five astikāyas being the source of all existence are called as mātṛkā.
3. Indian Philosophy pp. 305-6, by Dr. Radhakrishnan
4. Tattvārtha Bhāṣyānusariṇi P. 400–Saṃgrahābhiprāyānusari dravyāstikaṃ.
5. Āyāro 5/123 Savve Sarā niyaṭṭanti.
6. Ibid 5/124 Takka jattha na vijjai.
7. Ibid 5/125 Mai tattha na gāhiya.
8. Samayasāra, Ātamkhyāti, p. 75 gāthā 9
   Udayati na nayaśrirastameti pramānam, Kvachidapi na vidmo yāti nikṣepa cakram.
   Kimparamabhidadhmo dhāmni sarvakaśesminnanubhavamupayāte bhāti na dvaita meva.
9. Ayaro 5/127 Se na dīhe, na hasse, na vaṭṭe, na tanse, na cauranse, na parimaṇḍale.
10. Ibid 5/128 Na kinhe, na nile, na lohie, na halidde, na sukkile
11. Samayasarā gāthā 50
    Jīvassa natthi vaṇṇo ṇavi gandho ṇavi raso ṇavi ya phāso ṇavi rūvaṃ na sarīraṃ ṇavi saṃṭhānaṃ na saṃhananaṃ
12. Kaṭha Upaniṣad 1/3/15 Aśabdam aśparsam arūpam avyayam

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

tathā arasaṃ nityaṃ agandhavac ca yat anady anantam mahataḥ paraṃ dhruvaṃ nicayya tan mṛtyu-mukhāt pramuchate

13. Ācārāṅga 3/74 Je egaṃ jānai se savvaṃ jānai, je savvaṃ jānai, se egaṃ jānai.
14. Tattvārth Bhāṣyanusariṇi tīkā (VI) pp. 317-18 dhrauvyārtha-pratipattayestiśabda prakṣepaḥ.
15. Jain Darśan aur Anekānta p. 29–Nirpekṣa Satya pancha astikāya haiṃ. inka astitva na to hamari chetanā meṃ hai aur na eka dūsare ki tulanā meṃ udabhūta hai Kintu svatantra hai.
16. Jain Darśan aur Anekānta p. 3–Baddhajīvā ka astitva sāpekṣa satya hai aur mukta jīva kā astitva nirpekṣa hai : ...paratantra acetan padārtha sāpekṣa satya hai our svatantra acetana padārtha nirpekṣa satya hai.
17. Even though origination and destruction, both are paryāya yet *Ācārya Umāsvāti* includes only destruction under *paryāyāstika* perhaps he has the concept that all change involves destruction of the earlier mode and therefore he has included only destruction under *paryāyāstika*.
18. Brahama Sūtra 1/2

❑❑❑

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्रात्य-दर्शन

समणी मंगलप्रज्ञा

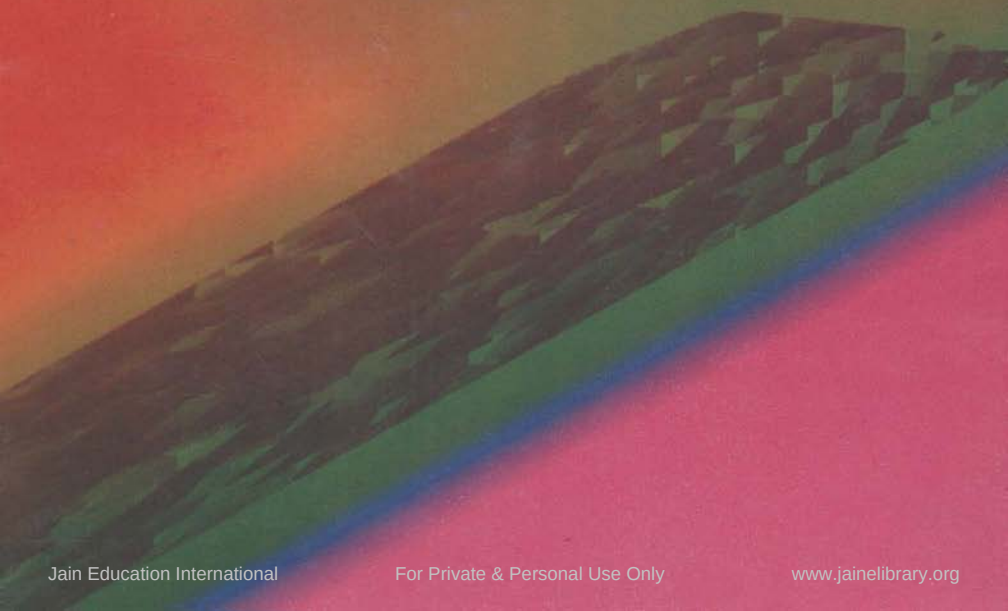

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org